श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग

श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग

लेखक :

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज

अनुवादिका :

(मूल बंगला से)

कु० ऊर्मिला शर्मा, एम. ए.

शोधच्छात्रा, संस्कृत विभाग,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,

वाराणसी–५

भारतीय विद्या प्रकाशन

प्रकाशक
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बा० १०८ कचौड़ी गली,
वाराणसी

प्रथम संस्करण
सितम्बर, १९६७ ई०
मूल्य १०.००

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
बी० २०/४४ भेलूपुर वाराणसी-१

जिनकी प्रेरणा से

भगवत्तत्त्व-चिन्ता के सहायक रूप से

श्रीकृष्ण-प्रसंग

का

अवतरण हुआ था

आज उन्हीं तपःसिद्ध तीर्थस्वामी

महात्मा प्रेमानन्दजी के

पुण्य-स्मृति-दिवस में

श्रद्धाञ्जलि-स्वरूप

उन्हीं के प्रति इसका उत्सर्ग

करता हूँ

२ मई, १९६७ **—गोपीनाथ**

(मूल बंगला संस्करण से उद्धृत)

प्राक्कथन

प्रायः बीस वर्ष से कुछ अधिक समय बीत चुका है। मैं तब काशी के सिगरा-स्थित अपने मकान में, गुरूपदिष्ट किसी विशेष साधन-कर्म में कुछ दिन के लिए नियुक्त था। उसे महानिशा काल में करना होता था। तब परम श्रद्धेय स्वामी स्व० प्रेमानन्द जी महाराज कुछ दिन के लिए काशी में विश्राम कर रहे थे। वे लक्ष्मीकुण्ड पर एक भक्त के गृहोद्यान में रहते थे। वे वास्तव में ही एक असाधारण महापुरुष थे, इसे उनके भक्त-जनों के अतिरिक्त भी सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति—प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। सौभाग्यवशतः उनके कुछ दिन पहले से ही उनके साथ मेरा विशेष परिचय व घनिष्ठता संघटित हुई थी। वे दया करके कभी-कभी मेरे पास आते थे, और मैं भी कभी-कभी उनके पास जाता था। न जाने क्यों किसी अचिन्त्य कारण-सूत्र से वे मुझे बहुत ही स्नेह करते थे। उनमें कभी कोई साम्प्रदायिकता व सङ्कीर्ण भाव नहीं देखने में आया। अवश्य ही, यद्यपि सभी भावों को लेकर वे स्वच्छन्द खेल पाते थे, तथापि अपने अध्यात्म जीवन में उन्होंने श्रीकृष्ण-भाव को ही विशेष रूप से अपना आदर्श माना था।

प्रसङ्गतः एक दिन कुछ समय के लिए उनके अनुरोध से श्रीकृष्ण-तत्त्व के विषय में उनके साथ मेरी कुछ विचार-चर्चा हुई। इस आलोचना के फलस्वरूप उनके चित्त में गहन व व्यापक जिज्ञासा का उदय हुआ, जिसकी निवृत्ति एक दिन की आलोचना से सम्भव न थी। उन्होंने प्रस्ताव किया कि मुझे असुविधा न हो तो यथासम्भव प्रतिदिन, उनके नित्य मनन के लिए कुछ-कुछ श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग मैं लिखवा दिया करूँ। मेरे सानन्द सम्मति प्रकट करने पर उनके निर्देश के अनुसार उनका एक प्रिय सेवक व भक्त श्रीमान् सदानन्द ब्रह्मचारी, प्रतिदिन, मेरे महानिशा की क्रिया आरम्भ करने से पहले, रात्रि के नौ-दस बजे के लगभग मेरे

पास उपस्थित हो जाता था। मैं उसे कुछ-कुछ प्रसङ्ग लिखवा देता था। समय की सुविधा के अनुसार किसी दिन कम किसी दिन कुछ अधिक समय लिखने का काम चलता। अवश्य ही कदाचित् किसी दिन प्रतिबन्धक होने पर वह कुछ समय के लिए नहीं भी हो पाता था।

सदानन्द धीर, स्थिर व सुलेखक है। इसके अतिरिक्त उसकी सुनकर लिखने की क्षमता भी असाधारण है। इससे मुझे बड़ी सुविधा रही। मैं एकासन से बैठकर एकाग्र चित्त से जो कुछ बोलता जाता था, वह उसे बिना रुके अत्यन्त द्रुत गति से लिखता जाता था प्रकरण समाप्त होने पर वह उसे पढ़कर सुनाता था। किसी स्थान पर संशोधन या परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होने पर वह किया जाता था।

स्वामी जी प्रतिदिन उसे प्राप्त करके एक पृथक् पुस्तिका में अपने हाथ से उसकी एक प्रतिलिपि अपने व्यवहार के लिए बनाते थे। इस प्रतिलिपि को वे नियम से श्रद्धा-सहित पढ़ते व उस पर विशेष रूप से मनन करते थे। वस्तुतः ये प्रसङ्ग स्वामी जी के intensive study (गहन अध्ययन) के विषय थे। श्रद्धेय स्वामी जी अपनी उन पुस्तिकाओं को अपनी साधना की सङ्गी जैसा समझते थे एवं उन्हें एक गेरुए झोले में बहुत सँभाल कर रखते थे। स्वामी जी इन पुस्तिकाओं को कितनी बार और कितनी चिन्ताशीलता के साथ पढ़ते थे यह उसमें बनाये हुए कई प्रकार के रंगीन पेन्सिल-चिन्हों द्वारा तथा marginal notes (पार्श्व-टिप्पणी) के सङ्कलन की चेष्टा से प्रतीत होता है।

इस प्रसङ्ग के लिखे जाने का समय १९४४ के अक्तूबर से १९४५ के अगस्त तक समझा जा सकता है। यह ऐतिहासिक अथवा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया। वे श्रीकृष्ण को 'स्वयं भगवान्' मानते थे, एवं मैं भी वैसा ही समझता हूँ। यही श्रीकृष्ण का 'परम भाव' है। किन्तु मनुष्य-देह धारण करके वे किसी समय पृथ्वी पर प्रकट हुए थे—यह ऐतिहासिक आलोचना का विषय है। किसी-किसी वैष्णव आगम-ग्रन्थ में ऐसा लिखा है कि पुरुषोत्तम की तीन प्रकार की लीला

है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक व व्यावहारिक। पारमार्थिक लीला होती है, निरन्तर अक्षर ब्रह्म के भीतर, प्रातिभासिक लीला का क्षेत्र भक्त के हृदय में है, और व्यावहारिक लीला होती है हमारे इसी धरा-धाम में। उनकी यह पार्थिव लीला ऐतिहासिक आलोचना का विषय है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि तीनों लीलाओं में परस्पर सम्बन्ध नहीं है, ऐसी बात नहीं।

'स्वयं भगवान्' का मनन करने की अनेक प्रणालियाँ व दिशायें है। प्राचीन व मध्य युग के भागवत-जनों ने उनका परिचय दिया है। इस प्रसंग में अति सामान्य कुछ-एक सूत्रों का ही अवलम्बन किया गया है, एवं समझने के लिए विभिन्न दिशाओं से दृष्टि डालने की चेष्टा की गयी है।

यह प्रसंग किसी विशेष वैष्णव सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से लिखित न होने पर भी किसी-किसी वैष्णव-साधक-सम्प्रदाय के भाव इसमें अवश्य हैं। यहाँ तक कि अवैष्णव दृष्टिकोण भी इससे अपरिचित नहीं है। जिनके व्यक्तिगत मनन के लिए इसका सङ्कलन हुआ था वे किसी विशेष सम्प्रदाय के अवलम्बी न होने पर भी सभी सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को समान श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। कहना न होगा, उन्हीं के भाव से भावित होकर मुझे लिखना पड़ा था।

ये प्रसङ्ग जब लिखे गये तब यह कल्पना मुझे व स्वामी जी को भी बिल्कुल नहीं थी कि बाद में कभी ये प्रकाशित होंगे। स्वामी जी जब तक रहे तब तक ये पुस्तिकायें उनकी साधना की नित्यसङ्गी रूप से साथ-साथ रहती थीं। सन् १९५९ में उनका देहावसान होने के पश्चात् ये उनकी भक्तमण्डली द्वारा यत्न-पूर्वक सुरक्षित कर दी गयीं। किन्तु सुरक्षित होने पर भी इनका भविष्य अनिश्चित समझ कर स्वामीजी के परमभक्त व मेरे अपार स्नेहभाजन स्वर्गीय डॉक्टर शशिभूषण दासगुप्त ने एक दिन ये सब पुस्तिकायें मुझे सौंप देने की इच्छा प्रकट की। समय

की स्थिति के अनुसार कुछ दिन बाद मैंने भी इसे उचित समझा। तदनुसार श्रीमान् सदानन्द इन पुस्तिकाओं के सहित स्वामीजी का गेरुआ झोला मुझे दे गये। सदानन्द के अपने हाथ के लिखे कागज भी मेरे पास थे। एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक ये मेरे पास आकर भी पड़े ही रहे।

इन प्रसङ्गों के प्रकाशन के लिए कभी-कभी मेरी इच्छा होती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि रुचि-विशेष होने पर किसी-किसी को ये अच्छे लग सकते हैं, किन्तु इच्छा होने पर भी वह कार्यान्वित नहीं हुई। इसी बीच श्रीमान् सदानन्द ने स्वामीजी के 'यज्ञ' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् मेरे पास इच्छा प्रकट की कि 'श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग' प्रकाशित हो जाय तो अच्छा हो, एवं यह भी कहा कि वे स्वयं ही प्रकाशन का भार लेंगे, एवं ग्रन्थ मेरे ही पास काशी में मुद्रित होगा। ये लोग स्वामीजी के प्रिय थे, अतः उनके भक्तों द्वारा भी ये सम्भवतः सादर गृहीत होंगे। मैंने भी सोचा कि इतने दिनों के परिश्रम के फल का उपेक्षित होकर नष्ट हो जाने की अपेक्षा प्रकाशित होना ही युक्तिसङ्गत है। इसीलिए, प्रकाशन के लिए न लिखे गये होने पर भी, इनके प्रकाशनार्थ मैंने अनुमति दे दी।

कहना न होगा कि यह ग्रन्थ स्वतः पूर्ण होने पर भी एक प्रकार से असम्पूर्ण है। क्योंकि किसी विषय पर विशद आलोचना बाद में की जायेगी—कहा होने पर भी, करने का अवसर नहीं आया है। एवं ऐसा लगता है कि किसी-किसी विषय में किसी-किसी स्थल पर थोड़ी पुनरुक्ति भी हुई है। अवश्य ही वह विषय के स्पष्टीकरण के लिए की गई होने से क्षन्तव्य है।

बंगला में मुद्रण आरम्भ होते ही मैंने अशेष स्नेहभाजन सुश्री प्रेमलता शर्मा से इसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने के विषय में अनुरोध किया। उन्होंने सहर्ष इस कार्य को अपनी देख-रेख में अपनी अनुजा

कु० ऊर्मिला शर्मा द्वारा आरम्भ करा दिया। भारतीय विद्या प्रकाशन के संचालक श्रीकिशोरचन्द जैन ने प्रकाशन में बहुत उत्साह दिखाया। महावीर प्रेस के संचालक श्रीबाबूलाल जैन ने मुद्रण बहुत तत्परता से किया है। फलतः मूल बंगला के प्रकाशन के पाँच मास के भीतर ही हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है। शब्दानुक्रमणिका मूल में नहीं दी जा सकी थी। इसके समावेश से अनुवाद की उपयोगिता में अवश्य वृद्धि हुई है। अनुवाद, मुद्रण और प्रकाशन की निरीक्षिका सुश्री प्रेमलता शर्मा और अनुवादिका कु० ऊर्मिला शर्मा मेरे हार्दिक आशीर्वाद की पात्री हैं। प्रकाशक और मुद्रक महोदय भी सस्नेह धन्यवाद के भाजन हैं।

२ ए, सिगरा, श्री गोपीनाथ कविराज

बाराणसी।

१४-९-६७

अनुक्रमणिका

श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग

(१)

अद्वयतत्त्व-ब्रह्म-परमात्मा-भगवान्-जीव-जगत्-शक्ति

पूर्णभाव से श्रीकृष्णतत्त्व की व्याख्या करना मेरे लिए असम्भव है। कारण, एकमात्र राधाभाव में उपनीत हो सकने पर ही श्रीकृष्णतत्त्व के परम स्वरूप का स्फुरण संभव होता है—उससे पहले ठीक-ठीक स्फूर्ति नहीं होती। जो कुछ होती है, उसमें स्वभावतः ही परिच्छिन्नता-दोष का स्पर्श रहता है।

श्रीकृष्णतत्त्व भगवत्-तत्त्व का स्वरूपभूत होकर भी उससे अतीत है; यह उपलब्धि न कर सकने पर भगवत्-तत्त्व का पूर्ण आस्वादन प्राप्त नहीं हो सकता। इस बात की सार्थकता क्रमशः आलोचना के प्रसङ्ग में स्पष्ट होगी। पूर्ण सत्ता को सब तत्त्वों का निर्यास कहने पर भी अत्युक्ति नहीं होती, एवं वह तत्त्व के रूप में प्रकाशमान होने पर भी किसी निर्दिष्ट तत्त्व के रूप में परिगणित होने के योग्य नहीं है—यही वर्तमान प्रसङ्ग में आलोचना का मुख्य विषय है।

यह पूर्ण सत्ता अखण्ड एवं अद्वैत है। इसके अनन्त प्रकाश हैं, अनन्त प्रकार के स्फुरण हैं—कला हैं, अंश हैं, अंश के भी अंश हैं, अथ च ये सब रहने पर भी यह निष्कल, निरंश, समरस,

निर्गुण, एवं निष्क्रिय है। इसमें अनन्त शक्तियों का नित्य सम्बन्ध विद्यमान है। इन सब शक्तियों के साथ पूर्ण स्वरूप का जो सम्बन्ध है, उसे अभेद कह कर समझा जा सकता है, और भेद-अभेद उभयात्मक कह कर भी समझा जा सकता है। सुतरा सम्बन्ध की भिन्नता के कारण उनकी अनन्त शक्तियां भिन्न रूप से प्रतीत होती हैं। स्वरूप एवं उसकी शक्ति जहां अभिन्न है, वहाँ उभय के परस्पर सम्बन्ध को अभेद-सम्बन्ध समझा जा सकता है। इसी प्रकार भेद-सम्बन्ध एवं भेदाभेद-सम्बन्ध में भी समझना होगा। शक्ति का वर्णन करके स्वरूप को पहचानने की चेष्टा आकाश-कुसुमचयन की भाँति उपहासास्पद है। वस्तुतः शक्ति के बिना स्वरूप का सन्धान ही नहीं मिलता, परिचय तो दूर की बात है। शक्ति की मात्रा एवं वैशिष्ट्य के अनुसार स्वरूप का वैशिष्ट्य निरूपित होता है। वस्तुतः स्वरूप का आस्वादन एवं परिज्ञान-सभी शक्ति की उपलब्धि पर निर्भर हैं। जिन शक्तियों के साथ स्वरूप का भेद-सम्बन्ध है, उन सब शक्तियों को साधारणतः जड़ शक्ति समझा जा सकता है। पक्षान्तर मे, जो शक्तियां अभिन्न रूप से स्वरूप में आश्रित हैं, उन्हें एक शब्द मे चित् शक्ति वा चैतन्य-शक्ति नाम दिया जा सकता है। विचार करके देखने पर समझ में आएगा कि स्वरूप के साथ जड़-शक्ति का कोई विरोध नहीं है। जो कुछ विरोध प्रतीत होता है, वह जड़शक्ति के साथ चैतन्य-शक्ति का विरोध है। किन्तु चैतन्य-शक्ति स्वरूप के साथ अभिन्नभावापन्न है; इसलिए चैतन्य-शक्ति के विरोध को ही कोई-कोई स्वरूप का विरोध मान लेते हैं। वस्तुतः स्वरूप के साथ यदि किसी शक्ति का विरोध ही होगा, तो वह

उस शक्ति का आश्रय कैसे हो सकता है? वास्तव में स्वरूप सब शक्तियों का आश्रय है। जिस प्रकार चैतन्य शक्ति उसमें प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार जड़-शक्ति भी उसी के आश्रित है। परस्पर भेद और व्यावृत्ति चैतन्य-शक्ति और जड़-शक्ति में अवश्य ही हैं, किन्तु शक्ति और शक्तिमान् में कोई कभी विरोध नहीं रहता। जिस चैतन्य-शक्ति की यह बात कही गई, वह स्वरूप-शक्ति के नाम से परिचित है, एवं कोई-कोई उसे अन्तरङ्गा-शक्ति भी कहते हैं। इसी शक्ति के व्यापक प्रकाश के अन्तर्गत रूप से अनन्त खण्ड-खण्ड अंश विद्यमान हैं। ये सब खण्ड अंश वस्तुतः शक्ति के ही अश हैं। तथापि स्वरूप-शक्ति स्वरूप से अभिन्न होने के कारण इन्हें स्वरूप के अंश कह कर ही परिचय देना पड़ता है। यह अशांशिभाव रहने के कारण इस स्तर को साक्षाद्भाव से अखण्ड स्वरूप-शक्ति के मण्डल के अन्तर्गत मानना नहीं चल सकता। ये अंश स्वांश और विभिन्नांश भेद से दो प्रकार के हैं। ये अणुरूप हैं, अर्थात् इन्हें चित्-परमाणु कहकर इनका परिचय दिया जा सकता है। ये भिन्नांश स्वरूप शक्ति की व्यापक सत्ता के जिस प्रदेश में विद्यमान हैं, वह इस शक्ति के अन्तरङ्ग स्वरूप के बाह्य भाग में अवस्थित है। यह प्रदेश स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत होने पर भी अखण्ड निरंश शक्तिराज्य के बहिर्भूत है एवं जड़-राज्य के भी बहिर्भूत है। इस प्रदेश का नाम है तटस्थ प्रदेश, एवं ये परमाणु-पुंज ही अनन्त जीव-कण हैं, जो चित्-शक्ति के बाह्यांश का आश्रय लेकर विद्यमान हैं।

चित्-शक्ति अत्यन्त रहस्यमयी है। इस रहस्य का यथा-शक्ति

उद्घाटन करने के लिए क्रमशः थोड़ी-थोड़ी चेष्टा की जाएगी। सम्प्रति यह जानना आवश्यक है कि चित्-शक्ति दो विभिन्न धाराओं में काम किया करती है, एक धारा में वह अविच्छिन्न प्रवाह में प्रवाहित होती है। इसमें भी अनेक अवान्तर वैचित्र्य है, जो लीला-रहस्य की आलोचना के समय समझ में आएंगे। दूसरी धारा में चित्-शक्ति बूँद-बूँद करके झरती रहती है, अर्थात् उसका क्षरण होता है। यह जो क्षरण है, यह अक्षर का क्षरण है, यह ध्यान रखना होगा। यह क्षरणशील धारा ही स्वरूप की तटस्थ-शक्ति है। इसकी आत्यन्तिक पृथक् सत्ता नहीं है; अवश्य ही आत्यन्तिक अभेद-सत्ता भी नहीं है, यह भी सत्य है। अग्नि से जैसे स्फुलिङ्ग निर्गत होते हैं, उसी प्रकार इस मूल अक्षर सत्ता से कणा-रूप में क्षरणशील अक्षर निर्गत हो रहे हैं। सृष्टि के आदि-क्षण में स्पन्दन में जो बहिर्मुख भाव उदित होता है, उसी के प्रभाव से इन अक्षर-कणाओं का निर्गम निष्पन्न हुआ करता है। साधारणतः हम इन कणाओं को ही जीव-कण वा जीवाणु मानते हैं।

यह जिस जीव-कणा की बात कही गई वह चित्कणा है। जीव का स्वरूप एवं उद्भव जानना हो तो इस प्रसंग में और भी कुछ-एक बातें ध्यान में रखनी होंगी। पूर्ण स्वरूप के साथ पूर्णरूपा अन्तरङ्गा शक्ति या चैतन्य-शक्ति वस्तुतः समरस रूप से व्याप्त रहने पर भी बहिःप्रकाश की ओर से इस व्याप्ति में एक स्वगत न्यूनाधिक भाव वर्तमान है, यह कहना ही होगा। पूर्ण स्वरूप को यदि सच्चिदानन्द कह कर ग्रहण करें एवं

उसके निरंश होने पर भी यदि उसमें उसके अचिन्त्य प्रभाववशतः सत्, चित् व आनन्द ये तीन अंश स्वीकार किए जाएँ, तब समझने की सुविधा के लिए कहा जा सकता है कि यह अन्तरङ्गा शक्ति भी स्वीय अखण्डता के रहते हुए भी तीन अंशों मे आपेक्षिक व्याप्ति-विशिष्ट है। अर्थात् उसके सदंश की अन्तरङ्गा शक्ति सर्वापेक्षा अधिक व्यापक है, चिदंश की अन्तरङ्गा शक्ति की व्याप्ति अपेक्षाकृत कम है एवं आनन्दांश की व्याप्ति और भी कम है। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि जहाँ व्याप्ति कम है, वहाँ गम्भीरता अधिक है। इस दृष्टिकोण से देखें, तो आनन्दांश की शक्ति मण्डल के बिन्दुरूप में है, चिदंश की शक्ति मण्डल के बिन्दु से लेकर परिधि पर्यन्त रेखा (अर्धव्यास) रूप में है, एवं सदंश की शक्ति मण्डल की परिधि के रूप में परिगणित हो सकती है। माया या जडशक्ति अन्तरङ्गा शक्ति के सदंश के द्वारा व्याप्त है। इसी कारण मायिक जगत् में सर्वत्र ही पूर्णस्वरूप का सत्तांश ही प्रतिफलित रूप में दिखाई पड़ता है। तटस्थ या जीवशक्ति अन्तरङ्गा शक्ति के चिदंश द्वारा व्याप्त है। अखण्ड स्वरूप शक्ति अपने स्वरूप के आनन्दांश के द्वारा परिव्याप्त है। माया शक्ति का वैभव, तटस्थ शक्ति का वैभव एवं अन्तरङ्गा शक्ति का वैभव—सर्वत्र ही अन्तरङ्गा शक्ति का अस्तित्व विद्यमान रह कर उसको कार्योन्मुख कर रहा है। माया में एवं मायिक जगत् मे केवैल सदंश कार्य करता है। जीव जगत् में सदंश सहित चिदंश कार्य करता है, एवं आनन्दमय भगवद्धाम में सच्चिद्-अंश के साथ आनन्दांश कार्य करता है। अथ च सभी अंश

सर्वात्मक होने के नाते प्रत्येक अंश में ही अपरांश का अनुप्रवेश हुए बिना नहीं रहता।

पहले जिस जीवरूपी अणु की बात कही गई है, वह चिदात्मक होने पर भी अखण्ड चित्शक्ति से पृथक् रूप में प्रतिभासमान होता है। किन्तु सृष्टि के आदि में स्फुरण के अभाववशतः पृथक् रूप में भासमानता नहीं रहती। महा-इच्छा वा स्वातन्त्र्य के उन्मेष से जब सृष्टि की सूचना होती है, तब ये सब अन्तर्लीन परमाणु पुञ्ज चैतन्य के तलदेश से बाहर की ओर ऊपर को उत्थित होते हैं। उत्थित होते ही उनमें एक वेग का संचार होता है। इस वेग के प्रभाव से सभी परमाणुओं में से जिसकी जैसी प्रकृति है वह उसकी ओर आकृष्ट होता है और बाकी परमाणु-पुञ्ज अनादिकाल की घोर सुषुप्ति में पूर्ववत् मग्न रहते हैं: जाग्रत् परमाणुओं में से जिनकी प्रकृति अन्तर्मुख है वे परमतत्त्व के नित्य वैभव में अर्थात् चिदानन्दमय राज्य में प्रविष्ट होकर नित्य आनन्दमय लीला में अपने स्वभाव के अनुरूप भाव से योगदान करते हैं। पक्षान्तर में, जिनकी प्रकृति बहिर्मुख है वे आत्मविस्मृत होकर बाह्य शक्तिरूपा माया के आकर्षण से आकृष्ट होकर माया-गर्भ में प्रवेश करते हैं। इन सब जीवों की प्रकृति बहिर्मुख कही गई, किन्तु इनके मध्य में किसी-किसी की अन्तःप्रकृति आच्छन्न एवं बहिःप्रकृति बहिरुन्मुख होती है; पुनः किसी की अन्तर्मुख प्रकृति इतनी गम्भीर सुषुप्ति में मग्न होती है कि उसके अस्तित्व का भी सन्धान नहीं मिलता। उसकी केवल बहिःप्रकृति जाग्रत् होकर सृष्टि-दशा में उसे बाहर की

ओर प्रेरित करती है। वस्तुतः जीवतत्त्व अत्यन्त जटिल है। जीव रूप चिदात्मक है, केवल इतना जानने से ही जीव के सम्बन्ध में तात्त्विक ज्ञान नहीं होता; विशेष ज्ञान आवश्यक है।

जो जीव सृष्टि के आदि में उद्बुद्ध नहीं होते उनकी प्रकृति के सम्बन्ध में कोई विचार करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि अव्यक्तावस्था में प्रकृति का विचार नहीं किया जा सकता। किन्तु जो जीव प्रबुद्ध होते हैं वे किसी न किसी प्रकृति को लेकर ही प्रबुद्ध होते हैं। इसीलिए उनकी प्रकृति-विषयक आलोचना आवश्यक है। आदिम उन्मेष के समय जीव जाग उठकर प्रकृति की प्रेरणा से जब आनन्द शक्ति की ओर अथवा सत्शक्ति की ओर धावित होता है तब से ही उसके जीवन की सूचना मिलती है। सुषुप्तावस्था में जीव का नित्यसिद्ध आत्मज्ञान आच्छन्न रहता है। जीव चिदणु होने के कारण कभी भी चित्शक्ति से पृथक्कृत नहीं होता, यह ठीक है, किन्तु अव्यक्तावस्था में चित्शक्ति की कोई क्रिया नहीं रहती। यही जीव के आत्म-चैतन्य की आच्छन्नता है। 'मैं हूँ' यह मौलिक बोध भी तब उसे नहीं रहता अर्थात् आवृत रहता है किन्तु जागने के साथ-साथ ही सर्वप्रथम स्वीय सत्ताबोध उद्रिक्त हो उठता है। तब दृक्शक्ति का स्फुरण होता है एवं स्वीय प्रकृति के अनुसार इस दृक्शक्ति की क्रिया की दिशा निरूपित होती है। इसके फलस्वरूप जैसे कि कोई-कोई आनन्दमयी ज्योतिः-स्वरूपा शक्ति के गर्भ में प्रवेश करता है, उसी प्रकार कोई-कोई आनन्दहीन अमारूपा जड़-शक्ति के गर्भ में प्रवेश करता है। किन्तु ऐसे

भी जीव हैं जिनकी प्रकृति में इन दोनों दिशाओं का आकर्षण समरूप में होने के कारण जाग्रत् अवस्था में वे किसी एक ओर आकृष्ट न होकर मध्य में अवस्थान करते हैं।

कहना न होगा, यह सुषुप्त अवस्था नहीं है। यह जो मध्यावस्था कही गई, जाग्रत् जीव उसमें अवस्थित होकर अपने नवोन्मेषित 'अहं'-त्व (मैं-पन) बोध को इस व्यापक निष्कल चिन्मय मध्यसत्ता के साथ अभिन्न समझता है। चिन्मय स्वरूपानुभूति मध्यावस्था की अनुभूति है।

यह जो प्रकृतिगत वैचित्र्य की बात कही गई, इसके अवान्तर भेद इतने अधिक हैं कि उन्हें कहने जाएं तो तत्त्वदृष्टि से श्रेणी-विभाग सम्भवपर होने पर भी अति कठिन है—प्रत्येक जीव का ही ऐसा एक न एक वैशिष्ट्य है जो केवल उसी की सम्पत्ति है और जो दूसरे जीव में नहीं रह सकती। इस वैशिष्ट्य का मूल कहां है, यह जानने की चेष्टा करने पर समझा जा सकेगा कि पूर्ण स्वरूप की अन्तरंगाशक्ति के आनन्दांश का स्वगत वैचित्र्य ही इसका मूल है। यद्यपि जीव चिदणु है, इसमें सन्देह नहीं, एवं चित्-शक्ति में किसी प्रकार का वैचित्र्य रह नहीं सकता, यह भी सत्य है, तथापि यह ध्यान रखना होगा कि चिदंश की अन्तरंगा शक्ति के साथ ओत-प्रोत रूप से आनन्दांश की अन्तरंगा शक्ति जड़ित है। आनन्दांश की शक्ति में वैचित्र्य रहने के कारण चिदंश में वैचित्र्य न रहने से भी उसमें इस वैचित्र्य की एक छाप लग जाती है। यह अत्यन्त गुप्त रूप से जीव के स्वरूप में निहित

रहती है। जीव स्वयं इसका सन्धान नहीं जानता एवं उसके जानने के लिए कोई उपाय भी नहीं है। माया-राज्य में जीव जितने दिन परिभ्रमण करता है, उतने दिन वह इसे जान नहीं सकता। मायायुक्त होकर आत्मस्वरूप-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी (ब्रह्म के साथ विविक्त भाव से हो, चाहे अविविक्त भाव से ही हो) इसे वह नहीं जान सकता। केवल-मात्र साधु-गुरु की कृपा से भगवदनुग्रह होने पर जब जीव भगवद्राज्य मे प्रवेश का अधिकार पाता है, तब उसकी यह गुप्त प्रकृति जाग उठती है। यह प्रकृति न जागने से नित्यलीला में प्रवेश ही नहीं हो सकता।

स्वरूप शक्ति का आनन्दांशगत वैचित्र्य ही मूलप्रकृतिगत वैचित्र्य है। चिदणु में यह वैचित्र्य प्रतिफलित होता है। यह वैचित्र्य ऐसा अद्भुत है कि इसी के अचिन्त्य-प्रभाववशतः सर्वत्र अनुस्यूत अविच्छिन्न अद्वैतसत्ता मानो ढंक जाती है। इसी वैचित्र्य के कारण ही आनन्दगत दो अंश ठीक एक तरह के नही होते—एवं हो भी नहीं सकते। यह वैशिष्ट्य चिदंश में प्रतिबिम्बित होने पर चित् के अव्यक्त धर्म के रूप में वर्तमान रहता है। चिदणु जिस प्रकार अनन्त हैं, उसी प्रकार ये आनन्दांश भी अनन्त हैं। एक-एक चिदणु में एक-एक अंश धर्म के रूप मे निहित है। यह आनन्द भक्ति, प्रीति या राग का ही नामान्तर है। इसकी विशेष आलोचना बाद में की जाएगी। सुतरां प्रत्येक जीवाणु में एक विशिष्ट प्रकार की प्रीति का भाव उसके स्वधर्म के रूप में नित्य निहित रहता है। यही उसकी प्रकृति या स्वभाव

है। जब तक इस स्वभाव का उन्मेष व क्रिया नहीं होगी तब तक जीव को परमानन्द-लाभ भी नहीं होगा।

यहाँ पर और एक विषय दृष्टि में रखना होगा। अणु-स्वरूप जीव निद्राभङ्ग के बाद या तो अन्तर्मुख (भीतर की ओर) रहता है, या फिर बहिर्मुख रहता है, अथवा उभय-शक्ति की साम्यमय मध्यभूमि में अवस्थान करता है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख अवस्थिति के स्थल पर जो गति है, वह स्पष्ट ही समझी जा सकती है, नित्य-धाम आनन्दमयी स्वरूपशक्ति का राज्य है, काल से अतीत है। भगवान् के परिकर-रूप में महाकाल वहाँ काल की क्रिया करते हैं। क्योंकि वहाँ केवल वर्तमान से इतर कोई काल नहींहै। अथच लीला-प्रसंग में अतीत और अनागत का भी आभास जाग उठता है। जो अणु जागने के साथ-साथ ही नित्य-धाम में प्रवेश करते हैं, वे नित्य-लीला के अन्तर्पाती होकर स्वभाव का खेल खेलते रहते हैं। किन्तु जो जागने के साथ-साथ ही जड़शक्ति माया के आकर्षण से आकृष्ट होकर बहिर्मुख (बाहर की ओर) धावित होते हैं एवं माया-गर्भ में प्रवेश करते हैं, वे काल-शक्ति के अधीन हो जाते हैं। उनके समग्र सांसारिक जीवन की धारा ही काल-शक्ति के अधीन होकर चलने की धारा है, किन्तु जो जीव जागकर किसी प्रकार की गति प्राप्त नहीं करते, वेग के आभाववशत: नित्य अथवा अनित्य किसी भी राज्य में जिनका प्रवेश नहीं होता, जिन्हें मध्य भूमि पर विराट् चैतन्य स्वरूप में एक प्रकार के अभेद-ज्ञान में स्थिति प्राप्त होती है, वे लोग निर्विशेष, निष्क्रिय, निराकार स्वस्वरूप मे प्रतिष्ठित रहते हैं। जब तक इस अवस्था से अन्तरङ्गा शक्ति

की विशेष प्रेरणा द्वारा वे लोग उत्थित न हो पायेंगे एवं उत्थित होकर भगवान् के परम धाम में प्रवेश न कर पायेंगे, तब तक उनके लिए यही परम स्थिति है। मध्यभूमि में कोई वैचित्र्य नहीं है। इसलिए यह भूमि प्रशान्त आनन्द रूप से प्रतिष्ठित रहने पर भी उसमें रस की हिल्लोल नहीं खेलती। चिन्मयधाम में एवं जड़ जगत् में दोनों वैचित्र्य ही समान रूप से विद्यमान है—उभयत्र ही आकृति एवं प्रकृतिगत अनन्त प्रकार का वैशिष्ट्य यथाक्रम से लीला व क्रियाशक्ति के वेग में उच्छलित होकर उठ रहा है। भेद केवल यह है कि नित्य धाम की लीला में स्फूर्ति होती है, एवं आनन्द के साथ दुःख का मिश्रण नहीं रहता, रोग-शोक, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा पाप, व मलिनता वहाँ सदा के लिए ही अस्त हैं। कुण्ठारहित होने के कारण वह नित्य ही उज्ज्वल, विकुण्ठ या वैकुण्ठ-रूप में प्रकाशमान रहता है। विकार एवं अपूर्णता वहाँ अनुभूत नहीं होते। किन्तु अनित्य राज्य ठीक इसके विपरीत है—यह रोग, शोक, जरा, मृत्यु, पाप व मलिनता का आधार स्वरूप है। यहाँ शुद्ध आनन्द का प्रकाश नहीं है, जो है वह कर्म फल रूप से सुख-दुःख का खेल है। नित्यधाम ज्ञानालोक से आलोकित है, अनित्य राज्य आदि से अन्त तक अज्ञान के अधीन है।

•

पहले ही कहा गया है कि आनन्द जीव का स्वभाव सिद्ध धर्म है। इसलिए माया व काल के राज्य में आकर भी जीव खोई निधि के समान निरन्तर इस आनन्द का ही अन्वेषण करता रहता है। खोजता है आनन्द को, किन्तु पाता है दुःख, क्योंकि अविद्या के प्रभाव से आत्मविस्मृत जीव विपरीतगति-विशिष्ट होकर ही

भावित होता है। भगवान् के प्रति वैमुख्य ही आत्मविस्मृति का कारण है; एवं आत्मविस्मृति ही माया-राज्य में पतन का हेतु है। वस्तुतः जीव की आत्मस्मृति अक्षुण्ण रहने से माया का ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं कि वह इसे खींचकर अपनी ओर ला सके। जीव आनन्द की खोज में माया के हाट में आ पड़ा है। यहाँ छाया के सिवा काया-प्राप्ति की कोई आशा नहीं। इसीलिए जिसकी वह आनन्द-रूप में या आनन्द के उपाय-रूप में धारणा करता है वही कार्य-काल में जाकर उसको छलता है। संसार की प्रत्येक वस्तु ही इसी प्रकार जीव की प्रतारणा कर रही है। इसीलिए वह माया-मरीचिका, गन्धर्व-नगर, स्वप्न-राज्य प्रभृति कहकर संसार के प्रति वितृष्णा प्रकट करता रहता है। किन्तु वस्तुतः यह उसकी भूल है। वह पहले ही आत्मा को भुलाकर ही संसार में आया है, अब संसार को दोष देने से कैसे चलेगा? आनन्द का जो मूल स्थान है, दिव्य ज्ञान का जो एकमात्र उत्स है, नित्य धाम का जो केन्द्र स्वरूप है, उसकी ओर पीठ करने से ऐसा ही होता है। यही जीव का मायाकृत दण्ड है।

वास्तव में संसार में दुःख-भोग करना भी जीव के पक्ष मे अमङ्गल नहीं है। क्योंकि इस दुःख-भोग की अभिज्ञता से ही वह नित्यधाम में जाकर अपने प्रकृतिगत आनन्द को पहचान ले सकता है। दुःख से परिचित न होने पर आनन्द के समुद्र मे अवगाहन करके भी आनन्द का आस्वादन नहीं मिलता।

नित्य धाम से अनित्य जगत् में जीव का अवतरण होता है। पुनः अनित्य जगत् से नित्यधाम में जीव का उद्धार होता है।

ब्रह्मचक्र के अचिन्त्य आवर्तन की महिमा से सब कुछ हो सकता है एवं होता रहता है। नित्य धाम से जो अवतरण होता है, वह स्थूलत: दो प्रकार का है—

१. नित्य धाम के परमानन्द का सन्धान दुःखमग्न अनित्य-जगत् को देने के लिए। यह सन्धान अनित्य-जगत् से पाने का उपाय नहीं है, अथच यह सन्धान न पाने से अनित्य-जगत् का जीव किसके आकर्षण से आकृष्ट होकर नित्य राज्य में जाने की चेष्टा करेगा ? जिनका इस प्रकार का अवतरण होता है, उन्हें यहाँ भगवान् (अर्थात् परमात्मा) के भिन्नांश जीव कहेंगे। किन्तु ध्यान में रखना होगा कि उनके अभिन्नांश का भी अवतरण होता है। इसकी आलोचना यथास्थान की जाएगी।

२. जागतिक क्षोभ अथवा विप्लव अत्यन्त तीव्र होने पर केवल इस सामयिक उपद्रव के उपशम के लिए कभी-कभी नित्य-धाम से अनुरूप शक्ति अर्थात् इस कार्य-सम्पादन के लिए समर्थ शक्ति अवतीर्ण होती है। मायाच्छन्न जीवों में परस्पर संघर्ष होने पर जब जागतिक सत्ता संघर्ष-निवारण में समर्थ नहीं होती तब साम्यसंस्थापन के लिए नित्य धाम से शक्ति का अवतरण हुआ करता है। यहाँ आपातत: हम इस शक्ति को जीव कहकर ही ग्रहण करते हैं, किन्तु वह भगवान् के स्वांश में भी हो सकती है।

• आनन्द का स्वरूपगत वैशिष्ट्य जिस प्रकार तटस्थ भूमि के जीवाणु में उसकी प्रकृति या धर्म के रूप में निहित है, उसी प्रकार प्रत्येक अणु में ही प्रतिबिम्बित रूप में पूर्वोक्त आनन्दांश

नित्य जाग्रत् रहता है यह एक अत्यन्त गम्भीर तत्व है एवं रहस्यमय है। यह न समझने से नित्य लीला में जीव का स्थान कहाँ है, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता। यह जो नित्य धाम में प्रत्येक जीव की अवस्थिति की बात कही गई वह ही जीव की नित्यसिद्ध स्वरूपदेह के नाम से परिचित है। इसका विशेष विवरण बाद में कहेंगे।

जीव के स्वरूप-देह की बात सुनकर विस्मित होने का कोई कारण नहीं है! सच ही जीव का स्वरूप देह है। प्रत्येक जीव का ही अपना-अपना स्वरूप देह है। यही आत्मा है। यह साकार है—निराकार नहीं। आत्मा के निराकार स्वरूप की बात यहाँ आलोच्य नहीं है।

यह स्वरूप देह वस्तुतः भगवत्स्वरूप के ही अन्तर्गत है। केवल अन्तर्गत नहीं, उसी का अंश है। यह देह ही जीव की प्रकृति है। यह आनन्दात्मक है। इसका कर-चरणादि अवयव-विन्यास भी है, अथच सब एकरस है—एक विशुद्ध आनन्दतत्त्व द्वारा ही मानो यह गठित है।

गठित कहा अवश्य, किन्तु गठित नहीं है। इसका रहस्य बाद में स्पष्ट करेंगे। एक चैतन्य स्वरूप आनन्दघन वस्तु ही मानो अनन्त पृथक्-पृथक् अथच पृथक् होते हुए भी अपृथक् आकार में विद्यमान है।

यह देह आवरण से आच्छन्न है। यही लिङ्गावरण है। महाकल्प का सूत्रपात और लिङ्गावरण का प्रारम्भ समकालीन

है। कल्पका आरम्भ होने पर लिङ्गावरण के ऊपर और एक आवरण पड़ता है—वही भौतिक आवरण है। इस भौतिक शरीर को कर्मदेह कहा जाता है। यह प्रत्येक कल्प में भिन्न-भिन्न होता है। कल्प के आदि में इस देह का जन्म होता है। कल्प के अवसान में इस देह का नाश होता है। इस देह का जीवन समस्त कल्पव्यापी है। इस देह की सत्ता भी भौतिक सत्ता है। इसको आश्रय करके ही कर्म-संस्कार क्रिया करता है। जो किसी कौशल द्वारा कर्म से अतीत हो सकते हैं वे ही भौतिक आवरण से मुक्त होकर महाकल्प में प्रवेश करते हैं।

यही लिंगावरण है। यह महाकल्प के आरम्भ से ही है। लिंगभंग न होने तक ही महाकल्प है—यही हिरण्यगर्भ का जीवनकाल है। लिंगावरण से अव्याहृति पाये बिना स्वरूप-देह चेतन नहीं होता। महाकल्प का भेद करना जो है, स्वरूप-देह की उपलब्धि भी ठीक वही है। स्वरूप-देह सच्चिदानन्दमय है, किन्तु लिंग का आवरण अपसारित न होने तक जीव उसका सन्धान नहीं पा सकता। जीव जिस प्राकृतिक सृष्टि के प्रवाह मे पतित हुआ है उसका उद्देश्य है इसी आवरण का अपसारण। कर्म के स्रोत में जीव को चलना होता है। जिस जीव में जो गुण प्रधान है, उसे उसी प्रकार का कर्म (साधन) करना होता है। तब लिंग-भंग होता है। महाकल्प के अवसान में यह निष्पन्न होता है। तब सभी अपने-अपने स्वरूप-देह में अवस्थान करते हैं।

वास्तव में काल के स्रोत में विपरीत चलना होता है।

गुरुधारा की बात नहीं कह रहा हूँ। काल की धारा पकड़कर जाने से विपरीत जाना ही होगा। काल के आवर्त में जो महत्तम आवर्त नाम से लौकिक दृष्टि में विवेचित होता है, उसका भेद कर पाने से ही स्वरूप-देह का सन्धान पाने का मार्ग पकड़ा जाता है। काल का क्षुद्रतम आवर्त भेद करने पर यह सन्धान मिल जाता है।

महाकल्प ही लौकिक हिसाब से बृहत्तम आवर्त है—इसका भेद करना एवं महाप्रलय का साक्षी बनना लगभग एक ही बात है। लोकोत्तर दृष्टि में इससे भी बड़ा आवर्त है। वस्तुतः उसे भी भेद करना होगा। तब स्वरूपदेह का प्रकृत परिचय पाने का उपाय आयत्त होगा। यह अति महाप्रलय का अतिक्रमण है। प्रकृत प्रस्ताव में यही सुषुम्णा में प्रवेश है। योग व शब्द-विज्ञान की आलोचना के समय इसकी चर्चा प्रासंगिक होगी। इसीलिए यहाँ अधिक नहीं कहा गया। अब समझा जा सकेगा कि एक प्रकार से प्रत्येक का स्वरूप-देह ही भगवान् अर्थात् भगवदंश है। वही मानो बिम्ब है। एक ही महाबिम्ब मे अनन्त स्वगत भेद हैं। सबको लेकर ही एक अखण्ड भगवत्सत्ता है। यह महासृष्टि और महाप्रलय के अतीत अवस्था है। यह बिम्ब ही मानो अनन्त प्रतिबिम्ब-रूपमें जगत् में प्रतिभासमान हो रहा है। प्रत्येक बिम्ब का भगवत्-स्वरूपात्मक आत्मबिम्ब में प्रवेश ही जीव की स्वरूप-स्थिति है। केवल प्रवेश नहीं, निर्गम का भी अधिकार रहना चाहिए। यह अति दुर्लभ अवस्था है। यही योग है। कोई-कोई इसको सायुज्य नाम

देते हैं। काल की स्वाभाविक धारा का आश्रय लेकर ऊर्ध्व गति से इस अवस्था में उपनीत होना अति कठिन है। किसी-किसी महाप्रलय में कोई-कोई व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त करते हैं। हां; साधना व कृपा की धारा में काल की वञ्चना करके इस अवस्था में जाने का कौशल है।

आत्मबिम्ब लाभ न करने पर भी आत्मबिम्ब के सदृश बिम्बलाभ अपेक्षाकृत सहज है। यह मुक्त-पुरुष-मात्र का ही होता है।

स्वरूप-देह सभी जीवों का एक जैसा नहीं होता। जिसका जो स्वरूप-देह है, उसके लिए वही प्राप्य है। प्रकृति के क्रम-विकास की धारा वास्तव में इस स्वरूप-देह को अभिव्यक्त करने के लिए एक कालगत क्रिया मात्र है। स्वरूप-देह की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है।

स्वरूप-प्राप्त ये सब मुक्तपुरुष अभिनव सृष्टि में नाना स्थानों पर नाना रूप में स्थिति व सञ्चरण करते हैं। किन्तु सृष्टि के सामयिक अवसान-काल में ये सब स्वरूप विशुद्ध चिदाकाश में प्रतिष्ठित रहते हैं। सिद्धगणों में सभी अवस्थाओं में भगवत्-सेवा सभी का मुख्य कार्य है।

अब भगवत्तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ बातें कही जा रही है। पहले ही कहा गया है कि स्वरूप के साथ अनन्त शक्ति का नित्य सम्बन्ध है। कहना न होगा, यह सम्बन्ध शक्ति की व्यक्तावस्था में ही सम्भव है। जो इस अनन्त शक्ति के एकमात्र आश्रय हैं वे ही भगवान् हैं। भगवान् से (अन्य) शक्तिमान्—

सर्वशक्तिमान् और किसी को भी नहीं कहा जा सकता। सुतरा स्वरूप-शक्ति की सत्ता ही भगवत्ता है। तटस्थ-शक्ति का एवं माया-शक्ति का अधिष्ठान भी स्वरूप-शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है। जो स्वरूप-शक्ति-हीन हैं वे ही एक ओर जीव के और दूसरी ओर जगत् के अन्तर्यामी नहीं हो सकते। क्योंकि सूत्र धारण न कर पाने पर सूत्रधार नहीं बना जाता। सूत्र ही स्वरूप-शक्ति है जिसके द्वारा जीव और जगत् को ज्ञान और कर्मपथ पर प्रेरणा दी जाती है।

यह स्वरूप-शक्ति चित्कला के सिवा अपर कुछ भी नहीं है। इसमें अनन्त कलाओं का समावेश है, किन्तु अनन्त कलाओं मे भी समाधान नहीं होता। षोडशी कला में ही पूर्णता का स्वरूप स्फुट हो उठता है। सप्तदशी कला अनन्त कलाओं की प्रतीक-स्वरूपा है। यह महाशक्ति-रूप में नित्य जागरूक रहती है। कला के तारतम्य के अनुसार ही शक्ति का नित्यसिद्ध वैशिष्ट्य प्रकाशित होता है। सत्शक्ति वा सन्धिनी कला, चित्शक्ति वा संवित् कला एवं आनन्दशक्ति वा ह्लादिनी कला वस्तुतः चित्कला का ही मात्रागत क्रमोत्कर्षजनित वैशिष्ट्यमात्र है। चित्कला की उज्ज्वलता के जरा-सी क्षीण हुए बिना आत्मस्वरूप से अन्य और कुछ दिखाई नहीं देता। जीव और जगत् को देखने जाएँ तो तदनुसार चैतन्य-शक्ति का संकोच आवश्यक है। जिस प्रकार अत्यन्त तीव्र ज्योति में आँख चौंधिया जाती है, केवल ज्योति ही दिखाई देती है, तद्भिन्न दृश्य पदार्थों का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार चित्कला के अत्यन्त अधिक

मात्रा में प्रकाशित रहने से चैतन्य से भिन्न और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। जिस अवस्था में जीव और जगत् का भान तक नहीं होता, उस अवस्था में उनके नियन्त्रण का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी कारण भगवान् पूर्ण स्वरूप-शक्ति के अधिष्ठाता होने से जीव के हृदयस्थित अन्तर्यामी पुरुष-रूप में भी प्रकाशित नहीं होते, जगत् के चालक पुरुष के रूप में भी नहीं। स्वरूप-शक्ति की कुछ न्यूनता हुए बिना यह नियमन-कार्य सिद्ध नहीं हो सकता।

ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है। इसीलिए ब्रह्म निष्क्रिय व उदासीन है। ब्रह्म जीव-भाव एवं माया का अधिष्ठान मात्र है। भगवान् वे हैं, जिनमें स्वरूप-शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति है। उनमें समस्त शक्तियाँ ही आश्रित हैं—स्वरूप-शक्ति साक्षात् रूप में, अन्यान्य शक्तियाँ स्वरूप-शक्ति की मध्यस्थता में। किन्तु स्वरूप की जिस अवस्था में चित्कला पूर्ण मात्रा में अभिव्यक्त नहीं रहती वह भगवद्भाव भी नहीं है, ब्रह्मभाव भी नहीं है, वही है परमात्मभाव। सुतरां परमात्मा ही जीव और जगत् के ईश्वर हैं। साक्षात् रूप में भगवान् को जीव और जगत् का ईश्वर कहना चलता नहीं। क्योंकि भगवत्-स्वरूप पूर्ण चित्शक्तिमय होने के कारण वहाँ स्वभाव-सिद्ध रूप से जीव का कोई स्थान नहीं है एवं जड़ का भी कोई स्थान नहीं है—वह चिद्रूपा निजशक्ति के विलास से ही भरपूर है। हाँ, परमात्मा भगवान् का ही एकदेश होने के कारण जो भी कोई धर्म परमात्मा में प्रयुक्त होने योग्य है, वह भगवान् में भी आरोपित होता है।

परमात्मा मायाचक्र के अध्यक्ष हैं, जीव और माया के अधिष्ठाता हैं, दोनों के ही प्रभु हैं। योगी योग बल से चित्तवृत्ति एकाग्र करके हृदयाकाश में जिनका दर्शन पाते हैं वे ही परमात्मा अर्थात् परमात्मा के अंशभूत चैत्य पुरुष या अन्तरात्मा हैं। वे देहयन्त्र के यन्त्री हैं—वे द्रष्टा हैं अवश्य, किन्तु इनकी दृष्टि ही क्रिया है। इस दृष्टि के प्रभाव से देहयन्त्र चलता रहता है। ये असङ्ग होने के कारण देह में अभिमान-हीन हैं—अथच इन्हीं की दृष्टि से देह संचालित होता है। जीव यन्त्रारूढ़ पशु है, देहात्मबोध से बद्ध है। जीव जब देहात्मभाव का त्याग करके अन्तर्मुख होता है, तभी परमात्मा का दर्शन प्राप्त करता है—परमात्मा निर्लिप्त द्रष्टा मात्र हैं, जीव स्वयं को भी तब तद्रूप अनुभव करता है। यह जीव की मुक्तावस्था है, द्रष्टा पुरुष-रूप में स्थिति है। अन्तर्यामी पुरुष की दृष्टि ही तो सृष्टि है, उनका ज्ञान ही तो क्रिया है—इसे पुरुष मुक्त अवस्था में भी पहले अनुभव नहीं कर पाता। किन्तु पहले अनुभव न कर सकने पर भी बाद में कर सकता है। तब फिर जीव नहीं रहता—जीव में ईश्वरत्व अभिव्यक्त होता है। वह तब द्रष्टा मात्र नहीं, दृष्टि द्वारा प्रकृति का नियामक होता है, वह तब प्रकृति का स्वामी है। माया तब उसके अधीन होती है। यही योगैश्वर्य है। योगबल से प्रकृति से विविक्त होकर पहले शुद्ध द्रष्टा या निष्क्रिय चित्स्वरूप में अवस्थान होता है, उसके बाद धीरे-धीरे इस प्रकृति को आयत्त

करके क्रियाशक्ति के द्वारा उसका नियन्त्रण व ईश्वरत्व-लाभ घटित होता है। बाह्य योग के द्वारा यहाँ तक ही होता है। इसके बाद अग्रसर होना हो तो अन्य उपाय की आवश्यकता होती है।

यह जो योगलब्ध ऐश्वर्य है, यह भी वस्तुतः भगवत्ता ही है। हाँ, यह भगवत्ता का पूर्ण स्वरूप नहीं—अंश मात्र है। अंश मात्र होने से ही योगी विश्व राज्य के अधीश्वर वा मायिक जगत् के अधिष्ठाता होते हैं। जड़ साम्राज्य के सम्राट् पद पर अभिषिक्त होते हैं। यह भी चित्कला की ही महिमा है, इसमे सन्देह नहीं। किन्तु अब भी जड़ सम्बन्ध अतिक्रान्त नहीं हुआ।

किन्तु जड़ राज्य की भाँति चिदानन्दमय साम्राज्य भी है। उसका प्रभुत्व जिनमें निहित है, जो इस महान् राज्य के अधीश्वर है, जिनके अनन्त ऐश्वर्य की कणिका मात्र का अवलम्बन करके कोटि ब्रह्माण्डमय मायिक जगत् की विभूति प्रकाशित होती है, वे ही प्रकृत भगवान् हैं। चित्कला की अभिव्यक्ति अत्यन्त अधिक मात्रा में न होने से भगवान् को पाया नहीं जाता! योगी के इष्ट देव हृदय में निहित हैं, किन्तु उनको हृदय से बाहर लाना हो तो पूर्व वर्णित योग शक्ति की अपेक्षा और भी अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है। योगी दर्शन पाता है स्वप्नवत् ध्यान में, भक्त पाता है साधारण जाग्रत् भाव में। इसीलिए भक्त की अनुभूति में जो तृप्ति है, योगी की अनुभूति में उसकी आशा नहीं की जा सकती।

यह अधिक शक्ति भक्ति से प्राप्त होती है। भक्ति स्वयं ही

अपने विषय को स्फुट कर देती है। भक्ति के विषय हैं भगवान्। भक्ति के अनुशीलन के प्रभाव से भगवान् आविर्भूत होते हैं, उनको साक्षात् करने के लिए वृत्तिरोध नहीं करना पड़ता। वृत्ति की बाह्य अवस्था में भी उनको पाया जाता है, भाव का अंजन आँज लेने पर सभी इन्द्रियों द्वारा ही भगवान् का आस्वादन-लाभ किया जा सकता है। योगी को दर्शन होता है अन्तराकाश में, भक्त को दर्शन होता है बहिराकाश में। योगी ज्योतिर्मय पुरुष-रूप में हृदय में परमात्मा का दर्शन पाते हैं, किन्तु भक्त इन्द्रियग्राह्य बाह्य पुरुष की तरह बहिर्जगत् में भी भाव-संस्कृत इन्द्रियगोचर रूप में भगवान् का दर्शन प्राप्त करते हैं। भक्त प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ही भगवद्-देह की अनुभूति पाते हैं, किन्तु योगी की इष्टानुभूति उस प्रकार की नहीं होती।

भगवान् चिदानन्द द्वारा गठित जीवन्त मूर्ति हैं। इस मूर्ति का रचयिता स्वयं भक्त है।

भगवदनुभूति और परमात्मानुभूति के बीच मूलगत पार्थक्य है। स्वरूप-शक्ति का किञ्चित् उन्मेष न होने से परमात्मा की अनुभूति नहीं होती। जिस शक्ति के प्रभाव से यह अनुभूति होती है, वह यद्यपि स्वरूप-शक्ति ही है, तथापि उसमें अतिसूक्ष्म रूप में माया का आभास घिरा रहता है। परमात्मा माया के अधिष्ठाता हैं, जीव के भी अधिष्ठाता हैं; सुतरां जो शक्ति जीव व माया को नियन्त्रित करके रहती है, वही शक्ति परमात्म-साक्षात्कार के अनुकूल है। वह वस्तुतः स्वरूप-शक्ति होने पर भी चैतन्य की पूर्ण कला उसमें विकसित नहीं रहती। शास्त्रीय

परिभाषा के अनुसार कहा जा सकता है कि प्राकृतिक सत्त्वगुण जब रजस् व तमस् गुणों द्वारा अभिभूत न होकर अत्यन्त उत्कर्ष लाभ करता है, जब त्रिगुण का परिणाम-स्वरूप चित्त विशुद्ध होता है तभी यह परमात्म-दर्शन के लिए उपयोगी होता है। प्राकृतिक सत्त्वगुण का अतिक्रम किए बिना परमात्मा का दर्शन नहीं किया जाता—भले ही यह भी सत्य है कि जब तक इस सत्त्वगुण में रजोगुण की चञ्चलता व विक्षेप एवं तमोगुण का आवरण व लय विद्यमान रहता है, जब तक चित्त अपने उपादान में सत्त्वगुण की पुष्टि से प्रबलता लाभ नहीं कर पाता, तब तक समाधि और समाधि-जनित प्रज्ञा का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। शुद्ध चित्त में परमात्मा की अनुभूति होती है। इसी कारण परमात्म-दर्शन हृदय में ही होता है, क्योंकि हृदय ही चित्त के विश्राम का उपयोगी अवकाश है। किन्तु जहाँ देह नहीं है, वहाँ हृदय कहाँ? देह को आश्रय करके ही साक्षी और प्रेरयिता-रूप में परमात्मा, एवं कर्ता व भोक्ता रूप में गुणबद्ध जीवात्मा अवस्थान करते हैं। इससे समझा जा सकेगा कि प्राकृतिक पिण्ड में अवस्थित होकर ही साक्षी रूप में परमात्मा का अनुभव होता है; केवल साक्षिभाव से नहीं। प्रकृति व प्रकृति-पिण्ड के नियामक रूप में भी हृदयस्थ परमात्मा का अनुभव किया जा सकता है। कहना न होगा, यह भी साक्षि-स्वरूप स्वयं की ही अनुभूति है। किन्तु भगवद्दर्शन इस प्रकार से नहीं होता। चित्कला की पूर्ण अभिव्यक्ति न होने तक पूर्ण चित्कलामय भगवत्-सत्ता का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। स्वरूप-शक्ति का पूर्ण प्रकाश ह्लादिनी में है। ह्लादिनी के आश्रय के बिना अन्य

किसी उपाय से भगवद्‌दर्शन हो ही नहीं सकता। ह्लादिनी शक्ति का भी एक क्रम-विकास है। इस विकास के निम्नतर स्तर में यदि ह्लादिनी शक्ति का स्फुरण होता है, तब भी वस्तुतः वह ह्लादिनी शक्ति है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिए उसी अवस्था में भी भगवद्-दर्शन सम्भव है। किन्तु प्राकृतिक चित्त को शुद्ध करके उसके द्वारा भगवत्साक्षात्कार नहीं होता, हो भी नही सकता। क्योंकि भगवान् प्राकृतिक सत्त्वगुण के अगोचर है। अप्राकृत सत्त्व या विशुद्ध सत्त्व ही भगवद्‌दर्शन के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है। यह गुणबद्ध जीव का स्वायत्त नहीं है। यद्यपि जीव-स्वरूप के गम्भीरतम प्रदेश में कणारूप से अप्राकृत सत्त्व निहित है, तथापि उसको उद्रिक्त करने के लिए बाहर से अप्राकृत सत्त्व का अनुप्रवेश आवश्यक है। विशुद्ध सत्त्व ह्लादिनी शक्ति की ही वृत्ति है। सुतरां जब तक स्वयं भगवान् साक्षात् रूप से जीव में ह्लादिनी शक्ति का संचार न करें अथवा ह्लादिनी शक्ति-प्राप्त भगवद्‌भक्त कृपा-रूप में इसे जीव को अर्पण न करें, तब तक जीव का स्वकीय सत्त्वबीज अंकुरित होने का अवकाश नहीं पाता। विशुद्ध सत्त्व का क्षोभ-जनित प्रथम उन्मेष ही भाव है, जो क्रमशः परिणत होकर प्रेम का आकार धारण करता है। यह नित्य सिद्ध है; हां, साधना द्वारा हृदय में अभिव्यक्त मात्र होता है। वस्तुतः यह साधना का फल नही है। साधना के साथ भावोदय का जो कार्य-कारण-भाव देखा जाता है वह मौलिक नहीं। साधना अभिव्यञ्जक है, भाव अभिव्यङ्ग्य। इस भाव को ही साध्यभक्ति कहते हैं—यह प्रेम का अंकुर स्वरूप है। भाव के आविर्भूत होकर देह, मन इन्द्रिय

प्रभृति में अवतीर्ण होने से इन सब वस्तुओं की जो परिणति होती है। उससे ही भाव के आविर्भाव का परिचय प्राप्त होता है। भाव ही भक्ति का बीज है, प्रेम उसका फल है। प्रेम भी क्रमशः पुष्टिलाभ करके विभिन्न प्रकार के विलास में आस्वादन के विभिन्न प्रकार-वैचित्र्य प्रकट करता है। प्रेम-विलास का पूर्ण एवं परिणत स्वरूप ही राधातत्त्व है। इसका विवरण बाद मे दिया जाएगा।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जाएगा कि त्रिगुण के साथ सम्बन्ध का आभासमात्र रहने से भी भगवदनुभूति नहीं आती। भगवदनुभव के लिए चित्कला का पूर्ण आविर्भाव आवश्यक है। जहाँ चित्कला की अभिव्यक्ति पूर्ण है, वहाँ अचित् या माया का आभास रहेगा क्योंकर! इसीलिए चित्शक्ति के जितने से विकास से हृदय में परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, उससे अधिक उसका विकास न होने से हृदय के अतीत प्रदेश में भगवान् का दर्शन नहीं मिलता। चित्शक्ति की यह पूर्णता विशुद्ध ह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है एवं विशुद्ध सत्त्व में उपनीत होती है। विशुद्ध सत्त्व का परिणाम ही भक्ति है। जिन्होंने संवित् व ह्लादिनी शक्ति-समवेत-सार का 'भक्ति' कहकर निर्देश किया है, उन्होंने वस्तुतः यही बात प्रकाशित की है।

भगवान् का अनुभव करने के लिए किसी इन्द्रिय का रोध नहीं करना होता, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय की पूर्ण तृप्ति भगवद्-आस्वादन से हो जाती है। किन्तु परमात्मा का अनुभव इन्द्रियों की अन्तर्मुखी गति हुए बिना नहीं हो सकता। असली बात यह

है कि जीव अपनी भूमि का त्याग किए बिना भगवान् को देख या जान नहीं पाता। वस्तुतः भगवान् स्वयं को स्वयं ही देखते हैं, स्वयं को स्वयं ही जानते हैं; स्वयं का स्वयं ही आस्वादन भी करते हैं। यही उनकी स्वरूपशक्ति की लीला है। जीव इस शक्ति के अनुगत होकर उन्हें देख भी सकता है, जान भी सकता है, एवं अनन्त प्रकार से आस्वादन भी कर सकता है। यही भक्ति का खेल है।

भगवदनुभूति एवं परमात्मानुभूति के सम्बन्ध में संक्षेप में दो-एक बातें कही गई हैं। अब ब्रह्मानुभूति का वैशिष्ट्य कहते हैं। ब्रह्म स्वरूप-शक्तिहीन, अर्थात् केवल स्वरूपावस्था में असत् के समान हैं। अर्थात् रहने पर भी न रहने के समान हैं। वे प्रकाश-स्वरूप होने पर भी स्वप्रकाशपदवाच्य नहीं हो सकते। प्रकाश की स्वरूपभूता विमर्शरूपा शक्ति ही प्रकाश को प्रकाश-रूप में परिचित करती है। अर्थात् प्रकाश 'प्रकाश' है, इसकी उपलब्धि उसकी स्वकीय शक्ति के विमर्श द्वारा ही होती है।

स्वरूप-शक्ति की संवित् कला द्वारा ब्रह्म का यह स्वप्रकाशत्व सिद्ध होता है। जिसको ब्रह्मानुभूति कहा जाता है वही ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व है। संवित् शक्ति द्वारा ब्रह्मानुभूति सिद्ध होती है। इस अनुभूति में जीव की पृथक् सत्ता का स्पष्टतः ग्रहण नहीं होता या पृथक् रूपेण वह पकड़ी नहीं जाती। उस समय जीव स्वयं ही स्वयं को ब्रह्म से अपृथक् रूप में अनुभव करता है। यह अनुभव अखण्ड आनन्दात्मक है। यह देश-काल प्रभृति उपाधियों

से परिच्छिन्न नहीं। जो लोग विशुद्ध ज्ञानपथ के पथिक हैं वे शुद्ध संवित्-शक्ति के प्रभाव से अभेदज्ञान रूप में ब्रह्म दर्शन करते हैं।

ब्रह्मानुभूति, परमात्मानुभूति व भगवदनुभूति—तीनों अनुभूतियों को ही भली प्रकार समझना आवश्यक है। और भी स्पष्ट करके कहने की चेष्टा कर रहा हूँ। ब्रह्म निर्विशेष होने से 'ब्रह्मानुभूति' नाम से किसी पारमार्थिक अवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अचिन्त्य स्वरूप-शक्ति का ही नामान्तर है 'विशेष'। ब्रह्ममें स्वरूप-शक्ति स्वीकृत न होने से ब्रह्मानुभूति का कोई अर्थ ही नहीं रहता। क्योंकि प्रकाश को प्रकाश मानना ही स्वरूप-शक्ति का व्यापार है उसके अभाव में 'न प्रकाशः प्रकाशेत'। वस्तुतः अनुभूति-हीन चित्स्वरूप में स्थिति ही ब्रह्म है—यह वाक्य व मनकी वृत्ति के अगोचर है। स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा ब्रह्म का प्रकाश होता है। यह अपने निकट अपना प्रकाश है एवं स्वयं से ही प्रकाश है। यह शक्ति ब्रह्मस्वरूप से भिन्न नहीं। इसीलिए ब्रह्मात्मक प्रकाश को स्व-प्रकाश कहकर वर्णन किया जाता है।

दृष्टान्त रूप में एक विशाल ज्योतिः का ग्रहण करते हैं। 'ज्योतिः' से भिन्न अन्य किसी शब्द द्वारा इसे ठीक-ठीक समझा नहीं जाता, इसीलिए ज्योतिः कहा। वस्तुतः ज्योतिः भी स्वरूप का ठीक वाचक शब्द नहीं है। ऊपर, नीचे, आठों दिशाओं मे—सर्वत्र एक अखण्ड अनन्त ज्योतिः अपने आलोक में स्वयं ही देदीप्यमान है। देखने वाले से पृथक् कोई नहीं है, दृश्य भी कोई पृथक् नहीं, मानों ज्योतिः ही द्रष्टा है, ज्योति ही दृश्य है ज्योति

ही दर्शन है। स्वरूप मानों स्वयं में स्वयं ही विश्रान्त है, तरंग नहीं, क्षोभ नहीं, हिल्लोल नहीं, स्पन्दन नहीं, क्रिया-विकार नहीं, केवल एक प्रशान्त चैतन्यमय अवस्था है। निद्रा नहीं, स्वप्न नहीं, जागरण नहीं, स्वयंप्रकाश विशुद्ध चैतन्यमात्र है, यही सच्चिदानन्दमय ब्रह्मभाव है।

ब्रह्मका अनुभव संवित्‌शक्ति का प्रकाश है। इस प्रकाश में वैचित्र्य का भाव नहीं रहता। यह सत्ता, ज्ञान व आनन्द पूर्ण है किन्तु वैचित्र्यहीन है। इसमें द्रष्टा और दृश्य का परस्पर भेद भी नहीं है, दृश्य का स्वगत भेद भी नहीं। एक वैचित्र्यहीन अभिन्न सत्ता अपने आधार में स्वयं ही विद्यमान रहती है।

जब इस स्वप्रकाश ज्योतिः को केन्द्र बनाकर कोई जड़पिण्ड रचित होता है, जो इसी ज्योति के प्रकाश से प्रकाशित एवं इसी की शक्ति से शक्तिमान् होता है, तब यह ज्योतिः स्वप्रकाश रहते हुए भी पर-प्रकाशक अवस्था को प्राप्त करती है। यह ज्योतिः ही तब मूल जड़ सत्ता माया को आविष्ट करती है एवं माया के कार्यभूत पिण्ड में अवस्थित रहकर उसके ज्ञान व क्रिया की धारा को नियन्त्रित करती है। ज्योतिः स्वतः शुद्ध रहकर भी जिस शक्ति के प्रभाव से माया का दर्शन व चालना करती है--वही उसकी स्वरूप-शक्ति है। स्वरूपशक्ति ब्रह्मानुभूति के समय अन्तर्मुख थी, अब वह बहिर्मुख होकर बहिरङ्गा शक्ति माया का दर्शन करती है। अब वह 'ब्रह्मज्योतिः' पद-वाच्य नहीं है। यह परमात्मा हैं, जिनका अनुभव हृदय-प्रदेश में होता है।

संवित्शक्ति की अन्तर्मुख दृष्टि में अभेद दर्शन होता है। इसकी

बाह्य दृष्टि में माया-दर्शन होता है,— मायिक जगत् की सृष्टि होती है और मायिक सृष्टि का नियमन होता है। एक शक्ति का निमेष है, दूसरा उसका उन्मेष है। व्यवहारत: एक के बाद दूसरी का आविर्भाव होता है। किन्तु तत्त्वत: दोनों ही युगपत् विद्यमान रहते हैं। जब कोई भी वर्तमान नहीं है ऐसा समझा जाता है, जब शक्ति अन्तर्मुख भी नहीं होती, बहिर्मुख भी नहीं, तब ब्रह्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मसाक्षात्कार अथवा परमात्मकर्तृक माया-दर्शन कुछ भी नहीं रहता। जो रहता है वही ब्रह्म है—वह सत् होते हुए भी असत्कल्प है, उसका स्वप्रकाशत्व भी एक प्रकार से असिद्ध है। वही अलख है।

ब्रह्म—शून्य—जगत्, यही सृष्टि-विकास का क्रम है। ब्रह्म पूर्ण है—उसमें अभाव नहीं, शून्य का अवकाश भी नहीं। इसीलिए पूर्ण होकर भी वह अव्यक्त है। शून्य-सृष्टि के साथ-साथ ही ब्रह्म अनुभूति-गोचर हो गये—व्यक्त हुए, जैसे महाकाश में सूर्य मण्डल, ठीक उसी प्रकार। साथ-साथ ही द्रष्टा का स्फुरण हुआ। शून्य से अतीत अवस्था में द्रष्टा कहाँ? वह अभेद सत्ता है। यह शून्य हुआ हृदय; जगत् है देह। शून्य-स्थित ब्रह्म ज्योति का प्रतिबिम्ब हुआ परमात्मा; देह के मध्य हृदय में परमात्मा का दर्शन होता है। तब देह रहता है पर अभिमान नहीं रहता, 'देह है' ऐसा बोध नहीं रहता। क्योंकि देह-बोध ही परमात्म-दर्शन में प्रतिबन्धक है। अथ च, देह न रहने पर भी परमात्म-दर्शन नहीं हो सकता। विदेह कैवल्य में परमात्मा कहां?

किन्तु भगवद्दर्शन इस प्रकार का नहीं है। ब्रह्म-दर्शन

होता है वृत्ति निरुद्ध होने पर, परमात्मदर्शन होता है वृत्ति की एकाग्रता में, भगवद्-दर्शन होता है वृत्ति-वैचित्र्य में। प्रथम में वृत्ति का उपशम होता है। उसके बाद इस निरुद्ध दशा में महाशून्य में ज्योतिःपिण्ड के उदय की भाँति एक ज्योतिः उदित होती है। ये ही परमात्मा हैं। इसके बाद इस एक में ही, एकत्व के अविरोध में ही, अनन्त वैचित्र्य खेलने लगते हैं। यही भगवद्धाम है। तीनों ही अद्वैत हैं। प्रथम से द्वैत-निवृत्ति सिद्ध हुई। द्वितीय में अद्वैत की शक्ति की स्फूर्ति हुई। तब उसके बहिर्मुख होने के कारण इस स्फूर्ति के साथ जीव और जगत् का विकास हुआ। तृतीय में शक्ति अन्तर्मुख होने से अद्वैत के मध्य ही अनन्त वैचित्र्य के विलास की उपलब्धि हो रही है। जागतिक अवस्था के दृष्टान्त में कह सकते हैं—ब्रह्मदर्शन सुषुप्तिवत् है, परमात्म-दर्शन स्वप्नवत् एवं भगवद्दर्शन जाग्रद्वत् है।

और एक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। ब्रह्म में जगत् का उदय है, ब्रह्म में ही जगत् की अवस्थिति है और ब्रह्म में ही इसका अवसान भी। परमात्मा अपनी दृष्टि द्वारा जगत् के प्रत्येक व्यापार के व्यष्टि व समष्टिभाव से नियामक हैं। किन्तु भगवान् जगत् व सृष्टि से अतीत हैं। उनके साथ साक्षात् रूप से सृष्टि का कोई भी सम्बन्ध नहीं। सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म है, एवं सृष्टि का कारण हैं परमात्मा और माया। भगवान् सृष्टि से, माया से बहुत दूर हैं।

* * *

जीव जब तक माया के आवरण में आच्छन्न रहता है, जब तक उसका ज्ञान-चक्षु उन्मीलित नहीं होता, तब तक भेदज्ञान

निवृत्त नहीं होता, तब तक अद्वैत-प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। भगवत्कृपा का किञ्चित् प्रकाश होने से ही जीव अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति-लाभ करके माया के अधिकार से मुक्त होता है। माया व मायिक जगत् अब उसके भोग-नेत्र के विषय नहीं बनते। ब्रह्मानुभूति के समय एकमात्र अद्वैत ब्रह्मसत्ता ही अर्थात् आत्मसत्ता ही स्व-प्रकाश रूप में विराजती है। उसी निर्विकल्प चैतन्य में जगत्-बोध चिरकाल के लिए अस्तमित रहता है। भगवत्कृपा व चित्शक्ति का तीव्रतर संचार हो तो आत्मस्वरूप या ब्रह्म-स्वरूप चित्कला के साहचर्य के कारण परमात्मरूप में प्रकट होता है। परमात्म-भाव में स्थिर होने के पहले परमात्म-भाव का साक्षात्कार होता है। जीव तब साक्षिरूप से या मुक्त पुरुष के रूप में प्रकृति व उसकी क्रीडा का दर्शन करता है। भोक्तृभाव अब नहीं रहता। ब्रह्मज्ञान लाभ से पहले बद्धजीव जिस प्रकार जगत्-दर्शन करता था--यह उस प्रकार का दर्शन नहीं है। यह मुक्त पुरुष का दर्शन है, परमात्मा के साथ युक्त भाव में दर्शन है, प्रेक्षकवत् दर्शन है। इसके बाद परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है। जब परमात्मा की दृष्टि (जो कि क्रिया-शक्ति है) की साक्षात् उपलब्धि हो जाती है, तब जीव स्वयं ही परमात्मा है। तब उसकी दृष्टि द्वारा ही प्रकृतियन्त्र व देहयन्त्र चालित होता है। भगवत्कृपा का और भी अधिक संचार होने पर फिर मुक्त-पुरुष-भाव भी नहीं रहता, साक्षिभाव भी नहीं, पूर्ण परमात्मभाव भी नहीं। भगवद्दर्शन भी नहीं रहता। जगत् का नियन्त्रण भी नहीं रहता। द्रष्टा भी नहीं, दृश्य भी नहीं, दर्शन भी नहीं, अथ च सब ही है।

अनन्त वैचित्र्यमय, चिदानन्दमय लीला राज्य तब खुल जाता है। किन्तु जीव का उसमें प्रवेश नहीं है। माया व प्रकृति का भी उस (लीला राज्य) में संचार नहीं। अथ च 'नहीं है' यह भी कहा नहीं जा सकता।

किस प्रकार यह होता है, वही अब कहते हैं।

पहले ही कहा गया है कि भगवद्-राज्य में त्रिगुण का कोई सम्बन्ध नहीं है। सुतरां त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्यरूप जगत् का कुछ भी वहां नहीं रह सकता। इसी कारण इस धाम को प्राकृतिक जगत् के अतीत, यहाँ तक कि प्रकृति व माया से भी अतीत कहा जाता है। जीव जब तक प्रकृति के बन्धन मे मे आबद्ध रहता है तक तक इस परम धाम का कोई सन्धान नहीं पाता, यहाँ तक कि मायातीत हो जाने पर भी पा ही जायेगा इसकी कोई स्थिरता नहीं है, क्यों कि वह दीर्घकाल तक तटस्थ भूमि पर भी रह जा सकता है। मुख्य बात यह है कि जब तक जीव के अन्तःस्थित आनन्द का प्रतिबिम्ब अर्थात् ह्लादिनी शक्ति की प्रच्छन्न सत्ता उद्दीपित नहीं होती, जब तक भाव का विकास नहीं होता, तब तक ह्लादिनी शक्ति के विलास का आस्वादन करने की उसमें योग्यता नही रहती। अर्थात् तब तक वह श्रीभगवान् के लीलामण्डल में प्रवेश नहीं कर सकता।

भगवद्धाम अद्वैत चिदानन्दमय है। वहां पर अनन्त वैचित्र्य रहने पर भी सब कुछ ही एक के द्वारा अनुप्राणित है एवं मूलतः एक शक्ति से ही सबका स्फुरण होता है। वहाँ पर

भक्त और भगवान् , भगवान् का अनन्त परिवार, अनन्त प्रकार का दृश्य-समूह, सभी भावमय है। यह भाव ही स्वभाव है। इस भाव के अनुगत न होकर स्वतन्त्र रूप से जीव लीला-राज्य मे प्रवेश नहीं कर सकता। यह अनुगत-भाव ही जीव की परतन्त्रता है, यही उसका कैङ्कर्य या दास्य है।

जीव किसका अनुगमन करता है? इस प्रश्न का उत्तर एक ही वाक्य में कहें तो कह सकते हैं कि जीव स्वयं के स्वभाव का ही अनुगमन करता है। सुतरां नित्य लीला में अनुगत रूप में ही जीव की स्थिति है। यही उसका लीलानन्द-आस्वादन का एकमात्र द्वार है। इसके क्रम-विकास से किस-किस अवस्था का स्फुरण होता है, उसकी यथासमय आलोचना करेंगे।

ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—तीनों अनुभूतियों में प्रत्येक की ही एक-एक स्थिति की अवस्था है। स्थिति प्राप्त होने पर एक अनुभूति से दूसरी में उत्तीर्ण हो पाना कठिन हो जाता है। यथा ब्रह्मानुभूति के फलस्वरूप ब्रह्मस्थिति प्राप्त करने के बाद परमात्मा की अनुभूति प्राप्त होना कठिन है, उसी प्रकार पर-मात्मा की अनुभूति के फलतः परमात्मस्वरूप में स्थिति-लाभ कर लेने पर भगवदनुभूति-लाभ कठिन है। वस्तुतः भगवद-नुभूति भी अनुरूप स्थिति में पर्यवसित हो जा सकती है। जिसे पूर्णत्व की आकांक्षा है उसके लिए किसी भी स्थिति से आबद्ध होने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि प्रत्येक स्थिति को प्राप्त करके एवं उसका अतिक्रम करके ही उसे चलना होता है। नित्य लीला में जिनका वरण हुआ है वे परिपूर्ण स्थिति

लाभ करके भी उस स्थिति से आबद्ध नहीं रहते—वे तृप्त होकर भी अतृप्त हैं। नित्य मिलन के बीच भी वे नित्य विरह का अनुभव करते हैं। विरह का अनुभव करते हैं अतः उनका मिलन सार्थक नहीं है, यह भी नहीं, पक्षान्तर में लें तो उनका मिलन नित्य है अतएव उसमें विरह का उन्मेष नहीं रह सकता, यह भी नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक स्थिति ही पूर्ण स्थिति है। ब्रह्मरूप में जो वस्तु अभिन्न-सत्ता-स्वरूप है, परमात्मरूप में वही वस्तु अनन्त जीव व अनन्त जगत् की एकच्छत्र सम्राट् है। पक्षान्तर में भगवद्रूप में वही एक ही वस्तु अपने ही बीच, अर्थात् स्वीय अखण्ड अनन्त सत्ता के बीच अपने स्वरूपमय अनन्त साम्राज्य की अधीश्वर है। पुनः भगवद्रूप के मध्य वही एक ही वस्तु चिदानन्दमय अखण्ड अद्वितीय-सम्राट्-भाव के भी पार होकर अचिन्त्य माधुर्य-भाव के आस्वादन में स्वयं में स्वयं ही विभोर है। प्रत्येक स्थिति ही पूर्ण है, अथच चरम कोई भी नहीं। पुनः 'चरम नहीं है', यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिसकी जिस प्रकार की दृष्टि एवं लक्ष्य है वह तदनुरूप सत्ता में ही चरमत्व का अनुभव करके पूर्ण तृप्ति-लाभ कर लेता है। यह जो महास्थिति में भी अनन्त चलिष्णुता है, यह जो पाकर भी आशा न मिटना है—परिपूर्णतम तृप्ति में भी अतृप्ति का पुनरुदय है, यह जो भाव के मध्य में अभाव की अनुभूति है, यही नित्यानन्दमय स्वभाव का खेल है। कुछ भी नहीं है, अथच सभी कुछ है। पक्षान्तर में सभी कुछ है, अथच कुछ भी नहीं है। दोनों ही एक हैं—दोनों में कोई भी भेद नहीं है। यही अद्वय आस्वादन का निष्कर्ष है।

शक्ति व शक्तिमान् के बीच पार्थक्य यह है कि शक्ति मे संकोच व विकास ये दो अवस्थाएँ हैं। किन्तु शक्तिमान् की स्थिति में कभी भी कोई परिवर्तन नहीं होता—वह नित्य ही साक्षिरूप में अपनी शक्ति की संकोच-विकास-रूप क्रीड़ा देखते रहते हैं। किन्तु वस्तुतः यह भी चरम बात नहीं है। क्योंकि यह अपनी शक्ति की क्रीड़ा देखना भी शक्ति का ही कार्य है। वह अन्तरङ्ग शक्ति हो सकती है, किन्तु वह भी है तो शक्ति ही। सुतरां इस देखने की भी, भाव एवं अभाव, दोनों अवस्था विद्यमान हैं। जब इस देखने व न देखने का पार्थक्य लुप्त हो जाता है, अथच देखना भी रहता है न देखना भी रहता है, उन दोनों के बीच कोई भेद नहीं रहता, वही प्रकृत अद्वैत अवस्था है।

जो भी हो, इतने भीतर प्रविष्ट न होकर कुछ बाहर-बाहर से ही कुछ-एक बातें कहते हैं। मायाशक्ति एवं उसके अन्तर्गत जो सब अवान्तर शक्ति हैं उनका स्फुरण होने से ही ब्रह्माण्ड-प्रभृति सृष्टि का विस्तार आरम्भ होता है। पुनः इस समस्त शक्ति के प्रत्याहरण के साथ-साथ समग्र मायिक सृष्टि संकुचित होकर कारण में अन्तर्लीन हो जाती है। जिस समय समग्र मायिक प्रपञ्च समष्टि-रूप में उपसंहृत होता है तब जो जीवाणु-पुञ्ज माया के अन्तर्गत किसी न किसी तत्त्व को आश्रय करके, देहेन्द्रिय-युक्त होकर, कार्य व भोगपथ में विचरण कर रहे थे वे लोग अपने-अपने आश्रयभूत तत्त्व में सुप्तवत् लीन होकर रहते हैं। ये समस्त मायिक तत्त्व प्रकृति-विकृति-रूप से क्रमानुसार लीन होते-

होते चरम अवस्था में मूल प्रकृति में लीन हो जाते हैं। एक महाकल्प के बीच एक महाजीव अङ्गिरूप से मायाचक्र से निष्क्रान्त होता है। अन्यान्य जीवों में से कुछ-एक इस महाजीव के साथ अभिन्न रूप से हो, अथवा भिन्न रूप से ही हो, उसका आश्रय लेकर उसी के साथ-साथ स्थिति-लाभ करते हैं। इनकी क्रमोन्नति की धारा स्वतन्त्र है। द्वितीय महाकल्प मे पुनः पहली सृष्टि की भांति इस सृष्टि का विस्तार होता है। अनेक नवीन जीव तब अनादि सुषुप्ति से उत्थित होते हैं। प्राचीन जीवों में से अनेक जीव पुनरुद्भूत होते हैं। जो सब जीव विवेकज्ञान के प्रभाव से तटस्थ भूमि में अवस्थित होते हैं, वे पुनः मायाचक्र मे लौट आते हैं। ऊर्ध्व उत्थित होने में उपयोगी आकर्षण मिल जाने पर ऊपर उत्थित होकर भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं। जब तक वैसा अवसर नहीं आता, तब तक तटस्थ भूमि मे ही प्रतीक्षा करते हैं।

कहना न होगा, तटस्थ शक्ति का भी संकोच-प्रसार होता है। तटस्थ शक्ति की संकोच अवस्था में समस्त जीवाणु तटस्थ भूमि में अन्धकारमय अथवा आलोकमय प्रदेश में सुप्तवत् विद्यमान रहते हैं। यह एक-जातीय कैवल्य है। जब तटस्थ शक्ति का क्षोभ होता है तब ये सभी अणु उद्रिक्त होते हैं एवं अन्तर्निहित अभाव की ताड़ना से व्याकुल हो उठते हैं। पूर्ण चैतन्य परिच्छिन्न होकर ही अणु-चैतन्य का आकार धारण करता है। यह व्यापार अनादि-सिद्ध होने पर भी तात्त्विक विश्लेषण की स्पष्टता के लिए तत्त्व-बोध की दृष्टि से असंकुचित एवं संकुचित अवस्थाओं

मे एक क्रम स्वीकार करना ही होता है। चैतन्य ही आनन्द है। पूर्णावस्था में चैतन्य के साथ आनन्द का पृथग्भाव नहीं रहता एवं अपृथग्भाव भी नहीं रहता। उस समय दोनों ही एक है। किन्तु अपूर्ण अवस्था में अर्थात् जब चैतन्य अपने स्वातन्त्र्य बल से स्वयं को संकुचित करके अणुरूप धारण करता है तब चिदंश से आनन्दांश पृथक् हो जाता है। इसके फलस्वरूप अणुचैतन्य अर्थात् चिदणु में आनन्दांश का अभाव रह जाता है। यही चिदणु की चंचलता का मूल कारण है। चैतन्य के संकोच के साथ-साथ ही अचिद्रूपिणी माया बाहर से आकर उसे अपनी छाया प्रदान करती है। इसी कारण चिदणु के गर्भ मे उसके स्वरूपभूत व स्वधर्म आनन्द का प्रतिबिम्ब रहने पर भी वह माया के आवरण से अनाच्छन्न होकर रहता है। अणु में केवल अस्फुट अभाव-बोध मात्र रहता है। यही अस्पष्ट स्थिति के रूप में ही पुनः पुनः उसको आनन्द के सन्धान के लिए चालित करता है। इसी कारण क्षोभ के साथ-साथ जीव में अभावबोध जाग उठता है। वस्तुतः जड़ राज्य अर्थात् माया राज्य में भी इसी के अनुरूप व्यापार संघटित होता है। वास्तव मे मायिक जगत् का जो प्रतिक्षण परिणाम है वह भी इस सुप्त आनन्द को पुनः प्राप्त होने के लिए ही है। चिदणु के सहयोग के बिना अचिदणु इस आनन्द या साम्यावस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण अचिदणु को भी चिदणु की अपेक्षा है। पक्षान्तर में चिदणु भी अचित् के साहाय्य के बिना आनन्द-लाभ नहीं कर सकता, अतः अचिदणु की अपेक्षा रखता है। वस्तुतः आनन्द के लिए दोनों को दोनों की अपेक्षा है।

आनन्द ही पूर्णता है। बाद में हम लोग समझ पायेंगे कि चित् व अचित् दोनों की सार्थकता इस प्राप्ति में ही निहित है। क्षर, अक्षर व पुरुषोत्तम इन तीन तत्त्वों का यही रहस्य है। क्योंकि पुरुषोत्तम क्षर एवं अक्षर इन परस्पर विरुद्ध धर्मों के समन्वय हैं। पूर्ण चैतन्य, जिसका नामान्तर पूर्णानन्द है, अखण्ड सत्तास्वरूप है। यही सच्चिदानन्द है, किन्तु खण्ड सत्तात्मक अणुचैतन्य में आस्वादन भी नहीं है, बोध भी नहीं है। यह प्रसुप्त भाव की अवस्था है। इसके पश्चात् क्षोभ का उदय होने पर पूर्ण रहने पर भी अपूर्णवत् प्रतिभासमान होता है। व्यापक चैतन्य अणुचैतन्य में परिणत होता है एवं चैतन्यात्मक होने के कारण यह अणु वस्तुतः आनन्द-स्वरूप होने पर भी आनन्द के अभाव में चञ्चल होकर इतस्ततः परिभ्रमण करता है। यह अभाव-अवस्था है। इसके पश्चात् जब यह अणु प्रत्यावर्तन की ओर व्यापक के साथ मिलता है—जब बहिरङ्गा माया की छाया उसके स्वरूप से अपगत होती है तब उसका समग्र आनन्द लौट आता है। स्वयं के स्वरूपभूत एवं स्वरूप-धर्मभूत आनन्द को लौटा हुआ पाकर अणु-चैतन्य विभु के साथ योगावस्था में उसी पूर्णानन्द का आस्वादन अनेक प्रकार से प्राप्त करने में समर्थ होता है। यही स्वभाव अवस्था है।

हमने जिस शक्ति के संकोच व विकास की बात कही है वह अन्तरङ्गा व स्वरूप-शक्ति के सम्बन्ध में भी प्रयोज्य है। स्वरूप-शक्ति की संकोच-अवस्था में शक्ति स्वरूप में लीन हो जाती है। प्रसार-अवस्था में वह पुनः स्वरूप से प्रसारित होती

है। अष्टकालीन लीला-रहस्य का उद्घाटन करने जाएँ तो स्वरूप-शक्ति में भी जो संकोच व प्रसार वर्तमान है वह स्पष्ट देखा जा सकता है। स्वरूप-शक्ति के राज्य में अणुचैतन्य का प्रवेश होने पर स्वरूप-शक्ति का अनन्त विलास वस्तुतः तब अणु-चैतन्य के ही आनन्द-वर्धन में नियुक्त रहता है। यदि अणु-रूपी अंश विभुरूपी अंशी के साथ मिलित न हो तो नित्यलीला का भी आस्वादन-ग्रहण कौन करेगा? यद्यपि अणु अनुगतभाव से ही इस आस्वादन को प्राप्त होता है, तथापि यह सत्य है कि यह अनन्त लीला-विलास उसी के लिए हैं। स्वभाव में प्रवेश करना हो तो अनुगत होना ही पड़ता है। वस्तुतः भगवत्-स्वरूप व स्वरूप-शक्ति इन दोनों को आश्रय करके जो अनन्त लीला-विलास अविच्छिन्न धारा में प्रवाहित हो रहा है वह जीव के ही भोग के लिए है। अथच जीव जीव रहते हुए भोग करने का अधिकारी नहीं है। जीव की आत्म-बलि पूर्ण हुए बिना उसकी आत्म-प्रतिष्ठा पूर्ण नहीं हो सकती।

माया-शक्ति का विस्तार अनन्त ब्रह्माण्डरूप में अव्याकृत आकाश के मध्य प्रकाशित है। चित्शक्ति का विस्तार अनन्त वैकुण्ठ-रूप में चिदानन्दाकाश मे प्रकाशित होता है। अनन्त वैकुण्ठ की समष्टि महावैकुण्ठ-रूपी साम्राज्य जिस आकाश में विद्यमान है, वही चिदाकाश है। अनन्त ब्रह्माण्ड की समष्टि जिस महा-शून्य में प्रकाश पाती है, वही अव्याकृत आकाश अथवा अचिदा-काश है। दोनों के बीच जो साम्यरूपा शुद्धा शक्ति विराज रही है, उसी का नाम है विरजा नदी। इसी कारण जीव को

भगवद्धाम में जाना हो तो पिण्ड से ब्रह्माण्ड में, ब्रह्माण्ड से उत्तीर्ण होकर विरजा में अवगाहन करके यहाँ से उत्थित होकर चिदाकाश-स्थित भगवद्राज्य में प्रवेश करना होता है। प्राकृत शरीर और इन्द्रिय प्रभृति को लेकर भगवद्धाम में प्रवेश नहीं किया जा सकता। इसी कारण पहले स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरों का सदा के लिए विसर्जन करके एवं विशुद्ध सत्त्वमय अप्राकृत विग्रह ग्रहण-पूर्वक भगवद्धाम में प्रवेश करना होता है। पहले हमने जो स्वरूपदेह की बात कही है, यह अप्राकृत देह वस्तुतः उसी का अन्य नाम है। इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ कहने का है, क्रमशः कहेंगे।

स्वरूप देह, भगवद्धाम प्रभृति के वर्णन के प्रसंग में अप्राकृत जगत् की बात भी कुछ-कुछ कही गई है। अप्राकृत जगत् की बात सुनकर विचलित होने का कोई कारण नहीं है। यद्यपि प्रचलित दार्शनिक शास्त्र में एवं तदनुकूल साधना में निरत साधक-श्रेणीमें अप्राकृत जगत् का कोई भी सन्धान नहीं मिलता, तथापि यह सत्य है कि सब देश व सभी कालों में किसी-किसी विशिष्ट साधक व साधकसम्प्रदाय ने अप्राकृत जगत् का सन्धान पाया है एवं किसी न किसी प्रकार से उसका आभास भी दिया है। इस प्रश्न की सम्यक् आलोचना ऐतिहासिक दृष्टि से करने का हमें कोई प्रयोजन नहीं है। इसीलिए इस विषय को अप्रासङ्गिक मान कर कोई समालोचना नहीं की गई।

२

शक्ति-धाम—लीला-भाव (क)

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। सृष्टि के आरम्भ में जब गुणत्रय की साम्यावस्था भङ्ग होती है तब क्रमशः प्रकृति से तत्त्वसमूह का आविर्भाव होता है। तत्त्वान्तर-परिणाम निष्पन्न होने पर इन सब तत्त्वों द्वारा भोगायतन देह, भोग के विषयीभूत पदार्थ, भोग के करण इन्द्रियादि एवं भोग के अधिकरण लोक-लोकान्तर रचित होते हैं। ये सब लोक, सृष्ट पदार्थ एवं देह साक्षाद्रूप से न सही, परम्परा से तो प्रकृति से ही उद्भूत हैं। गुणत्रय के सन्निवेश के तारतम्य के कारण इनमें परस्पर भेद सिद्ध होता है। भोक्ता पुरुष किये हुए कर्म के फलभोग के लिए ही देह ग्रहण करने को बाध्य होता है। सुतरां कर्मानुसार जिसको जैसा भोग प्राप्य है वैसे भोग के लिए उपयुक्त देह उसे ग्रहण करना पड़ता है। इसी कारण, अर्थात् भोग-वैचित्र्य के मूल में कर्म-वैचित्र्य वर्तमान होने से भोगमूलक प्राकृतिक जगत् का वैचित्र्य कर्म की विचित्रता से ही सम्पन्न होता है। भोक्ता पुरुष जब कर्तृत्वाभिमान के विलय के साथ-साथ स्वयं को साक्षि-रूप में अनुभव करता है, तब फिर उसको भोग की आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे उसके लिए प्राकृतिक सृष्टि की धारा अर्थात् त्रिगुण का विसदृश परिणाम समाप्त हो जाता है। परिणाम की समाप्ति कहने से परिणाम की क्रम-समाप्ति समझनी

चाहिए। क्योंकि प्रकृतिका स्वभावसिद्ध सदृश परिणाम तब भी रहता है। पुरुष द्रष्टा होकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अप्राकृत जगत् पुरुष के कर्मफल-भोग के लिए नहीं है। अप्राकृत जगत् का शुद्ध सत्त्वमय अथवा बैन्दव, एवं साक्षात् चिन्मय वा शाक्त—इन दोनों प्रकारों से वर्णन किया जाना चाहिए। बैन्दव जगत् त्रिगुणातीत व मायातीत होते हुए भी गुणमय है। क्योंकि वह विशुद्ध सत्त्वगुण द्वारा रचित है। विशुद्ध सत्त्व अत्यन्त निर्मल है, उसमें रजोगुण व तमोगुण का स्पर्श भी नहीं होता एवं हो भी नहीं सकता। यह विशुद्ध सत्त्व ही महामाया का स्वरूप बिन्दुतत्त्व है। जब विशुद्ध सत्त्व भगवदिच्छा से या युक्त महायोगी की इच्छा से परिणाम-प्राप्त होकर अनन्त दृश्य व भोग्य पदार्थ के रूप में आत्म-प्रकाश करता है, तभी विशुद्ध सत्त्वमय बैन्दव जगत् का आविर्भाव होता है। यह भी अप्राकृत जगत् है, किन्तु सर्वथा गुणातीत नहीं है। जो लोग इस जगत् में अवस्थान करते हैं, किसी भी स्तर के अधिष्ठाता ईश्वर-रूप में हों अथवा उक्त ईश्वर के सेवक या भक्त रूप में ही हों, उनका देह विशुद्ध सत्त्वमय होता है। उनके साथ माया किंवा अविद्या का कोई सम्बन्ध नहीं—वह मायिक देह नहीं, सिद्ध देह है। इस देह में कर्मफल-भोग नहीं होता, क्योंकि कर्म करना और उसके अनुरूप फल-भोग करना दोनों ही मायिक जगत् के व्यापार हैं। जो कर्म एवं माया, दोनों के ही अतीत हो गए हैं वे कर्म भी नहीं करते। एवं उसका फल-भोग भी नहीं करते। कर्म-फल-भोग होता है मायिक संसार में। किन्तु विशुद्ध सत्त्वमय जगत् कर्म व माया के अतीत है,—

इस कारण मायिक संसार के अन्तर्गत नहीं है। अप्राकृत राज्य की यही निम्न भूमि है। निम्न इसलिए कह रहे हैं कि यह त्रिगुणातीत होने पर भी गुणमय है, सर्वथा गुणातीत नहीं है। अप्राकृत राज्य की ऊर्ध्व-भूमि में यह विशुद्ध सत्त्व की क्रिया भी नहीं रहती। वह शुद्ध चिन्मय सब प्रकार से गुणातीत है। उसकी बात बाद में कहेंगे।

अप्राकृत जगत् का निम्न वा बाह्य मण्डल एवं ऊर्ध्व वा आन्तर मण्डल परस्पर संश्लिष्ट है, क्योंकि शुद्ध सत्त्व चित्शक्ति द्वारा उज्ज्वलीकृत होकर ही स्वीय परिणाम-साधन करता है। सुतरां बैन्दव जगत् एक ओर जैसे मायातीत है, दूसरी ओर उसी प्रकार चित्शक्ति का साक्षात् स्फुरणात्मक नहीं है। तथापि चित्शक्ति बिन्दु सत्ता में ओत-प्रोत-रूप से निहित है। बिन्दु स्वच्छ है, इसलिए चित्शक्ति को धारण करके उसका प्रकाश कर सकता है। वस्तुतः बिन्दु चित्शक्ति को प्रकाशित नहीं करता, चित्शक्ति ही बिन्दु के साथ संयुक्त होकर स्वयं ही ज्योतिः रूप मे प्रकाशमान होती है। चित्शक्ति के साथ बिन्दु का योग न रहने पर ज्योतिः रूप में उसका प्रकाश सम्भव नहीं होता। अत एव बैन्दव जगत् ज्योतिर्मय महामण्डल स्वरूप है, यह समझा जा सकता है। पक्षान्तर में चित्शक्ति यद्यपि बिन्दुसापेक्ष नहीं है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है, तथापि जब यह उस-उस रूप में स्फुरित होती है तब बिन्दु का आभास आवश्यक होता है, क्योंकि बिन्दु का आभास न रहने पर चित्शक्ति की बाह्य स्फूर्ति नहीं हो सकती शुद्ध जगत् का शुद्ध

सत्त्व वा बिन्दु है, एवं चित्शक्तिमय अर्थात् शाक्त जगत् का उपादान शक्ति है। इस अंश में दोनों में कुछ पार्थक्य दिखाई देता है। किन्तु शुद्ध सत्त्वमय जगत् के प्रकाश के लिए जिस प्रकार चित्शक्ति आवश्यक है, उसी प्रकार चिन्मय सत्ता के बाह्य स्फुरण के लिए भी साक्षात् रूप से न होने पर भी शुद्ध सत्त्व का आभास आवश्यक होता है।

अप्राकृत जगत् के अन्तर्मण्डल एवं बहिर्मण्डल—ये प्रकार समझने होंगे। बहिर्मण्डल में तीन प्रकोष्ठ हैं। एक मायिक जगत् की सृष्टि-स्थिति-संहार प्रभृति समस्त कृत्य-सम्पादन की योग्यता-विशिष्ट अधिकारी पुरुषों की आवास भूमि है। जो लोग आधिकारिक हैं, जिनके ऊपर मायिक जगत् का असंख्य कर्मभार विन्यस्त है, वे अप्राकृत जगत् के बहिर्मण्डल के इस प्रकोष्ठ में अवस्थान करते हैं। इसका विशेष विवरण फिर कभी दिया जाएगा। सृष्टि, सृष्ट पदार्थ का रक्षण, संहार, अनुग्रह व निग्रह—ये समस्त भगवान् के कृत्य योग्यता-सम्पन्न अधिकारि-वर्ग पर न्यस्त हैं। अधिकारि-गण में से जिसका जिस कार्य में अधिकार उसकी स्वीय शुद्ध वासना एवं स्वरूप योग्यता के अनुसार निरूपित होता है, उसको उसी कार्य में नियुक्त रहना होता है।

प्रत्येक अधिकारी को अपना धाम, सेवक, परिचारक प्रभृति असंख्य हैं। प्रत्येक का ही पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट है। ये सभी शक्तियुक्त हैं। क्योंकि महामाया के जगत् में शक्तिहीन का स्थान नहीं है। अपनी-अपनी शक्ति के साहाय्य से ये स्वीय कर्तव्य निष्पन्न किया करते हैं। यह हुई बाह्यमण्डल के ऐश्वर्य की

दिशा। उसके पश्चात् और एक प्रकोष्ठ है, जिसमें केवल माधुर्य अथवा चिदानन्द का आस्वादन ही मुख्य रूप से विद्यमान है। यह उसी महामन्दिर के अन्तर्गत भोगमन्दिर कहकर वर्णित होने योग्य है।

जो सब महापुरुष जागतिक अधिकार में वीततृष्ण हैं, जो स्वरूपानन्द का उपभोग करने के लिए स्थिर एवं शान्त भाव मे स्वयं में स्वयं समाहित हैं, वे लोग इस प्रकोष्ठ में अवस्थान करते हैं। इन सबने कृत-कृत्य होकर समस्त कर्तव्यों से अवकाश ग्रहण कर लिया है। स्वरूपानन्द का आस्वादन ही इनका एक-मात्र लक्ष्य है। बाह्यमण्डल के तृतीय प्रकोष्ठ में वे सब महापुरुष अवस्थित होते हैं, जो अधिकार व भोग दोनों से ही विरत हैं। वस्तुतः इस तृतीय प्रकोष्ठ में से ही अन्तर्मण्डल में प्रवेश होता है। हाँ, सभी का यह होगा, ऐसी बात नहीं है। मायिक जगत् मे जिस प्रकार कर्म करना और भोग का आस्वादन करना ये दो व्यापार हैं, उसी प्रकार महामाया के जगत् में भी अति विराट् रूप से कर्म करना एवं भोग का आस्वादन करना ये दोनों व्यापार वर्तमान हैं। किन्तु दोनों का पार्थक्य यह है—मायिक जगत् में कर्म या भोग के मूल में कर्तृत्वाभिमान विद्यमान है, किन्तु महामाया के जगत् में कर्म व भोग के मूल में वैसा कोई अभिमान नहीं है। मायिक जगत् का कर्ता कर्म करता है स्वार्थ के लिए अर्थात् इष्ट या सुख की प्राप्ति एवं अनिष्ट या दुःख के परिहार के लिए, किन्तु महामाया-जगत् का कर्ता, जो कर्ता होकर भी अकर्ता है एवं अकर्ता होकर भी कर्ता है, कर्म करता है परार्थ मे, अर्थात् अन्य की दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य से। महामाया के जगत्

मे अधिकारिवर्ग के बीच स्वार्थ के लिए कर्म का लेशमात्र भी विद्यमान नहीं है। अधिकारि-वर्ग सभी निःस्वार्थ हैं, परोपकारी एवं अनन्त करुणा के भाण्डार हैं। उनमें किसी में भी मलिन वासना नहीं है, क्योंकि वे लोग क्लिष्ट अज्ञान के राज्य का अतिक्रम करके आये हैं। किन्तु इसी कारण से वे कामनारहित नहीं है। उनका उद्देश्य है जगत् का कल्याण-साधन। यही निष्काम कर्म है। यही योगस्थ कर्म है। यही भगवान् के यन्त्र-रूप में कर्म-सम्पादन है। उनमें शुद्ध कामना है, क्योंकि ये अनन्त करुणा के द्वारा प्रेरित होकर भगवान् के सेवक-रूप में जगत् की दु:ख-निवृत्ति-रूप भगवत्कार्य-सम्पादन करते रहते हैं। महामाया-जगत् के कर्म एवं मायिक जगत् के कर्म के बीच पार्थक्य इसीसे समझा जा सकेगा। उसी प्रकार भोग के विषय में भी पार्थक्य है। मायिक जगत् का भोग कितना ही शुद्ध क्यों न हो, विषयानन्द के आस्वादन के सिवाय और कुछ नहीं है। किन्तु महामाया-जगत् का भोग वस्तुतः आत्म-स्वरूप का ही आस्वादन है। क्योंकि यहाँ पर विषय नहीं है। आनन्द-स्वरूप आत्मा ही तब अन्तर्मुख होकर विश्रान्त-भाव से अपने स्वरूप का आस्वादन किया करता है।

तृतीय प्रकोष्ठ में विराट् कर्म व विराट् भोग—इनमें से कुछ भी नहीं है। बहिर्मुख अवस्था में कर्म और अन्तर्मुख अवस्था मे भोग होता है। किन्तु जो सब महान् आत्माएं तृतीय प्रकोष्ठ मे विराजती हैं वे बहिर्मुख भी नहीं हैं, अन्तर्मुख भी नही। वे साक्षात् शिवभाव में प्रतिष्ठित हैं। वे लोग वस्तुतः निवृत्त हैं, क्योंकि वे परमानन्द से भी निवृत्त हैं।

ये तीन प्रकोष्ठ तक अप्राकृत जगत् के बाह्यमण्डल के अन्तर्गत हैं। इनमें से तृतीय प्रकोष्ठ तक उपनीत होने से ही समझा जा सकता है कि बैन्दव जगत् उपसंहृत होकर बिन्दुरूप में परिणत हुआ है। कहना न होगा, यहाँ भी भुवन है।

बैन्दव जगत् में जो तीन मुख्य विभाग हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। प्रत्येक विभाग के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों में असंख्य धाम विद्यमान हैं। आधिकारिक विभागों में जो धाम हैं, उनमें से प्रत्येक कमल के आकार वाला एवं चारों ओर असंख्य दल एवं कोण-विशिष्ट है। मध्य-विन्दु-रूप कर्णिका लेकर एक-एक धाम रचित होता है। धाम के जो अधिष्ठाता हैं, वे मध्यबिन्दु में आसीन रहते हैं। उनके आश्रित भक्त-परिवार, सखा एवं सेवकमण्डल अपने-अपने अधिकार, योग्यता एवं सम्बन्ध के अनुसार चारों ओर किसी न किसी दल में अवस्थित होते हैं। मण्डल के जो अधिष्ठाता हैं वे एवं उनका आश्रित वर्ग उनके अधीन किङ्कर-स्वरूप हैं। यही स्वाभाविक सम्बन्ध है। जो लोग दल का आश्रय करके रहते हैं वे सभी बिन्दु की ओर अभिमुख हैं। सभी बिन्दु को लक्ष्य करके अपना-अपना कृत्य सम्पादन किया करते हैं। इसी प्रकार जब उनकी योग्यता का विकाश क्रमशः वृद्धि पाता रहता है तब वे इस योग्यता के अनुरूप स्तर को प्राप्त होते हैं। अर्थात् क्रमशः ही मध्यबिन्दु के निकटवर्ती होते रहते हैं। यही उनकी स्वभाव-सिद्ध साधना है। इस साधना की पूर्ण परिणति होने पर आश्रित-वर्ग क्रमशः मूल आश्रय के निकटवर्ती होते-होते चरम अवस्था में उसके साथ सायुज्य प्राप्त होते हैं।

इधर जिन सब दलों पर वे अधिष्ठित थे, वे समस्त दल क्रमशः बिन्दु में लय-प्राप्त होते हैं। जब मण्डलात्मक कमल का प्रत्येक दल मध्यबिन्दु में लीन हो जाता है, तब एक बिन्दु-मात्र ही रहता है। इसके बाद यह पुष्ट बिन्दु क्रमशः ऊर्ध्व-गति को प्राप्त होता है एवं अपनी वासना के अनुरूप अवर मण्डल में स्थिति-लाभ करता है। यहां पर भी इसी प्रकार पहले बाहर से अन्तर्मुख गति एवं तदनन्तर सायुज्य लाभ होता है। जब तक अधिकारमल पूरी तरह निःशेष नहीं हो जाता तब तक इसी प्रकार से क्रमशः मलक्षय होता रहता है। इसके बाद शुद्ध भोगवासना रहने पर बाह्यमण्डल के द्वितीय विभाग में प्रवेश होता है।

एक मण्डल का भेद करके दूसरे मण्डल में यात्रा करने का यथार्थ हेतु है—पहले मण्डल के प्रति वैराग्य भाव की उत्पत्ति। यदि किसी को किसी अवस्था में पहले ही यह वैराग्य भाव उद्‌भूत होता है तो उसे इस स्तर में और अग्रसर होने की आवश्यकता नहीं रहती। वैराग्य होने पर एक मुहूर्त के लिए भी इस स्थान में अवस्थिति नहीं हो सकती। जिस भी अवस्था मे वैराग्य उदित हो उसी अवस्था से ही गति होने लगती है।

अधिकार-मण्डल के जो मूल अधिकारी हैं वे स्वतन्त्र हैं। जो इनके आश्रित हैं, वे परतन्त्र हैं अर्थात् इन मूल अधिकारी के अधीन हैं। ज्ञान व क्रियाशक्ति अभिन्न रूप में ऐश्वर्य के आकार में प्रकटित होती हैं। इनमें ज्ञान-शक्ति के आश्रित और आश्रय दोनों के बीच एवं आश्रित-वर्गों के बीच परस्पर कोई पार्थक्य नहीं है। किन्तु क्रियाशक्ति के विकास की ओर से सर्वत्र

ही क्रम-विकसित भेद लक्षित होता है। शुद्ध विद्या का उदय होना ही ज्ञानशक्ति का विकास है। उसी के प्रभाव से माया निवृत्त होती है एवं मायिक जगत् के आकर्षण से आत्मा चिरदिन के लिए अव्याहति-लाभ करता है। शुद्ध भाव में प्रविष्ट प्रत्येक आत्मा ही समान रूप से ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न है। क्योंकि वे सभी माया से अतीत एवं अविद्याहीन हैं। ज्ञानशक्ति के स्फुरण के विषय में शुद्ध जगत् वासी आत्मवर्ग के बीच परस्पर कोई वैलक्षण्य नहीं है। सभी विभु अर्थात् सर्वव्यापक हैं। 'सभी' कहने से यहाँ मायिक जगत् को ही लक्ष्य किया गया है, यह ध्यान रखना होगा। अर्थात् मायिक जगत् के सब विषयों का ज्ञान एवं मायिक जगत् की सर्वत्र व्याप्ति प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। किन्तु क्रियाशक्ति का विकास सभी में एक-जैसा नहीं है। प्रत्येक मण्डल में ही जो मण्डलेश्वर रूप से मध्य बिन्दु में समासीन हैं, उनकी क्रियाशक्ति सबसे अधिक विकसित है। अन्यान्य सभी का विकास उसकी अपेक्षा न्यून है। हाँ, उनके बीच भी परस्पर न्यूनाधिक भाव वर्तमान है। इस क्रियाशक्ति के विकास से तारतम्य के ऊपर ही आश्रय और आश्रित वर्ग का मध्यवर्ती व्यवधान निर्भर करता है। सुतरां इससे स्पष्ट समझा जा सकेगा कि जो-जो आत्मा कमल के बाह्य दल पर उपविष्ट हैं वे सर्वज्ञ व सर्वव्यापक होने पर भी क्रियाशक्ति के विषय में अत्यन्त निकृष्ट हैं। ज्यों-ज्यों इस शक्ति का विकास बढ़ता रहता है, त्यों-त्यों ये सब आत्मा बाह्य दल से अपेक्षाकृत आन्तर दल में स्थान-लाभ करते हैं। साथ ही साथ वे दल भी लीन हो जाते हैं। इसी प्रणाली के अनुसार जब सभी आत्मा क्रम-विकास के फलस्वरूप मध्यबिन्दु में उपनीत होते हैं

एवं मूल अधिकारी के साथ योग-युक्त होते हैं तब फिर राज्य अभिव्यक्त नहीं रहता। राज्य तब राजा के स्वरूप में अस्तमित हो जाता है। एक राजा ही तब अनन्त स्वांश लेकर एकाकी विराजमान होता है।

बैन्दव जगत् के आधिकारिक विभाग में सर्वत्र ही यह नियम है। भोग-विभाग में किञ्चित् पार्थक्य है। जिस कमल में चिदानन्द का भोग निष्पन्न होता है, वह पूर्वोक्त कमल के साथ अनेक विषयों में सादृश्य-सम्पन्न होने पर भी उसमें किञ्चित् वैशिष्ट्य है। किन्तु वैशिष्ट्य रहने पर भी मूलाधार एक ही प्रकार का है। क्योंकि आनन्द का विकास भी प्रत्येक आत्मा में समरूप नहीं होता। यहां भी क्रियाशक्ति के विकास के तारतम्य-मूलक ही तारतम्य लक्षित होता है। कमल के बाह्यदल में जो आत्मा उपविष्ट है उसका आनन्द भी कमल के मध्य-बिन्दु में आसीन आत्मा के आनन्द के तुल्य नहीं हो सकता। इस प्रकार सभी आत्माओं के बीच ही आनन्द का अनुभूतिगत अर्थात् अनुभूति का मात्रागत उत्कर्ष-अपकर्ष वर्तमान है। पूर्वोक्त नीति के अनुसार मध्य-बिन्दुस्थ आत्मा ही पूर्ण मात्रा में आनन्द का आस्वादन करता है। उसके साथ सान्निध्य के प्रकर्ष के अनुसार अन्यान्य आत्माओं के अनुभूत आनन्द की मात्रा नियमित होती है। वास्तविक बात यह है कि एक ही महान् आनन्द इस भोग-कमल का आश्रय लेकर आत्मप्रकाश कर रहा है। जिसका आधार जितना विकास-प्राप्त है वह उसके उतने अंश को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हाँ, यह ध्यान रखना होगा कि यह स्वभावतः पूर्णानन्द का राज्य होने के कारण प्रत्येक का आनन्द ही, मात्रागत तारतम्य रहने पर भी, पूर्णानन्द

रूप में वर्णित होने योग्य है। क्योंकि आनन्द-भवन में किसी का भी पात्र अपूर्ण नहीं रहता। हाँ, पात्र का उत्कर्ष वा अपकर्ष शक्ति के विकास के तारतम्य पर निर्भर करता है।

अधिकार-मण्डल और भोगमण्डल का प्रधान पार्थक्य यही है कि अधिकार सृष्टि-भावापन्न है एवं भोग स्थिति-भावापन्न। सृष्टि व स्थिति दोनों के परे, अर्थात् शुद्ध कर्म और शुद्ध भोग दोनों के परे, एक लय अवस्था है। जिस आत्मा का वैराग्य सम्यक् प्रकार से सिद्ध हुआ है, अर्थात् जो कर्म व भोग दोनों से ही बिरत हुआ है, एकमात्र वही इस तृतीय विभाग में स्थान प्राप्त कर सकता है। यह विभाग लय वा संहार का विभाग है। आत्मा इस अवस्था में उपनीत होने पर महामाया के राज्य के केन्द्रस्थल में प्रविष्ट होता है। शुद्ध जगत् का कर्म व भोग उसके बाहर पड़ा रहता है। यहाँ से ही चित्शक्तिमय आन्तर मण्डल अथवा लोकोत्तर ऊर्ध्व-मण्डल में प्रविष्ट होना होता है। आपाततः उस विषय में कुछ कहने का प्रयोजन नहीं है।

अप्राकृत जगत् के बाह्यमण्डल में सर्वत्र ही न्यूनाधिक आणव मल आभासरूप से वर्तमान रहता है। महामाया के राज्य से अतीत हुए बिना पूर्णत्व-लाभ नहीं होता। यद्यपि शुद्ध जगत् भी शिवमय है, यद्यपि यहाँ भी जरा और मृत्यु नहीं है एवं यह भी एक प्रकार से मुक्तिस्थान है, यद्यपि शुद्ध जगत् भी मायिक जगत् की भाँति संसार मण्डल के रूप में परिचित होने योग्य नहीं है, तथापि यह तत्त्वातीत निर्मल परमपद नहीं है। क्योंकि आत्यन्तिक शुद्धि होने पर भी यहाँ अचित् अथवा जड सत्ता सर्वथा

तिरोहित नहीं हुई है। शुद्ध जगत् ज्योतिर्मय है यह सत्य है। शुद्ध जगत् की दृश्य व भोग्य वस्तु एवं देह इन्द्रियादि सब ही ज्योतिर्मय एवं सच्चिदानन्द-स्वरूप को अनुभव करने के लिए सर्वथा उपयोगी है, यह भी सत्य है। तथापि इसको शुद्ध चिद्-भवन कहना ठीक नहीं। शुद्ध चिद्भवन में उपादान रूप से अचित्-सत्ता नहीं रह सकती। अर्थात् शाक्त जगत् का सब कुछ शुद्ध चित्शक्तिरूप उपादान से आविर्भूत है, बिन्दुरूप उपादान से नहीं। शाक्त जगत् इसी कारण लोकोत्तर एवं तत्त्वातीत है।

चिदणु शुद्ध कैवल्यावस्था में बिन्दु को आश्रय करके बिन्दु के साथ अभिन्न रूप में वर्तमान रहता है। भगवदनुग्रह के प्रभाव से जब इस ज्ञान-सुषुप्ति से आत्मा जाग उठता है तब अपने जागरण के साथ-साथ ही वह अपने देह, धाम प्रभृति द्वारा वैशिष्ट्य-सम्पन्न रूप में ही प्राप्त होता है। इस प्रकार उसका आत्म-प्रकाश न होने से वह स्वकीय शुद्ध वासना के उपयोगी विराट् कर्म एवं विराट् भोग के सम्पादन में समर्थ नहीं होता। यहाँ तक कि जो प्रकृत लयावस्था है, जो शिवत्व अथवा परा मुक्ति का पूर्वाभास है, वह भी इस ज्ञान-सुषुप्तिरूप कैवल्य से प्राप्त नहीं होता। क्योंकि इस कैवल्य अर्थात् विज्ञान कैवल्य में आत्मा का पशुभाव विनष्ट नहीं होता। किन्तु शिवकैवल्य में उसका पशुभाव बिलकुल नहीं रहता। पूर्वावस्था से द्वितीयावस्था मे उपनीत होने के लिए समग्र बैन्दव जगत् के चक्र का आवर्तन करना होता है क्योंकि अशुद्ध वासना तो दूर की बात, शुद्ध वासना लेकर भी पूर्णत्व-लाभ नहीं किया जा सकता। शुद्ध वासना की भी चरितार्थता आवश्यक है।

दीक्षा के प्रभाव से सभी अभाव निवृत्त होने पर शुद्ध वासना की पूर्ण तृप्ति स्वभावत: ही सिद्ध होती है।

बैन्दव जगत् के अन्तर्गत किसी धाम में स्थान लाभ करना हो तो दीक्षा एवं उस धाम के अधिष्ठाता की आराधना, ये दो ही उपाय हैं।

आदि सृष्टि में जब परमेश्वर सब परिपक्वमल विज्ञानाकल अणुओं को दीक्षा देकर बैन्दव देह में भूषित करते हैं तब इसके साथ-साथ ही उनके धाम-प्रभृति भी बैन्दव उपादान से रचित होकर प्रकाशित होते हैं। ये समस्त आत्मा या अणु अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उच्च अथवा निम्न स्तरों के धामों को प्राप्त होते हैं। कहना न होगा, ये सब आत्मा विद्या अथवा विद्याधिपति रूप में इन सब धामों के अधिष्ठाता होकर केन्द्र में अवस्थित होते हैं। अन्यान्य जो सब आत्मा भक्त अथवा सेवक रूप में पूर्वोक्त अधिकारि-वर्ग के आश्रित होकर धाम में प्रवेश-लाभ करते हैं उनमें से कोई दीक्षा के प्रभाव से एवं कोई आराधना द्वारा इस अवस्था को प्राप्त करते हैं। जो आराधना के प्रभाव से धाम में स्थिति-लाभ करते हैं, वे इस स्थान में आराधना के फलस्वरूप अधिकार अथवा भोग प्राप्त होकर पुन: स्वीय स्थिति में लौट आते हैं। किन्तु जो दीक्षित होकर गुरु द्वारा उक्त धाम में योजित होते हैं वे इस धाम से फिर कभी लौट कर नहीं आते। इस स्थान से अधिकार व भोग का अवसान होने पर वे निष्कल पद को प्राप्त होते हैं।

अब संक्षेप में अप्राकृत जगत् के अन्तर्मण्डल की बात कहते

व आकार जिस प्रकार अनन्त हैं उसी प्रकार गुण-क्रिया-भाव प्रभृति भी सब अनन्त हैं। इसी कारण अप्राकृत जगत् के आन्तर मण्डल वा लोकोत्तर मण्डल का स्वरूप बोधगम्य करना इतना कठिन है। महाशून्य में आसीन हुए बिना इस ऊर्ध्व मण्डल का कोई सन्धान नहीं पाया जाता। महाशून्य में प्रतिष्ठित होकर अपने स्वातन्त्र्यबल से महायोगी गण इस समस्त ऊर्ध्वमण्डल को प्रकाशित करते हैं। इनके भी प्रकारगत अनेक वैचित्र्य हैं।

बौद्धों का बुद्ध-क्षेत्र वस्तुतः इसी मण्डल का एक प्रकार-विशेष है। जैन मत में सिद्ध-शिला के बाद कोई-कोई इसका आभास प्राप्त करते हैं। सन्तगण विभिन्न द्वीप नामों से इन्हीं सब ऊर्ध्व-धामों को ही लक्ष्य करते हैं। वैष्णव गणों का वैकुण्ठ भी वस्तुतः इसी का नामान्तर है।

वर्तमान आलोचना में अन्याय सम्प्रदायानुगत चिन्ता की धारा का अनुसरण न करके आगमानुमोदित वैष्णव सिद्धान्त की धारा को ही आलोच्यरूप में ग्रहण किया जा रहा है। ये सब लोकोत्तर धाम अनन्त संख्यक हैं। गुण, आकार व शक्ति का विकास, ऐश्वर्य-माधुर्य प्रभृति भावों का प्रकर्षगत तारतम्य, प्रकृति का वैलक्षण्य—इन सब कारणों से वे अनन्त वैचित्र्यसम्पन्न हैं। ये सब संख्या आदि में अनन्त होने पर भी चतुष्पाद भगवान् की त्रिपाद-विभूति के अन्तर्गत हैं। उनकी एकपाद विभूति में अनन्त ब्रह्माण्ड संवलित प्राकृत जगत् विद्यमान है। जिसका पहले अप्राकृत जगत् कहकर वर्णन किया गया है वह वस्तुतः इस त्रिपाद-विभूति का ही नामान्तर है। किसी-किसी ने इसका निर्देश व्यापी वैकुण्ठ कह कर भी किया है।

इस व्यापी वैकुण्ठ में पृथक् रूप से अनन्त प्रकार के अनन्त धाम वर्तमान हैं। जरा, मृत्यु अथवा अन्यान्य प्राकृतिक विकार एवं माया व काल का प्रभाव उनमें से किसी पर भी नहीं है। एक प्रकार से व्यापी वैकुण्ठ और भगवद्धाम समानार्थक है, किन्तु अन्तरतम भगवत्सत्ता के सान्निध्य के तारतम्यवशत: इसमें भी स्तर वर्तमान है। ये सब वैकुण्ठ इस व्यापी वैकुण्ठ के भीतर अनन्त आकाश में नक्षत्र-पुञ्जों की भाँति अथवा असीम समुद्र के वक्षपर द्वीपमालिका की भांति शोभा पाते हैं, ये सब धाम, गुण, शक्ति, भाव, ऐश्वर्य, लीला प्रभृति के उत्कर्ष के आपेक्षिक तारतम्य के अनुसार कोई अन्तरतम भगवत्स्वरूप के अधिक निकटवर्ती है एवं कोई अल्पाधिक व्यवहित है। गोलोक व दिव्य वृन्दावन की बात अभी यहां नहीं उठायेंगे। उनकी विशेष आलोचना बाद में की जाएगी।

यह जो व्यापी वैकुण्ठ की बात कही गई इसको परव्योम या परमव्योम कह कर भी कोई-कोई निर्देश करते हैं। वैदिक साधकों का परम व्योम भी उसी का नामान्तर है। यह अक्षर एवं चिदाकाश-रूपी है।

व्यापी वैकुण्ठ के अन्तर्गत कोई-कोई धाम प्रयोजनानुसार भगवदिच्छा से भिन्न-भिन्न युगों में अंशत: पृथ्वी पर अवतीर्ण होते हैं। भगवान् अर्थात् परमात्मा के स्वांश रूप में जिस प्रकार अवतारगण भगवत्स्वरूप से अभिन्न होकर भी किञ्चित् भिन्न रूप में उसके कार्य-साधन के लिए निर्दिष्ट हैं उसी प्रकार ये सब भगवद्धाम के अभिन्न अंशों के रूप में परिगणित होकर रहते

हैं। भगवान् के स्वांश-गण जिस प्रकार प्रपञ्च में कभी-कभी अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार इन स्वांशों के निज-निज धाम भी कभी-कभी प्रपञ्च में अवतीर्ण होते हैं। अंश के अवतरण के साथ-साथ ही धाम, परिकर प्रभृति का भी अवतरण होता है। अवश्य ही यह अवतरण पूर्णभाव से भी हो सकता है एवं यह बात भगवान् के स्वांश के सम्बन्ध में जिस प्रकार सत्य है उसी प्रकार उनके स्वरूप के सम्बन्ध में भी सत्य है। क्योंकि कभी-कभी प्रपञ्च के बीच भगवान् का अवतरण होता है, एवं उसी समय उनके साथ-साथ उनका धाम भी अवतीर्ण होता है।

यह अवतरण भी पूर्ण व अपूर्ण दो प्रकार का हो सकता है। किन्तु ध्यान रखना होगा कि अंशी का हो या अंश का ही हो अवतरण होने पर भी मूल स्थान रिक्त नहीं होता। पूर्ण का अंश भी पूर्ण ही है एवं स्वरूप या अंश का पूर्णावतरण होने पर भी मूल धाम में स्वरूप व अंश पूर्ण रूप में ही वर्तमान रहता है। क्योंकि 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।' प्रापञ्चिक भूमि पर अर्थात् भूलोक पर प्रकट होकर निर्दिष्ट काल पर्यन्त वह विद्यमान रहता है। जगत् में तीर्थ महिमा इसी पर निर्भर है। पृथ्वी पर एक ओर जैसे स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों का अवतरण होता है दूसरी ओर उसी प्रकार मायातीत अप्राकृत शुद्ध धाम का भी अवतरण होता है। साधारणतः तीर्थ शब्द से दोनों प्रकार के स्थानों का निर्देश किया जाता है। किन्तु स्मरण रखना होगा, तीर्थमात्र ही धाम नहीं है। ऊर्ध्व प्राकृत लोक अथवा अप्राकृत लोक पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर उस-उस अंश अर्थात् क्षेत्र विशेष में पृथिवी के साथ अभिन्न रूप से वर्तमान रहते हैं भगवान के

अवतीर्ण होने पर भी जैसे साधारण लोग उनको प्राकृत मनुष्य ही समझते हैं, क्योंकि लौकिक दृष्टि द्वारा भगवत्स्वरूप का ग्रहण नहीं होता, उसी प्रकार ऊर्ध्व लोक के पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर इसके साथ अभिन्न रूप से वर्तमान रहने पर भी साधारण मनुष्य इन सब स्थानों का वैशिष्ट्य अथवा माहात्म्य बाह्य दृष्टि से अनुभव नहीं कर सकता। किन्तु जिनकी दृष्टि खुल गई है वे इन सब क्षेत्रों पर दृष्टिपात करने पर पार्थिव आकारों से भिन्न सब दिव्य आकारों को प्रत्यक्ष देख पाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी पर जो सब तीर्थ अथवा धाम लुप्त हो गए हैं, शुद्ध दृष्टि वाले सिद्ध व साधक वर्ग द्वारा उनका पुनरुद्धार हुआ करता है।

इसी प्रसंग में और भी एक विषय का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। यह अत्यन्त गुह्य होने पर भी इसका तत्वांश जान रखना उचित है। धाम अथवा क्षेत्र एक आधार से अन्य आधार में संचारित हो सकता है, अथवा एक आधार मे अप्रकट होकर अन्य आधार में प्रकट हो सकता है। इससे समझा जायगा कि जिस प्रकार भगवत्स्वरूप एक होने पर भी उसका अनन्त प्रकाश है, पुनः केवल प्रकाश नहीं, उसकी विलास मूर्ति भी भिन्न-भिन्न है एवं केवल विलास नहीं, उसकी स्वांशमूर्ति का भी पार्थक्य है ही, ऐसा ही उसके धाम के सम्बन्ध में समझना होगा। अर्थात् दृष्टान्त-स्वरूप नारद के द्वारका में भगवद्दर्शन की बात कही जा सकती है। नारद ने द्वारका के भीतर भगवत्-प्रासाद के अन्तर्गत प्रत्येक घर में ही श्रीकृष्ण का दर्शन पाया था। ये सब मूर्तियाँ संख्या में अनेक होने पर भी मूल में एक ही हैं एवं

ये एक के ही अनेक प्रकाश हैं। ठीक इसी प्रकार भगवद्धाम भी प्रकट अवस्था में एक रहने पर भी बहुरूप में प्रकाशमान हो सकता है।

केवल यही नहीं, भगवत्स्वरूप का जैसा विलास है एवं परमात्मा का स्वांश है—भगवद्धाम के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार विभिन्न आविर्भाव के बीच ज्ञान व शक्तिगत न्यूनता रह सकती है। इन सब विभिन्न प्रकार के प्रकाश-आविर्भाव प्रभृति के बीच नित्य व नैमित्तिक भेद भी वर्तमान है। जो नित्य है वह अवश्य ही सहज बोध्य है। उसका विवरण अनावश्यक है। किन्तु किसी विशेष-निमित्त-वशतः धाम-प्रभृति का स्थान-विशेष एवं काल-विशेष में अस्थायी प्राकट्य हो सकता है। अर्थात् साधारण किसी भी स्थान में कुछ समय के लिए श्रीवृन्दावन प्रकट हो सकते हैं। सभी धामों, उनके अंशों एवं तीर्थ आदि के सम्बन्ध में यह एक ही नियम समझना होगा। धाम के अवतरण के प्रसंग में और भी एक विषय विचार करने योग्य है। हम लोग स्थूल दृष्टि से जैसा व जितना-सा देखते हैं, वह सब समय वास्तविक उसी रूप व परिमाण में नहीं रहता। अर्थात् हम लोग बाहर लौकिक दृष्टि से जिस स्थान को वृन्दावन कहकर समझते है वह आभ्यन्तरीण वृन्दावन-धाम से संश्लिष्ट होने पर भी वस्तुतः यह धाम बाह्य वृन्दावन के सर्वथा अनुरूप नहीं है अर्थात् एक हाथ परिमित प्रदेश में सहस्र कोटि योजन परिमाण वाली वृन्दावन-भूमि प्रकट हो सकती है। पुनः वह संकुचित होकर इतनी क्षुद्रायतन हो सकती है कि जिसे बाह्य चक्षु से वृन्दावन कह कर निर्देश किया जा रहा है इसमें यथार्थ अप्राकृत वृन्दावन

शायद एक परमाणु मात्र ही है। संकोच एवं प्रसार धाम का स्वाभाविक धर्म है। वृन्दावन के यमुना तट पर जब रासोत्सव हुआ था तब अनन्त कोटि गोपियां वहाँ सम्मिलित हुई थीं। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि यह यमुना तट स्थूल दृष्टि के गोचरीभूत यमुना तट के साथ समपरिमाण नहीं है। मनुष्य का आत्मा जैसे विभु होकर भी क्षुद्र भौतिक देह में आबद्ध रहता है उसी प्रकार अनन्त व्यापी वृन्दावन क्षुद्र पार्थिव क्षेत्र में असीम होता हुआ भी मानों सीमाबद्ध रहता है। सभी धामों का यह वैशिष्ट्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

पहले जिस व्यापी वैकुण्ठ की बात कही गई है, उसके सम्बन्ध में आनुषङ्गिक रूप से और भी बहुत कुछ जानना आवश्यक है। यह व्यापी वैकुण्ठ चतुष्पाद ब्रह्म की त्रिपाद विभूति है। अर्थात् उसकी महाविभूति के तीन पाद इस व्यापी वैकुण्ठ के रूप में ही नित्य विराजमान हैं। केवल एक पाद अविद्या द्वारा आक्रान्त है। इसीलिए महाविभूति त्रिपाद व एकपाद इन दोनों की समष्टि स्वरूप है। एकपाद विभूति जिस प्रकार साकार है त्रिपाद भी उसी प्रकार साकार है। अथच प्रथम अनित्य है, द्वितीय नित्य। क्योंकि एकपाद विभूति सावयव है। अवयव-समूह के संघटन व विघटन पर उसकी उत्पत्ति व विनाश निर्भर करता है। सावयव होने से ही वह अनित्य है। वस्तुतः वह केवल सावयव ही नहीं, सोपाधिक भी है अवश्य, क्योंकि विशुद्ध ब्रह्म-चैतन्य के ऊपर अविद्या-रूप उपाधि का आरोप इस एकपाद विभूति में ही हुआ करता है

दूसरी ओर त्रिपाद विभूति साकार होने पर भी निरवयव है। वह निरुपाधिक ब्रह्म-चैतन्य स्वरूप है। वह नित्य है यह पहले ही कहा गया है। निरवयवतावशतः अवयव-समूह के संघटन-विघटन की सम्भावना न होने से त्रिपाद-विभूति में जन्म-मृत्यु का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

एकपाद विभूति स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीन विभागों में विभक्त होने के योग्य है। प्रणव के अकार, उकार व मकार को आश्रय करके एकपाद विभूति अवस्थित रहती है। त्रिपाद विभूति अर्द्धमात्रा के अन्तर्गत है। वस्तुतः समग्र त्रिपाद ही तुरीय अवस्था का द्योतक है। इसके मध्य जो पादत्रय की कल्पना की गई है वह त्रिपाद विभूति के स्वरूपगत अभेद की विरोधी नहीं है। अर्थात् पादत्रय ही स्वरूप एवं स्वरूप-शक्ति की ओर से अभिन्न होने पर भी शक्ति के विलास के तारतम्य के अनुसार तीन पृथक् पादों के रूप में कल्पित हुआ है। उनमें प्रथम पाद विद्या-रूप, द्वितीय पाद आनन्द-रूप एवं तृतीय पाद विद्या व आनन्द दोनों के अतीत है अथच उभयात्मक रूप है। महा-विभूति की ओर से यही तृतीय पाद है। त्रिपाद विभूति के ठीक मध्यस्थान अर्थात् आनन्दपाद के केन्द्र स्थान में वैकुण्ठ नगर, जो आदि-नारायण का विलास निकेतन है, प्रतिष्ठित है। अविद्या-पाद में जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड वर्तमान हैं, उसी प्रकार ऊर्ध्वतन पादत्रय में भी अनन्त कोटि वैकुण्ठ चिन्मय उज्ज्वल आलोक में विराजमान हैं। किन्तु ये सब वैकुण्ठ केवल विद्या, आनन्द प्रभृति पाद-भेदों में ही पृथक् हैं यह बात नहीं— प्रतिपाद में ही परस्पर पृथक् हैं अविद्यापाद में भी वैकुण्ठ है।

इसका विवरण बाद में कहा जायेगा। हाँ, वह मूल वैकुण्ठ का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। त्रिपाद विभूति में नित्य एवं मुक्त इन दो प्रकार के पुरुषों का अधिष्ठान होता है। नित्य गण अनादि काल से ही माया व अविद्या द्वारा अस्पृष्ट हैं। उनकी अप्राकृत देह अनादि-सिद्ध है। मुक्तगण पहले अविद्यापाद में अवस्थित रहने पर भी साधना के उत्कर्ष, भगवद्भक्ति के विकास एवं लोकोत्तर भगवत्करुणा के प्रभाव से मायामुक्त होकर अप्राकृत-विग्रह-ग्रहण-पूर्वक भक्तरूप में भगवद्धाम में विराजित होते हैं। नित्य व मुक्त दोनों प्रकार के पुरुष ही भगवद्भक्त हैं। उनके देहादि की भाँति नित्यगणों की भगवद्भक्ति भी अनादि-अनन्त है। मुक्त गणों की देह प्रभृति एवं भगवद्भक्ति सादि व अनन्त होती है। दोनों मे पार्थक्य इतना ही है। मुक्त व नित्य दोनों प्रकार के ही पुरुषों की स्थिति के सम्बन्ध में सालोक्य से सायुज्य पर्यन्त अवस्था-भेदों में बहुत वैचित्र्य देखने में आता है। उसमें भी मुक्त गणों का अतिरिक्त वैशिष्ट्य यही है कि अवस्था-विशेष में उनमें से किसी-किसी का देह-धारण इच्छाकृत एवं वैकल्पिक भाव से होता है। अर्थात् वे लोग जब देह आदि ग्रहण करने की इच्छा करते हैं तब देह-विशिष्ट-रूप में आविर्भूत होते हैं एवं जब वैसा नहीं करते तब विदेह रूप से वर्तमान रहते हैं। वस्तुतः विदेह रूप में स्थिति भगवद्धाम में स्थिति नहीं है। उनका देहादि-परिग्रह वसन्तोत्सवादि के निमित्त विशेष वेश-भूषादि ग्रहण की भाँति ऐच्छिक व वैकल्पिक है। इन सब देहादि का आविर्भाव आध्यात्मिक विकास के तारतम्य के अनुसार कहीं भगवदिच्छा-मूलक भक्त की इच्छासापेक्ष है—और पुन ऐसे स्थल में भी है

आच्छन्न हो जाता है। इस अवस्था में वे लोग नित्य जगत् में नित्य प्रकट रहने पर भी, नित्यलोकवासी उन लोगों को नित्य समान भाव से नहीं देख पाते। नित्य जगत् में कभी इनका आविर्भाव और कभी तिरोभाव लक्षित होता है। यहाँ पर आविर्भाव का कारण है, नित्य देह पर से उनके द्वारा इस महाशक्तिमयी सत्ता के अवगुण्ठन का उन्मोचन। बाद में जब यह अवगुण्ठन नित्य देह पर आ पड़ता है तब वह अप्रकट हो जाता है। प्रथमोक्त भक्त के स्थल पर देह नित्य होने पर भी, भक्त इच्छानुसार उसका ग्रहण या परिहार कर सकते हैं। इसीलिए भक्त कभी सदेह रूप में नित्य धाम में प्रकट होते हैं, कभी बिलकुल भी प्रकट नहीं रहते। दूसरे भक्तों के स्थल मे केवल देह नित्य नहीं है, देह के साथ भक्त का सम्बन्ध भी नित्य है। सुतरां उनके लिए देह ग्रहण करना सम्भव नही है, देह त्याग करना भी सम्भव नहीं है। क्यों कि यह सम्बन्ध टूट नहीं सकता। हाँ इस अवस्था में एक प्रबल शक्ति के बीच भक्त प्रवेश-लाभ करते हैं। इसी कारण नित्य धाम में उनका शरीर दृष्टिगोचर नहीं होता। जब उस शक्ति का आवेश किञ्चित् न्यून होता है तब उनका वह नित्य शरीर लक्षित होता है। इसी प्रकार उनका आविर्भाव व तिरोभाव घटित हुआ करता है।

व्यापी वैकुण्ठ-रूपी चिदाकाश में अनन्त वैकुण्ठ की सत्ता विद्यमान है यह एक बार पहले भी कहा गया है। ये सब वैकुण्ठ एक प्रकार से भगवद्धाम-रूप में परिगणित होने के

योग्य होने पर भी यथार्थ भगवद्धाम नहीं हैं। भगवान् का जो परम रूप है, जो स्वयं रूप से सर्वप्रकारेण अभिन्न है अथच जिसे समग्र भगवत्स्वरूप के मूल आश्रय के रूप में ग्रहण किया जाता है, उसका धाम व्यापी वैकुण्ठ के मध्य प्रदेश मे अवस्थित है। मण्डल एवं मण्डल का मध्य-बिन्दु जिस प्रकार परस्पर सम्बद्ध है, ठीक उसी प्रकार असंख्य भगवद्धाम-समन्वित व्यापी वैकुण्ठ एवं मध्यवर्ती मुख्य भगवद्धाम परस्पर सम्बद्ध है। इस मुख्य भगवद्धाम का ही कई लोग महावैकुण्ठ कह कर वर्णन करते हैं। त्रिपाद विभूति के अन्तर्गत विद्यापाद, आनन्द-पाद एवं उसके अतीत पाद में सर्वत्र ही भिन्न-भिन्न वैकुण्ठ विराजमान हैं। किन्तु महावैकुण्ठ व परम वैकुण्ठ भगवान् के परम रूप का ही 'स्वधाम' है। विद्या व अविद्या-पाद के सन्धिस्थल पर जो वैकुण्ठ नगर परिदृष्ट होता है, वह व्यापी वैकुण्ठ में प्रविष्ट होने की ओर प्रथम द्वार स्वरूप है। इसको कोई-कोई विष्वक्सेन वैकुण्ठ भी कहते हैं। आनन्द-पाद व विद्या-पाद के सन्धि-स्थल पर एक दिव्य स्रोत प्रवाहित होता है ऐसा देखा जाता है। यह स्रोत आनन्द की धारा है, अतः इसका आनन्दतरङ्गिणी नाम से वर्णन किया जाता है। इसके बाद नित्य वैकुण्ठ आनन्दपाद के मध्यस्थल में अवस्थित है। उसी स्थान पर आदि-नारायण की अवस्थिति लक्षित होती है। इसके बाद आनन्दपाद व अतीतपाद के सन्धिस्थल पर सुदर्शन-वैकुण्ठ अवस्थित है। सुदर्शन वैकुण्ठ में सुदर्शन पुरुष प्रतिष्ठित है। सुदर्शन वैकुण्ठ का भेद करके और भी ऊँचे उत्थित हो पाने से महावैकुण्ठ का साक्षात्कार होता है। यही परम वैकुण्ठ है।

यहीं पर महायन्त्र अवस्थित है, जिसका विशेष विवरण बाद में देने की चेष्टा करेंगे। यही महावैकुण्ठ व्यापी वैकुण्ठ अथवा परव्योम के मध्यप्रदेश में अवस्थित है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि भगवान् व परमात्मा एक ही प्रकाश की पूर्ण एवं आंशिक इन दोनों अवस्थाओं के नाम हैं। षोडश कलाशक्ति का विकास हो तो 'भगवान्' शब्द का प्रयोग होता है, 'भगवान्' एवं 'स्वयं भगवान्' एक ही वस्तु हैं। भगवान् में ऐश्वर्य भाव का विकास प्रधान रूप से रहता है। 'स्वयं भगवान्' में माधुर्य का विकास होता है। किन्तु माधुर्य रहने पर भी अवस्थाभेद से उसके साथ ऐश्वर्य का मिश्रण भी रहता है। ऐश्वर्य भाव के मिश्रण से रहित विशुद्ध माधुर्य भाव स्वयं भगवान् का अन्तरतम रूप है। इसका वर्णन श्रीकृष्ण-तत्त्व एवं श्रीवृन्दावन-रहस्य की आलोचना के प्रसङ्ग में किया जायेगा। वैष्णवाचार्य गण स्वयं भगवान् में चौंसठ गुणों की सत्ता व क्रिया स्वीकार करते हैं, जिनमें से चार गुण उनमें असाधारण हैं। भगवान् के पूर्ण प्रकाश में ६० गुण रहने आवश्यक हैं। कुछ-कुछ न्यूनता रहने पर भी भगवत्ता का हानि नहीं होती। न्यूनता का आधिक्य होने से ही परमात्मभाव का साक्षात्कार होता है। परमात्मा ही पुरुष हैं। एक प्रकार से यह पुरुष ही भगवान् का सर्वप्रथम अवतार हैं, यहाँ तक कि एकमात्र अवतार भी कहा जा सकता है। परमात्मभाव का विश्लेषण करने से क्रमशः व्यूह, विभव, अन्तर्यामी एवं अर्चा इन कुछ-एक भगवद्भावों का परिचय मिलता है। स्वरूप-शक्ति के उन्मेष के

तारतम्य के कारण इन सब भगवद्भावों के बीच भी तारतम्य लक्षित होता है। अर्थात् इनमें से कोई अंशी रूप में और कोई अंश रूप में परिगणित होता है। यह जो अंश कहा गया यह स्वांश और भिन्नांश भेद से दो प्रकार का है, यह बात पहले ही कही गई है। अवतारादि सभी भगवद्-विभूतियां नित्य एवं स्वांश रूप में परिगणित होती हैं। जीव भिन्नांश के रूप में परिगणित होता है। अवश्य ही कोई-कोई जीव को भी स्वांश मानते हैं। नित्यलीला के अवसर पर इस स्वांश और भिन्नांश-वाद का मर्म समझा जा सकेगा। अन्तरतम भगवद्धाम में भगवान् का परमरूप अधिष्ठित है। इस स्थान से लेकर माया के साक्षाद्-भाव से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता, यह भी एक प्रकार से कहा जा सकता है। वस्तुतः केवल माया नहीं, माया, काल एवं अशुद्ध जीव भगवद्धाम के लिए प्रवेश का मार्ग नहीं पाते। सुतरां भगवान् का परमरूप माया का अधिष्ठाता नहीं हो सकता। परमात्मा रूप में भगवान् का जो आंशिक प्रकाश है, उसके साथ माया का सम्बन्ध है। परमात्मा भगवान् के ही विलास हैं, सुतरां स्वरूपतः भगवान् से अभिन्न हैं। परमात्मा भगवान् की ही भाँति चित्शक्तिसम्पन्न हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु तब भी चित्शक्ति की स्फूर्ति भगवत्ता से किञ्चित् न्यून होने के नाते परमात्मा माया के अधिष्ठान हो सकते हैं, एवं होते हैं। माया बहिरंगा शक्ति है, सुतरां यह अधिष्ठान उसकी दृष्टि द्वारा ही सिद्ध होता है।

परमात्मतत्त्व के विश्लेषण के प्रसंग में एक ओर चतुर्व्यूह

एवं दूसरी ओर अवतार आदि का 'तत्त्व' आलोच्य है। भगवत्स्वरूप अर्थात् भगवान् का अप्राकृत विग्रह छः अप्राकृत गुण या शक्तियों द्वारा रचित है। अर्थात् इन छः अप्राकृत गुणों की समष्टि को ही अप्राकृत भगवद्विग्रह कहकर वर्णन किया जाता है। इसकी दो अवस्था हैं—एक नित्योदित एवं एक शान्तोदित। जो रूप सर्वदा ही प्रकाशमान है, जिसका कभी भी तिरोधान नहीं होता, वही नित्योदित रूप है; किन्तु तिरोहित होकर पुनः आविर्भाव होने से इसी रूप को शान्तोदित कहते हैं। भगवान् का परमरूप नित्योदित है। दिव्य सूरिगण इसका निरन्तर साक्षात्कार करते हैं—'सदा पश्यन्ति सूरयः।' इसका उदय भी नहीं है, अस्त भी नहीं। यह स्वयंप्रकाश चैतन्य-स्वरूप है। किन्तु उनका जो शान्तोदित रूप है वह भी षाड्गुण्य विग्रह है, क्योंकि वह भी अप्राकृत षड्गुणमय है। किन्तु उसका आविर्भाव-तिरोभाव होता है, इसीलिए शान्तोदित कहा जाता है। उसमें स्वरूप-शक्ति के विकास की किञ्चित् न्यूनता है। इसीलिए वह परमरूप से किञ्चित् न्यून कह कर परिगणित होता है। ये ६ गुण चार व्यूहों में से प्रत्येक में ही विद्यमान हैं।

हाँ, प्रथम व्यूह में वे समष्टिरूप एवं समभाव में विद्यमान हैं, एवं अन्यान्य तीन व्यूहों में दो-दो गुण प्रधान हैं। अर्थात् द्वितीय व्यूह में प्रथम व द्वितीय गुण पूर्णरूप से विद्यमान हैं एवं अन्यान्य चार गुण किञ्चित् न्यून रूप से। तृतीय व्यूह में तृतीय-चतुर्थ गुण पूर्णरूपेण विद्यमान हैं, शेष चार किञ्चित् न्यूनरूपेण। चतुर्थ व्यूह में पंचम व षष्ठ गुण पूर्ण रूप में विद्यमान हैं एवं अन्य चार

न्यून रूप में। मुख्य बात यही है कि प्रत्येक व्यूह में ही छहों गुण विद्यमान रहते हैं, पर गुण-प्रधान भाव से। इसीलिए चारों व्यूहों में से प्रत्येक ही भगवत्स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके साथ माया और प्रकृति का सम्बन्ध किस प्रकार का है, यह यहाँ उल्लेखनीय नहीं।

विभव अथवा अवतार मुख्य और गौण भेद से दो प्रकार के हैं। मुख्य अवतार साक्षात् भगवदंश हैं। गौणावतार भगवत्स्वरूप अथवा शक्ति द्वारा आविष्ट जीव होते हैं। इसीलिए पर व्योम में मुख्यावतार का स्थान है, गौणावतार का स्थान नहीं है। किसी-किसी के मत से पुरुष अन्तर्यामी रूप से अवतार-पद-वाच्य है। व्यष्टि जीव का अन्तर्यामी, समष्टिजीव का अन्तर्यामी एवं महासमष्टि जीव का अन्तर्यामी इस रूप से अन्तर्यामी भी तीन श्रेणियों में विभक्त होने योग्य हैं। व्यष्टि एवं समष्टि के हिसाब से अन्तर्यामी असंख्य हैं। ये हृदयाकाश में मुख्य अन्तर्यामी पुरुष के प्रतिबिम्ब मात्र हैं। कहना न होगा, बद्धजीव प्रकृति के अन्तर्गत पिण्डविशिष्ट होने पर भी उसका अन्तर्यामी आत्मा परमात्मा के स्वांश से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। अतएव ब्रह्माण्डाभिमानी जीव भी अनन्त हैं। वस्तुतः वे लोग एक अन्तर्यामी के ही अनन्त आभासमात्र हैं। व्यष्टि पिण्ड अनन्त होने से तदभिमानी जीव भी अनन्त हैं। इसी कारण व्यष्टि जीव के अन्तर्यामी का भी अनन्तरूप से ही ग्रहण होता है। किन्तु यहाँ भी ये अनन्त अन्तर्यामी एक के ही अनन्त आभास-मात्र हैं। व्यापी वैकुण्ठ में अन्तर्यामी का भी स्थान है, अवतार-वर्ग का भी स्थान है। एवं चतुर्व्यूह का भी स्थान है। व्यापक वैकुण्ठ

मे प्रत्येक का ही अपना-अपना धाम है। ये सब खण्ड-धाम भी वैकुण्ठ-पद-वाच्य हैं। भूलोक प्रभृति स्थानों में भक्तगण जब स्वीयभावानुरूप मूर्ति का निर्माण करके एवं उसे प्रतिष्ठित करके उसका यथाविधि संस्कार करते हैं तब मन्त्रशक्ति एवं भक्ति आदि के प्रभाववशतः उसमें भी भावानुरूप भगवत्सत्ता व शक्ति का सान्निध्य होता है, एवं इसी कारण ये सब मूर्तियाँ भी भगवद्-विग्रह रूप में परिगणित होती हैं।पृथ्वी पर किसी के द्वारा इस प्रकार का भगवान् का विग्रह प्रतिष्ठित किए जाने से वह वास्तव में अप्राकृतजगत् अर्थात् परव्योम में ही प्रतिष्ठित होता है। फिर पृथ्वी से उसके लुप्त हो जाने पर भी व्यापी वैकुण्ठ से वह लुप्त नहीं होता। क्योंकि वह भगवद्रूप एवं अप्राकृत है। प्राकृतिक विपर्यय से उसका कोई विकार या परिवर्तन सम्भव नहीं है। व्यापी वैकुण्ठ में भगवान् के ये सब रूप भी देखे जा सकते हैं। अर्थात् सिद्ध भक्तगण पृथ्वी पर भगवान् के जिस रूप की स्थापना करते हैं वह व्यापी वैकुण्ठ में विराजित होता है। महासमुद्र में जिस प्रकार असंख्य द्वीप-पुञ्ज परिदृष्ट होते हैं, निशा के आकाश में जिस प्रकार अगणित-संख्यक नक्षत्रमाला दृष्टिगोचर होती है, ठीक उसी प्रकार परमाकाश रूपी व्यापी वैकुण्ठ में खण्ड-खण्ड अनन्त वैकुण्ठ भगवद्-धाम रूप में विराजमान हैं। चारों ओर से इस प्रकार के असंख्य वैकुण्ठों द्वारा परिवृत होकर भगवान् के परमस्वरूप का परमधाम महावैकुण्ठ मध्यस्थल में विराजित है। क्रमशः महावैकुण्ठ के प्रसंग मे कुछ कहा जायेगा।

परव्योम की बात संक्षेप में कुछ-कुछ कही गई है। परव्योम अथवा व्यापी वैकुण्ठ श्रीभगवान् का साम्राज्य है। इसी की राजधानी महावैकुण्ठ परव्योमरूप महामण्डल के मध्यस्थल में अवस्थित है। परव्योम के ऊर्ध्व स्वयं भगवान् का निज धाम गोलोक विराजमान है। पर-व्योम के बहिरङ्गभाव में अर्थात् अधःप्रदेश में ब्रह्मधाम अथवा मुक्तिपद अवस्थित है। कहीं-कहीं इसी का सिद्धलोक कह कर उल्लेख किया गया है। यह ज्योतिः-स्वरूप ब्रह्म का धाम अथवा लोक है। इसीलिए इसको ब्रह्म-लोक कहने से भी एक प्रकार से सत्य का अपलाप नहीं होता। यह विशुद्ध चिदात्मक है। अनेक व्यक्ति इसी को श्रीभगवान् की अङ्गकान्ति कह कर इसका निर्देश करते हैं। भगवद्विग्रह, भगवत्-पार्षदगणों व नित्यमुक्त गणों का विग्रह एवं भगवद्धाम-इन सबकी समष्टिभूत प्रभा ज्योतिर्ब्रह्म रूप में सिद्ध समाज में परिचित है। केवलाद्वैतियों का निर्विशेष ब्रह्म भी पूर्वोक्त ज्योति-र्ब्रह्म से सर्वांश में अभिन्न नहीं है, क्योंकि केवलाद्वैती का ब्रह्म निर्विशेष, धर्मवर्जित व अद्वितीय है, किन्तु ज्योतिर्ब्रह्म प्रकाश-मयत्वादि-धर्म-विशिष्ट होने से सर्वथा निर्विशेष नहीं है एवं वह अद्वितीय भी नहीं है। क्योंकि द्वितीय रूप कारणसत्ता एवं कार्यसत्ता में वह अधिष्ठान रूप से नित्य प्रतिष्ठित रहता है। जो साधक जीव भगवत्-तत्त्व का अनादर न करके ब्रह्मचिन्ता में लिङ्ग शरीर के ध्वंसपूर्वक सिद्धिलाभ करते हैं एवं इस सिद्धि के फलस्वरूप वासनामुक्त होकर ब्रह्माण्डभेद-पूर्वक स्थिति लाभ करते हैं, उनकी चरम गति एवं आपेक्षिक दृष्टि से परमस्थिति इसी ब्रह्मधाम या सिद्धलोक में है। वे प्राकृतदेह से मुक्त होकर

विदेह-अवस्था का अवलम्बन करके स्वयं ज्योतिःस्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं एवं इस महाज्योति में अभिन्नरूप से स्थिति-लाभ करते हैं। कहना न होगा, इस अवस्था का लाभ शुद्ध ज्ञान के फलस्वरूप होता है। एक हिसाब से इसको भी परमपद कहा जाता है, और श्रीमद्भागवत में कहीं-कहीं ऐसा कहा भी गया है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि श्रीभगवान् के प्रति अवज्ञा-अनादर के भाव का हृदय में पोषण करके ब्रह्मचिन्ता में रत होने से उसके फलस्वरूप पुनरावृत्तिरहित शाश्वत-पद-लाभ नहीं होता। अवश्य ही ये सब साधक-गण भी ब्रह्मधाम में उपनीत होते हैं—इसमें सन्देह नहीं, किन्तु पूर्वोक्त अपराध के कारण ब्रह्मलोक से वे अधःपतित होते हैं। ब्रह्मलोक में उनकी नित्य-स्थिति नहीं होती स्वयं भगवान् अथवा उनके कोई स्वांश अवतार रूप से प्रपंच में प्रकट होकर साक्षात् रूप से जिन सब दैत्य-राक्षसादि शत्रुगणों का नाश करते हैं, वे लोग भी ज्योतिःस्वरूप इस ब्रह्मधाम में स्थितिलाभ करते हैं। शुद्ध ज्ञानी जिस प्रकार भगवद्धाम में प्रविष्ट नहीं हो सकते—भगवान् द्वारा निहत भगवद्-द्वेषिगण भी उसी प्रकार भगवद्धाम में प्रवेश नहीं कर सकते। दोनों की ही गति भगवान् के अङ्गज्योतिःस्वरूप ब्रह्म-धाम में है। यह ब्रह्मधाम या सिद्धलोक भगवद्धाम की ही भाँति मायातीत है। ब्रह्माण्ड-पुराण में महातमसा के परले पार सिद्धलोक की अवस्थिति वर्णित है। इस ब्रह्मलोक का एक आभास है, जो ठीक इसी के अनुरूप है अथच इससे भिन्न है। जो साधक ब्रह्मलोक में आकर भी वहाँ से अधःपतित होते हैं वस्तुतः वे अकृत्रिम ब्रह्मलोक में स्थान नहीं पाते, इस आभासलोक में

ही कुछ काल पर्यन्त अवस्थान करते हैं। यह आभासलोक माया के परले पार नहीं है—माया से ऊर्ध्व होते हुए भी माया के ही अन्तर्गत है।

पहले जिस बैन्दव जगत् की बात कही गई है वह अप्राकृत जगत् के ही अन्तर्गत है किन्तु बाह्यमण्डल है अन्तर्मण्डल नहीं है, यह स्मरण रखना होगा। यहाँ जिस सिद्धलोक की बात कही गई उसकी अनेक प्रकार की स्थिति है। विज्ञान की विभिन्न स्थितियों के अनुसार यह स्थिति निरूपित होती है। इसको एक प्रकार से कैवल्य-समुद्र कहकर समझ रखने में भी कोई हानि नहीं होती। किन्तु यह विज्ञान-कैवल्य है प्रलय-कैवल्य नहीं। प्रकृति, माया दोनों से पुरुष स्वयं को विविक्त समझ पाये तो इस प्रकार की कैवल्यप्राप्ति होती है। कहना न होगा कि यह शुद्ध कैवल्य नहीं है।

बैन्दव जगत् से निर्गत होकर शाक्त जगत् में प्रवेश के पहले मध्यावस्था में शुद्ध कैवल्य होता है। प्रलय-कैवल्य अविद्या-पाद के अन्तर्गत है। यहाँ तक कि परव्योम के वहिःप्रकाश में उसका कोई स्थान नहीं है।

यह जो ब्रह्मधाम की बात कही गई इसको साधारणतः मुक्ति-पद कहा जाता है, किन्तु यह परा मुक्ति नहीं है, भगवद्धाम के नीचे अथवा बाहर जहाँ महेशधाम या शिवधाम का वर्णन पाया जाता है वहाँ यह कैवल्यधाम ही लक्षित हुआ है, यह समझना होगा। यह स्थान क्षोभहीन, स्थिर, शान्त एवं सम्यक् रूप से समभावापन्न है—यह निस्तरङ्ग समुद्र की भाँति स्वयं

में स्वयं ही प्रकाशमान है। यह मुक्तिधाम भी परव्योम की आभा होने से विरजा के पहले पार अवस्थित है।

सिद्धधाम के अधःप्रदेश में अथवा बाहर की ओर कारण-सलिलमयी विरजा वर्तमान है। कारण-समुद्र अथवा विरजा नदी वस्तुतः परव्योम को मण्डलाकार में घेर कर स्थित है। बाहर से देखने जांय तो यह ठीक दुर्ग-प्राकार के चतुर्दिक् वेष्टमान परिखा (खाई) की भाँति प्रतिभात होती है। कोई-कोई इसे श्रीभगवान् के अङ्ग का स्वेद-सलिल कहकर वर्णित करते हैं। और कोई-कोई कहते हैं यह वेदरूपी शब्द-ब्रह्म के अङ्ग से निःसृत सलिल है। वस्तुतः शब्द-ब्रह्म पर-ब्रह्म का अधिष्ठान है। शब्द-ब्रह्म की ही तरल अवस्था यह कारण-सलिल है। यहाँ से ही कार्य रूपी जगत् की सृष्टि की सूचना होती है। दूसरी ओर यहाँ से ही जगत् का उपसंहार भी होता है। क्योंकि इसके परे और मायिक सत्ता नहीं है। इसके ही एक परम शुद्ध रूप महाकारणसलिल-रूप में बैन्दव और शाक्त जगत् के मध्यप्रदेश में शुद्ध कैवल्य के सन्निहित भाव प्राप्त होता है। शुद्ध कैवल्य के बाद ही भगवद्धाम है, एवं शुद्ध कैवल्य के बहिःप्रदेश में महाकारण-सलिल की धारा उपलब्ध होती है। महाकारण-सलिल के बाहर महाकारण-जगत् एवं बैन्दव-जगत् हैं। कहना न होगा, वह भी अप्राकृत राज्य के अन्तर्गत है। महा-कारण सलिल को महाविरजा कहकर ग्रहण किया जा सकता है। मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ उसके अनुसार दोनों को ही कालिन्दी वा यमुना कहना या स्वीकार करना चल सकता है।

विरजा के बाहर अविद्यापाद है। इस पाद में माया-राज्य अवस्थित है। लघु-ब्रह्मसंहिताकार ने इसी को देवी धाम कहकर इंगित किया है। पिण्ड से ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर ब्रह्माण्ड-भेद-पूर्वक, विभिन्न सूक्ष्म स्तरों के अतिक्रमपूर्वक कारण-सलिल के निकट उपस्थित होना होता है। एक-एक ब्रह्माण्ड में ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर समष्टिभाव में चतुर्दश गर्भोदशायी कहकर एवं जो क्षीर-सलिल में प्रकाशित हो रहे हैं, उनको क्षीरोदशायी कहकर ग्रहण किया जा सकता है। दृष्टि व वासना के तारतम्य के अनुसार इनके बीच किञ्चित् पार्थक्य हो सकता है, यहाँ उसका उल्लेख अप्रासङ्गिक होगा।

जो कारणशायी पुरुष हैं, वे महासमष्टि-अभिमानी जीव के अन्तर्यामी हैं। जो गर्भोदशायी हैं, वे ब्रह्माण्डाभिमानी समष्टि जीव के अन्तर्यामी हैं। जो क्षीरोदशायी हैं, वे पिण्डाभिमानी व्यष्टि जीव के अन्तर्यामी हैं। व्यष्टि व समष्टि भाव से जगत् की सृष्टि व जागतिक कार्य-परिचालना के लिए इनकी आवश्यकता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि सब पुरुष ही मूल मे एक ही पुरुष हैं—वे ही परम पुरुष हैं। परम पुरुष भगवान् की अवस्थाविशेष हैं। दोनों अभिन्न हैं।

•

भगवान् जिस प्रकार अपने निजी धाम में नित्य विराजित होते हैं, उसी प्रकार उनके अभिन्न अंश भी अपने-अपने नित्य धामों में नित्य विराजते हैं। अवतरण के समय जैसे भगवान् का स्वधाम प्रपंच में अवतीर्ण होता है, उसी प्रकार जगत्-व्यापार-निर्वाह-काल में अन्तर्यामी पुरुषगण का स्वधाम भी

व्यष्टि, समष्टि व महासमष्टि जीव के हृदय-कोष में प्रकट होता है। इसी कारण हृदय को ब्रह्मपुर कहा जाता है। हा, यह व्यापी वैकुण्ठ के अन्तर्गत नहीं, इसी से यह 'दहर' है। जो लोग वैदिक दहर-विद्या का मर्म समझना चाहें वे इस अन्तर्यामी के समस्त धामों के मानव-हृदय में विराजित रहने के रहस्य का विश्लेषण कर पायें तो गुह्य तत्त्व को पकड़ पायेंगे।

कारणोदक, गर्भोदक एवं क्षीरोदक ये तीन प्रकार के सलिल एवं इनके आश्रय तीन महासमुद्र भगवान् के पुरुष रूप में आत्मप्रकाश करने के भुवन में विद्यमान हैं। सूर्य मण्डल को केन्द्र बनाकर भुवनकोश विद्यमान है। ब्रह्माण्ड, संख्या में एक नहीं, बहु—अनन्त हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड के, जिन महा-सविता के चारों ओर विराजमान रहते हुए, प्रत्येक ब्रह्माण्ड अपने-अपने सूर्यमण्डल की प्रदक्षिणा कर रहा है, वे ही आदि सूर्य हैं। समस्त अविद्या-पाद में भगवत्शक्ति अविद्यालक्ष्मी रूप से अविद्या-राज्य की अधिष्ठात्री होकर विराजित हैं। माया-शक्ति इनको आश्रय करके ही अपना कार्य साधन करती है। ये अविद्या-लक्ष्मी महालक्ष्मी की अथवा श्रीभगवान् की बहिर्निःसृत दृष्टि-रश्मि मात्र हैं। पहले ही कहा गया है कि परमात्मा रूपी श्रीभगवान् की स्वरूप-शक्तिमयी चिद्रूपा दृष्टि से ही माया क्षुब्ध होकर विश्व का प्रसव करती है। ब्रह्माण्ड-जननी माया स्वरूप की आवरणकारिणी, तिरस्करिणी है। विद्यारूपा-महायोगमाया अविद्यापाद के ऊर्ध्वपाद में अवस्थित है। इस योगमाया के आवरणवशतः ही मायिक जीव भगवान् के स्वरूप-वैभव का दर्शन नहीं कर सकता अर्थात् यह योगमाया ही जीव को त्रिपाद विभूति का दर्शन नहीं करने देती।

कारण-सलिल की बात पहले कही गई है। कारण-सलिल की भाँति ही गुण-सलिल और क्षीर-सलिल भी हैं। मूल पुरुष प्रतिबिम्ब रूप से प्रत्येक सलिल में प्रतिफलित हो रहे हैं। इसीलिए परव्योम में जो तीन पुरुष परम पुरुष के व्यूहात्मक विभूति रूप में नित्य प्रतिष्ठित हैं, अविद्यापाद में वे लोग ही अंश रूप से इन तीन सलिलों में 'शयान' अवस्था में प्रकाशमान हैं। जो कारण-समुद्र में भासित हो रहे हैं उन्हें कारणार्णवशायी कहते हैं। जो गुणसलिल में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं उन्हें क्षेत्र कहते हैं। पिण्डाभिमानी जीव जब पिण्ड से बहिर्गत होकर पिण्ड के साक्षी रूप से पिण्ड का दर्शन करता है, तब वास्तव में वह पिण्ड के मध्य प्रविष्ट होकर पिण्डस्थ शून्य अर्थात् हृदय कोष में प्रतिष्ठित होकर साक्षीरूप में पिण्ड का दर्शन करता है। पिण्ड से बाहर होना, पिण्ड से पृथक् होना एवं पिण्ड के मध्यस्थ बिन्दु में प्रवेश करना वस्तुतः एक ही बात है। जिस शून्य को आश्रय करके पिण्ड-रचना हुई है, वही शून्य पिण्ड के भीतर एवं बाहर समान रूप से विद्यमान है। किन्तु भीतर व बाहर के मध्यस्थल में वह विद्यमान रहने पर भी पिण्डाभिमान रहने के कारण उसकी सत्ता अनुभूत नहीं होती। देह से बहिर्गत होकर देह का द्रष्टा हो पाने से देहाभिमान विगलित होता है। क्योंकि इसी समय शून्य में स्थिति होती है। उसी प्रकार देह के अन्तःपुर में अर्थात् हृदय-गुहा में प्रवेश कर पाने पर भी उसी प्रकार से द्रष्टा होकर देह को दृश्य रूप में देखा जा सकता है। इस अवस्था में भी कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान नहीं रहता। ये दोनों शून्य वस्तुतः एक ही शून्य के दो प्रदेश हैं इनके बीच

देहात्मक पिण्ड का व्यवधान है। यहाँ पर ही कर्ता व भोक्ता रूप से जीव कर्म करता है एवं तदनुरूप फलभोग भी करता है। यही व्यष्टिजीव का संसार मण्डल है। वस्तुतः इस संसार में भी शून्य ओतप्रोत रूप से विद्यमान है, किन्तु उसकी प्रतीति नहीं होती। जिस शून्य में यह पिण्ड रूपी व्यष्टि देह भासित होता है, उसी को क्षीर समुद्र कहते हैं। यह ज्ञान-नेत्र में क्षुद्र आकाश की भाँति देदीप्यमान है, इसीलिए इस सत्ता को क्षीर-सलिल कहा जाता है। पिण्ड के समान ब्रह्माण्ड भी शून्य के बीच विराजमान है। यह शून्य भी वास्तविक शून्य नहीं, यह भी सलिलात्मक है। पृथ्वी सप्तद्वीपमयी है—जम्बुद्वीप से आरम्भ करके पुष्कर द्वीप पर्यन्त सात द्वीप एक के बाद एक मण्डलाकार में अवस्थित हैं। प्रत्येक द्वीप ही एक-एक समुद्र द्वारा वेष्टित है। सर्वप्रथम 'लवण समुद्र' है, सर्वान्तिम 'अमृत समुद्र' अथवा शुद्ध वारि है। इस प्रकार से सप्तद्वीप और सप्त समुद्र वलयाकारमें अवस्थित हैं। अमृत समुद्र के पश्चात् अर्थात् बाहर देवतादिक का क्रीडास्थल विराजमान है। यह सर्वथा सुवर्णमय ज्योति से उद्भासित रहता है; अतः इसे सुवर्णमयी भूमि कहते हैं। इसके आगे लोकालोक पर्वत है। इसके आठ ओर आठ रुद्र एवं लोकपाल विद्यमान हैं। लोकालोक का भीतरी भाग आलोकित रहता है एवं बाहरी भाग चिर अन्धकारमय है। लोकालोक व मेरु के अन्तराल से सूर्य की गति में वैचित्र्य है। यहाँ उसका उल्लेख अनावश्यक है।

लोकालोक के बाहर सूर्य का प्रकाश नहीं जाता। यह स्थान घोर अन्धकारमय है। वस्तुतः यह लोकालोक का अलोक

अंश है और भीतर का लोकांश है। यहाँ पर कोई जीव नहीं रह सकता। इस अन्धकार को वेष्टन करके जो महासमुद्र विद्यमान है उसी का नाम गर्भोदक है। इसके बाद ब्रह्माण्ड-कटाह है। किसी-किसी की दृष्टि में गर्भोदक के तटप्रान्त मे कौशेय-मण्डल नाम का एक सिद्ध मण्डल विद्यमान है। यही वस्तुतः पक्षितीर्थ है। यहाँ पर बहुसंख्यक सिद्ध पक्षि-समूह से परिवृत होकर पक्षिराज गरुड़ वास करते हैं।

ब्रह्माण्ड की भाँति ब्रह्माण्ड-समष्टि भी एक शून्य में अवस्थित है। ब्रह्माण्ड-समष्टि प्रकृतिरूपी कारणसत्ता है। जिस शून्य में अनन्त ब्रह्माण्डमय सत्ता भासित हो रही है, वही कारण-समुद्र नाम से अभिहित है। इससे यह ज्ञात होगा कि कारण-जगत् को वेष्टन करके जो सलिल विद्यमान है, वही कारण-सलिल है। इस सलिल के ऊपर ही महासमष्टि अर्थात् समग्र मायिक जगत् भासित होता है। गर्भोद-सलिल के ऊपर समग्र ब्रह्माण्ड भासित होता है। उसी प्रकार क्षीर सलिल पर प्रत्येक व्यष्टि-पिण्ड भासित है। भगवान् के अर्थात् परमात्मा के स्वांश यथा-क्रम से अन्तर्यामिरूप से इन तीनों सलिलों में प्रकाशित रहते हैं। क्योंकि आदि नर से उद्भूत होने के कारण सलिल को 'नार' कहा जाता है, उसको आश्रय करके विराजित होते हैं इसीलिए पुरुष का नाम नारायण है। इसीलिए सृष्टि का आदि सलिल Primeval waters, 'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या' (अभिज्ञा० शाकु,० मङ्गल) है। व्यष्टि, समष्टि और महासमष्टि--भेद से यह सत्ता भी त्रिविध रूप से प्रकाशित होती है। सत्ता त्रिविध होने से उसके अधिष्ठान पुरुष भी त्रिविध रूप से वर्णित होते हैं ये

तीन पुरुष ही भगवान् के चर्तुव्यूह के बीच चतुर्थ, तृतीय ए द्वितीय व्यूह के प्रतिभास हैं ।

कारण सत्ता की भाँति महाकारण-सत्ता भी सलिल द्वारा वेष्टित है । यही महाकारण सलिल है । जो इस सलिल में अधि-ष्ठित हैं, उन्हें आदि व्यूह कहकर समझना असङ्गत न होगा। महाकारण सलिल के बाद फिर सलिल नहीं है। उसके बाद शुद्ध आकाश है। शुद्ध आकाश का भेद कर पाने पर चिन्मयी भूमि अर्थात् दिव्य वृन्दावन के प्रकाश की उपलब्धि की जा सकती है ।

जिसका पहले महावैकुण्ठ कहकर वर्णन किया गया है, उसी का कोई-कोई अयोध्या अथवा नित्य साकेत धाम कहकर भी उल्लेख करते हैं । 'देवानां पूरयोध्या' इस शास्त्रवाक्य में वस्तुतः महावैकुण्ठ का ही निर्देश है, इसमें सन्देह नहीं । यह महापुरी आकृति से चतुरस्र या चतुर्भुज है। यह दिव्य रत्नखचित प्राकार व तोरण आदि से वेष्टित एवं मणि-काञ्चन के चित्रों द्वारा विशेष रूप से अलंकृत है। नगरी में प्रवेश करने के लिए चार दिशाओं में चार मुख्य द्वार हैं, ये सब द्वार विभिन्न प्रकार के अधिकारियों के नगर प्रवेश के लिए हैं। अर्थात् जो भक्त लोक-लोकान्तर से श्रीभगवान् का दर्शन करने लिए वैकुण्ठ में आगमन करते हैं, वे सभी एक ही द्वार से नगर प्रवेश नहीं करते। जिनका जैसा अधिकार हो, वे तदनुसार ही चारों द्वारों में से किसी विशिष्ट द्वार से नगर में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। द्वार एवं सुबृहद् गोपुर अत्यन्त उज्ज्वल एवं सुदृश्य मणिमुक्ताओं से खचित हैं।

प्रत्येक द्वार पर द्वार-रक्षक के रूप में दो-दो नित्य पुरुष नियुक्त हैं। चण्ड, प्रचण्ड प्रभृति द्वारपाल गण भगवान् की नित्य-भक्त-श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये लोग अनादिकाल से इसी कार्य में नियुक्त हैं। चण्ड व प्रचण्ड जिस प्रकार पूर्व द्वार के रक्षक हैं, उसी प्रकार पश्चिम द्वार के रक्षक हैं—जय व विजय। इनका विवरण प्राचीन आख्यायिका में पुराणादि में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। द्वाररक्षक की भाँति नगर-रक्षक भी अनादि काल से उस-उस अधिकार-कर्म में नियुक्त हैं। कुमुद, कुमुदाक्ष प्रभृति दस नगर-रक्षक ही वैकुण्ठ धाम के दस दिक्पालों के नाम से प्रसिद्ध हैं। पुरी के अन्तर्गत गृह, प्रासाद, आराम, उपवन प्रभृति सब ही अत्यन्त रमणीय हैं। सभी गृह अग्नि के सदृश उज्ज्वल, ज्योतिर्मय एवं उद्यान-प्रभृति स्निग्ध ज्योति से सदा उद्भासित है। व्यापी वैकुण्ठ की भांति वैकुण्ठपुरी में भी रात्रि दिन का भेद नहीं है। यहाँ पर अन्धकार प्रविष्ट नहीं हो सकता। एक अखण्ड स्वयं-प्रकाश ज्योतिः समस्त वस्तु के स्वरूपभूत रूप से कहीं स्निग्ध, कहीं तीव्र, कहीं मिश्र रूप से निरन्तर शोभा पा रही है। जो सब भक्त नर-नारी इस नित्य धाम में वास कर रहे हैं, वे सभी दिव्यदेह-विशिष्ट हैं। यह देह जरा द्वारा विकृत नहीं होता, मृत्यु से भी आक्रान्त नहीं होता। वह नित्य-नव-यौवन-सम्पन्न है। उसका सौन्दर्य व सुषमा मायिक जगत् में अतुल-नीय है। इनमें से कोई-कोई अनादि काल से ही यहां विराजमान हैं। कोई-कोई निर्दिष्ट समय पर यहाँ प्रविष्ट होते हैं। जो लोग अनादि काल से ही हैं, उनका देह भी अनादि है, किन्तु जो निर्दिष्ट समय पर यहाँ प्रवेश लाभ करते हैं उनका देह सादि है

दोनों ही नवयौवन-सम्पन्न एवं कोटि कन्दर्प की भाँति लावण्य-विशिष्ट अप्राकृत चिदानन्द के घनीभूत विग्रह हैं। दोनों पार्श्वों से भूदेवी और लीलादेवी नाम की दो सखियाँ विराजित हैं। आठ तरफ़ कमल के आठ दलों के अग्रभाग पर आठ शक्तियाँ दिव्य दम्पति को वेष्टित करके शोभा पा रही हैं। विमला, उत्कर्षिणी प्रभृति आठ शक्तियाँ श्रीभगवान् की महिषीरूप से भक्त-समाज द्वारा मानी जाती हैं। ये सभी दिव्य चामर द्वारा श्रीभगवान् व महालक्ष्मी को व्यजन कर रही हैं। अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन एवं अन्तरङ्ग नित्यमुक्त गणों ने भगवान् को चारों ओर से घेर रखा है।

कहीं-कहीं इस नगरी के आठ आवरणों का एवं कहीं-कही द्वादश आवरणों का उल्लेख दिखाई देता है। जिस अन्तःपुर के बीच महामणिमण्डप नामक सभा अवस्थित है, ऐसा उल्लेख किया गया है, उसका नाम है 'आनन्द'। सहस्र फणों के तेज से उद्दीप्त तेजोमय 'अनन्त नाग' सभामण्डप के ऊपर विराजते हैं। भगवान् का दिव्य सिंहासन इसी अनन्त के ऊपर ही प्रतिष्ठित है, इसीलिए इसका नाम अनन्तासन है।

जिन आठ आवरणों की बात उल्लिखित हुई है, मूल प्राकार के अतिरिक्त उनका स्वरूप-निर्देश इस प्रकार है—वैकुण्ठ नगर की पूर्व आदि चार दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध इन चारों व्यूहों के धाम हैं। चार कोणों पर उनकी चार शक्तियाँ विराजित हैं। इस हिसाब से आवरण देवता की संख्या आठ है यही प्रथम   है इसके बाहर जो स्तर है उसमें

केशव प्रभृति चतुर्विंशति विष्णु मूर्तियाँ पूर्व की ओर से आरम्भ करके अपने-अपने धाम में विराज रही हैं। यही द्वितीय आवरण हैं। इस आवरण में देवता-संख्या २४ है। इसके बाहर पूर्व की ओर से आरम्भ करके मत्स्यादि दश अवतारों का स्थान है। यही तृतीय आवरण है। यहाँ के देवताओं की संख्या दश है। इसके बाहर चतुर्थ आवरण में पूर्व आदि चारों दिशाओं में सत्य, अच्युत अनन्त व दुर्गा एवं अग्नि प्रभृति चारों कोण में विष्वक्सेन, गणेश, शङ्ख एवं पद्म ये आठ अवस्थित हैं। इसके बाहर पञ्चम आवरण है, उसमें पूर्व आदि चारों दिशाओं में ऋक् प्रभृति चार वेद एवं अग्नि प्रभृति कोणों में सावित्री, गरुड, धर्म एवं यज्ञ ये आठ देवता अवस्थित हैं। षष्ठ आवरण में भगवान् के आयुधों का स्थान निर्दिष्ट हुआ है। पूर्व आदि चारों दिशाओं में शङ्ख, चक्र, गदा व पद्म एवं अग्नि प्रभृति चार कोणों में खड्ग, शार्ङ्ग, हल व मूसल अवस्थित हैं। अन्तिम आवरण में इन्द्रादि दिक्पाल आठों दिशाओं में रक्षा कर रहे हैं। इसके बाद और आवरण नहीं है।

और अप्रकट भेद से दो प्रकार की है। गोलोक के नाम से जिस मूल श्वेतद्वीप की बात कही गई, वह श्री वृन्दावन का अप्रकट प्रकाशमय वैभव है। उसका प्रकट प्रकाशमय वैभव पार्थिव वृन्दावन के रूप में कभी-कभी आविर्भूत हुआ करता है।

इस चतुरस्र श्वेतद्वीप के भीतर और भी एक चतुरस्र दृष्टि-गोचर होता है। उसका नाम महावृन्दावन है। महावृन्दावन के मध्य स्थल में जो सहस्रदल कमलाकार भूमि लक्षित होती है, उसका नाम गोकुल है। गोकुल के ठीक मध्यस्थल में अर्थात् कमल की कर्णिका में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण का निजधाम विराजता है। महावृन्दावन और श्वेतद्वीप के अन्तराल मे असङ्ख्य दिव्यलोक समुद्र-मध्यस्थित द्वीपपुञ्ज की भाँति शोभा पा रहे हैं। ये लोक देखने में ठीक पृथ्वी के ही अनुरूप है। इन सब लोकों के बीच अनन्त प्रकार का वैचित्र्य है। पृथ्वी मे जिस प्रकार विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के मनुष्य, विभिन्न प्रकार का समाज और व्यक्तियों की विभिन्न प्रकृति और भाव लक्षित होते हैं, इन सब दिव्य लोकों में भी उसी प्रकार अनन्त प्रकार के वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते हैं। कहना न होगा कि ये सब भावमय हैं एवं भाव के वैचित्र्य के अनुसार रसास्वादन के सम्बन्ध में विचित्रता सम्पन्न होती है। इन समस्त लोकों में प्रत्येक ही वस्तुतः गोलोक अर्थात् महागोलोक के अन्तर्गत खण्डगोलोक है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में 'Isles of the Blessed' नामक आनन्दमय नित्य विराजमान मुक्त पुरुषों के वसति-स्थल द्वीप या भूमिखण्ड का उल्लेख पाया जाता है; ये सब खण्डगोलोक भी कुछ-कुछ वैसे ही हैं। हमारे देश मे

मध्ययुग के सन्तजनों के साहित्य में भी इसी प्रकार की आनन्द-मय द्वीपमाला का उल्लेख दिखाई पड़ता है। गोलोक धाम के मध्य-विन्दु पर श्री भगवान् का महासिंहासन विराजित है। इस सिंहासन पर समासीन श्रीराधा-कृष्ण युगल-विग्रह का दर्शन करने के लिए सिंहासन के चतुर्दिक् विराजमान असंख्य द्वीपवासी अर्थात् गोलोकवासी भक्तगणों ने अन्तर्मुख रूप से दृष्टि प्रसारित कर रखी है। ये निरन्तर प्रेममयी दृष्टि द्वारा स्वयं भगवान् के स्वरूप के ऐश्वर्य व माधुर्य का पान कर रहे हैं। इस धाम में जरा, मृत्यु, शोक, ताप, विरह प्रभृति कुछ भी नहीं है। यह वैकुण्ठ की ही भाँति त्रिगुण के अतीत ज्योतिर्मय, नित्यानन्दमय अप्राकृत धाम है। इस दिव्य लीलामय परम धाम में ऐश्वर्य व माधुर्य नित्य विराजमान हैं। यहाँ पर श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त हैं एवं धामवासी-गण सभी लक्ष्मी-स्वरूपा कान्ता हैं। जो लोग अन्तरङ्ग न होने के कारण भावगत किञ्चित् व्यवधान में अवस्थित है, वे लोग भी परम्परया कान्तभाव के ही रस का निज-निज स्वभावानुसार आस्वादन करते हैं। ब्रह्मलोक जिस प्रकार ब्रह्म-निर्घोष से अर्थात् प्रणव के झङ्कार से नित्य मुखरित है, वैकुण्ठ धाम जिस प्रकार महाशङ्ख की ध्वनि से नित्य ध्वनिमय है, गोलोकधाम भी इसी प्रकार निरन्तर श्रीकृष्ण के वंशीनाद से प्रतिध्वनित हो रहा है। इसीलिए यहाँ वंशी ध्वनि प्रिय-सखी के रूप में धामवासी भक्तवृन्दों के निकट परिचित है। सखी जिस प्रकार दूती रूप से प्रेमिक को प्रेमास्पद का सन्धान देती है, ठीक उसी प्रकार मुरली-निःस्वन से ही गोलोकवासी भक्तगण भगवान् का सन्धान पाते हैं एवं प्रेमभक्ति के उत्कर्षानुसार इस वंशी

३

शक्ति, धाम, लीला, भाव (ख)

वैकुण्ठ धाम के ऊपर वैकुण्ठ की सारभूत सत्ता को आश्रय करके चिदानन्दमय गोलोकधाम विराजमान है। स्वयं भगवान् के जो मुख्य धाम हैं, वे दो श्रेणियों में विभक्त हैं। इस विभाग का मूल सूत्र लीलागत वैशिष्ट्य है। उसमें से देवलीला के उपयोगी सर्व-प्रधान धाम ही गोलोकधाम नाम से प्रसिद्ध है। नरलीला के उपयोगी धाम द्वारका, मथुरा, एवं गोकुल अथवा श्री वृन्दावन ये त्रिविध हैं। इस सम्बन्ध में विशेष विवरण यथासमय देने की चेष्टा करेंगे।

गोलोकधाम श्रीभगवान् के ऐश्वर्य के पूर्ण विकास का परम क्षेत्र है। वैकुण्ठ धाम चतुर्भुज नारायण का लीला-निकेतन है, किन्तु गोलोकधाम द्विभुज श्री कृष्ण की नित्य विहार-भूमि है। यद्यपि एक ही श्री भगवान्, श्री कृष्ण एवं श्री नारायण दोनों रूपों में प्रकाशमान हैं, तथापि स्वरूप, विग्रह, लीला प्रभृति के माधुर्यगत उत्कर्ष की दृष्टि से श्री कृष्ण ही 'स्वयं' रूप हैं एवं नारायण उनके विलास होने से उनसे एकात्मरूप हैं। गोलोकधाम का अपर नाम श्वेत द्वीप है। वैकुण्ठ-भेद करके इस महाद्वीप में प्रवेश करना होता है। अवश्य ही साक्षाद् रूप से इस धाम में उपनीत होने का मार्ग भी है। जो लोग क्रम-मार्ग का आश्रय

करके प्रत्येक धाम के ऐश्वर्य व आनन्द का उपभोग करते-करते चरमावस्था में गोलोकधाम में उपनीत होते हैं, उन्हें वैकुण्ठ-भेद करके ही गोलोक जाना होता है।

यह महाद्वीप चतुरस्र है। देवर्षि नारद के जिस श्वेतद्वीप-गमन का वर्णन महाभारत में है, वह इस मूल श्वेतद्वीप की छाया है, ऐसा समझा जा सकता है। क्योंकि मूल श्वेतद्वीप, द्विभुज श्री कृष्ण की विहार-भूमि, गोलोक का नामान्तर है। किन्तु जिस श्वेतद्वीप में देवर्षि नारद उपस्थित हुए थे, वहाँ चतुर्भुज नारायण अधिष्ठित थे। नारायण-मूर्ति जिस प्रकार श्री कृष्ण-मूर्ति का विलास स्वरूप है, उसी प्रकार उनका आवासभूत श्वेतद्वीप भी मूल श्वेतद्वीप के विलास रूप में परिगणित होने योग्य है। किन्तु किसी-किसी के मत से महाभारत-वर्णित श्वेतद्वीप छायारूप नहीं है। वही मूल श्वेतद्वीप अथवा गोलोकधाम है।

हमने वैकुण्ठधाम की मध्य-भूमि पर विराजमान मूल वैकुण्ठ पुरी का महावैकुण्ठ कहकर उल्लेख किया है। कोई-कोई गोलोक-धाम का भी महावैकुण्ठ कहकर निर्देश करते हैं। जो वैकुण्ठ का सारभूत है, उसे महावैकुण्ठ कहना असङ्गत नहीं। हाँ, समझने की सुविधा के लिए दोनों धामों का पृथक् नाम से निर्देश करना ही अधिक युक्तिसंगत है।

यह गोलोक-धाम श्री वृन्दावन का विभूति-स्वरूप है। श्री वृन्दावन की अनन्त प्रकार विभूतियों में से कुछ-एक प्रकाशमय है और कुछ प्रकाशमय नहीं हैं। उनके विलासमय स्वांशमय प्रभृति अनेक प्रकार के अवान्तर भेद हैं। प्रकाशमय विभूति भी प्रकट

और अप्रकट भेद से दो प्रकार की है। गोलोक के नाम से जिस मूल श्वेतद्वीप की बात कही गई, वह श्री वृन्दावन का अप्रकट प्रकाशमय वैभव है। उसका प्रकट प्रकाशमय वैभव पार्थिव वृन्दावन के रूप में कभी-कभी आविर्भूत हुआ करता है।

इस चतुरस्र श्वेतद्वीप के भीतर और भी एक चतुरस्र दृष्टिगोचर होता है। उसका नाम महावृन्दावन है। महावृन्दावन के मध्य स्थल में जो सहस्रदल कमलाकार भूमि लक्षित होती है, उसका नाम गोकुल है। गोकुल के ठीक मध्यस्थल में अर्थात् कमल की कर्णिका में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण का निजधाम विराजता है। महावृन्दावन और श्वेतद्वीप के अन्तराल मे असङ्ख्य दिव्यलोक समुद्र-मध्यस्थित द्वीपपुञ्ज की भाँति शोभा पा रहे हैं। ये लोक देखने में ठीक पृथ्वी के ही अनुरूप है। इन सब लोकों के बीच अनन्त प्रकार का वैचित्र्य है। पृथ्वी में जिस प्रकार विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के मनुष्य, विभिन्न प्रकार का समाज और व्यक्तियों की विभिन्न प्रकृति और भाव लक्षित होते हैं, इन सब दिव्य लोकों में भी उसी प्रकार अनन्त प्रकार के वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होते हैं। कहना न होगा कि ये सब भावमय हैं एवं भाव के वैचित्र्य के अनुसार रसास्वादन के सम्बन्ध में विचित्रता सम्पन्न होती है। इन समस्त लोकों में प्रत्येक ही वस्तुतः गोलोक अर्थात् महागोलोक के अन्तर्गत खण्डगोलोक है। प्राचीन ग्रीक साहित्य में 'Isles of the Blessed' नामक आनन्दमय नित्य विराजमान मुक्त पुरुषों के वसति-स्थल द्वीप या भूमिखण्ड का उल्लेख पाया जाता है, ये सब खण्डगोलोक भी कुछ-कुछ वैसे ही हैं हमारे देश में

मध्ययुग के सन्तजनों के साहित्य में भी इसी प्रकार की आनन्द-मय द्वीपमाला का उल्लेख दिखाई पड़ता है। गोलोक धाम के मध्य-बिन्दु पर श्री भगवान् का महासिंहासन विराजित है। इस सिंहासन पर समासीन श्रीराधा-कृष्ण युगल-विग्रह का दर्शन करने के लिए सिंहासन के चतुर्दिक् विराजमान असंख्य द्वीपवासी अर्थात् गोलोकवासी भक्तगणों ने अन्तर्मुख रूप से दृष्टि प्रसारित कर रखी है। ये निरन्तर प्रेममयी दृष्टि द्वारा स्वयं भगवान् के स्वरूप के ऐश्वर्य व माधुर्य का पान कर रहे हैं। इस धाम में जरा, मृत्यु, शोक, ताप, विरह प्रभृति कुछ भी नहीं है। यह वैकुण्ठ की ही भाँति त्रिगुण के अतीत ज्योतिर्मय, नित्यानन्दमय अप्राकृत धाम है। इस दिव्य लीलामय परम धाम में ऐश्वर्य व माधुर्य नित्य विराजमान हैं। यहाँ पर श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त हैं एवं धामवासी-गण सभी लक्ष्मी-स्वरूपा कान्ता हैं। जो लोग अन्तरङ्ग न होने के कारण भावगत किञ्चित् व्यवधान में अवस्थित हैं, वे लोग भी परम्परया कान्तभाव के ही रस का निज-निज स्वभावानुसार आस्वादन करते हैं। ब्रह्मलोक जिस प्रकार ब्रह्म-निर्घोष से अर्थात् प्रणव के झङ्कार से नित्य मुखरित है, वैकुण्ठ धाम जिस प्रकार महाशङ्ख की ध्वनि से नित्य ध्वनिमय है, गोलोकधाम भी इसी प्रकार निरन्तर श्रीकृष्ण के वंशीनाद से प्रतिध्वनित हो रहा है। इसीलिए यहाँ वंशी ध्वनि प्रिय-सखी के रूप मे धामवासी भक्तवृन्दों के निकट परिचित है। सखी जिस प्रकार दूती रूप से प्रेमिक को प्रेमास्पद का सन्धान देती है, ठीक उसी प्रकार मुरली-निःस्वन से ही गोलोकवासी भक्तगण भगवान् का सन्धान पाते हैं एवं प्रेमभक्ति के उत्कर्षानुसार इस वंशी

ध्वनि का अनुसरण करके स्वयं भगवान् का साक्षात्कार-लाभ करते हैं। संगीत एवं नाट्य यहां की सहज सम्पत्ति है। इस धाम में सर्वदा एवं सर्वत्र ही विभिन्न राग व रागिणियाँ तत्तत्-भावानुसार ध्वनित हो रही हैं। नाट्य कला यहां स्वाभाविक रूप से ही स्फुरित होती है। यहाँ के वृक्षमात्र कल्पतरु हैं, इनके पास जिसकी भी इच्छा की जाती है, वह तभी प्राप्त हो जाता है। यहाँ की समग्र भूमि ही चिन्तामणि है। यहाँ जिसका चिन्तन किया जाता है, वह अविलम्ब-अबाधित रूप से दिव्य उज्ज्वल रूप से स्फुरित होता है। भाव मूर्त होकर भावना के साथ-साथ आत्म-प्रकाश करता है। यहाँ का जलमात्र ही अमृत है। जल के अमृत-मय स्वरूप की ठीक-ठीक यहीं उपलब्धि होती है। यहाँ नित्य वसन्त विराजमान है। ग्रीष्म के उत्कट ताप एवं शिशिर के तीव्र हिम दोनों ही वसन्त के अनुष्ण व अशीत स्पर्श रूप से भक्त गणों का आनन्द-वर्धन करते हैं। सुतरां यहाँ एक ओर जैसे जरा व मृत्यु रूप काल का विकार नहीं है, दूसरी ओर इसी प्रकार विभिन्न ऋतुओं के रूप में भी वह विकार परिदृष्ट नहीं होता। जिस महाज्योति से यह महाद्वीप सर्वदा प्रकाश पा रहा है, वह चिदानन्दमय स्निग्ध ज्योतिः ह्लादिनी शक्ति से निर्गत ज्योत्स्ना-राशि है, ज्ञान का प्रखर आलोक नहीं। इस स्निग्ध ज्योति का ही भक्त-गण रस-रूप में आस्वादन करते हैं। वहाँ गा अर्थात् कामधेनु रूप से चिन्मय किरणधारा अनवरत अमृत रूप से क्षीर-वर्षण कर रही है। यहाँ पर काल की गति अवरुद्ध है, काल यहाँ अचल है। निमेषार्धकाल भी यहाँ व्यतीत नहीं होता, अर्थात् यहाँ निमेष एक ही रहता है—वह खण्डित होकर अर्ध-निमेष

रूप में परिणित नहीं होता। दृष्टि अर्थात् लक्ष्य पूर्ण रूप से निर्निमेष न होने तक यह परमधाम प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होता। निमेष पतित होने पर ही अर्थात् अचल काल के चञ्चल होने से ही वर्तमान काल अतीत में परिणत होता है। सुतरां जहाँ काल का चाञ्चल्य नहीं है, वहाँ वर्तमान-रूप महाकाल ही नित्य विद्यमान रहता है। यह विशुद्ध वर्तमान है—इसके एक ओर अतीत एवं दूसरी ओर अनागत नहीं है। यही योगियों का महाक्षण है—जो कल्पना से ऊपर मनोमय विकल्प-राज्य के ऊपर नित्य सिद्ध व स्वयं प्रकाश रूप से विद्यमान है। जहाँ दृष्टि अर्थात् इन्द्रियमात्र निःस्पन्द है, प्राण गतिहीन एवं मन स्तम्भित है, वहाँ एकमात्र चित्शक्ति चित्स्वरूप में प्रतिष्ठित रूप से नित्य क्रीड़ा करती है। यह चित्शक्ति की क्रीड़ा ही भगवान् का नित्य विहार है, जिसका विशेष वर्णन वृन्दावन-लीला में किया जायेगा।

महागोलोक के मध्यस्थान में श्रीकृष्ण का अन्तःपुर अवस्थित है। अन्तःपुर के बाहर चारों ओर असंख्य सभागृह विद्यमान हैं। गोकुल-पद्म के पत्र-रूप वन एवं उपवन के बहिर्देश में असंख्य पुर, कमल के चारों ओर उज्ज्वल दीप-पुञ्ज की भाँति शोभा पा रहे हैं। इन सब पुरों में से महावृन्दावन एवं केलि-वृन्दावन में जाने-आने के उपयोगी विभिन्न मार्ग हैं। केलि वृन्दावन अनन्त हैं, पर उनका समष्टिभूत महावृन्दावन एक है। जिन सब पुरोगामी मार्गों की बात कही गई है, उनमें से प्रत्येक मार्ग कमल की एक-एक दल-सन्धि में आकर युक्त हुआ है। श्रीकृष्ण का गोष्ठ व गोचारण-भूमि इसी कमल को घेर कर चारों ओर अवस्थित है।

जिस मध्यभूमि पर अन्तःपुर की स्थिति की बात कही गई है। उसमें सात कक्ष हैं। इनमें से जो कक्ष सभी के अन्तरतम प्रदेश में अवस्थित है, उसका अन्तर्गत प्राङ्गण अति विशाल है। इस कक्ष में ही महामन्दिर प्रतिष्ठित है। इस विशाल प्राङ्गण के चारों ओर चार कक्ष हैं। प्रत्येक कक्ष में एक-एक आँगन है। आँगन के चारों ओर गृह-पंक्ति शोभा पा रही है। प्रत्येक कमरे में ही सामने व पीछे दोनों ओर द्वार हैं। पहला कक्ष महाप्राङ्गण की पूर्व दिशा में है, जो व्रजराज नन्द की आवास भूमि है। ठीक उसी के समसूत्र में महाप्रांगण के पश्चिम में जो कक्ष अवस्थित है, वह द्वितीय है। इसमें श्रीकृष्ण की जननी यशोदा रानी रहती हैं। महाप्रांगण के उत्तर की ओर तीसरा कक्ष है। यह रोहिणी माता का आवास-स्थल है। इसी के समसूत्र में दक्षिण की ओर चतुर्थ कक्ष में जो गृह (कमरे) हैं, वे आत्मीयजनों के सत्कार के लिए निर्दिष्ट हैं। भोजन व पान की सामग्री द्वारा ये सब गृह परिपूर्ण हैं। तृतीय व चतुर्थ कक्षाओं में अन्यान्य गृहों के साथ शिल्पशाला है। शिल्पशाला में सखी-गण शृङ्गार-उपयोगी नाना प्रकार की शिल्प रचना करती रहती हैं। इसी में उत्तर की ओर जो शिल्पशालाएँ हैं, उनमें बलराम की अनुगत सखियाँ काम करती हैं।

उसी प्रकार दक्षिण की शिल्प-शाला में श्रीकृष्ण की वर्गस्थ सखियाँ अपनी-अपनी यूथेश्वरी के अनुगत हैं। एवं वे यूथेश्वरीगण के अनुराग प्रभृति विषय को लेकर निरन्तर पदगान किया करती हैं। केवल यही नहीं, रसोद्‌बोध के उपयोगी सभी

कार्य इन सब कला-भवनों में सम्पन्न होते हैं। बलराम व श्री-कृष्ण का प्रेयसीवर्ग यथाक्रम से महाप्रांगण के उत्तर व दक्षिण दिशाओं में अवस्थान करता है। बलराम का लीलास्थल, जो रामघाट नाम से प्रसिद्ध है, वह उत्तर की ओर ही अवस्थित है। गोवर्धन-धारी श्रीकृष्ण की क्रीडाभूमि दक्षिण की ओर अवस्थित है। इसके अतिरिक्त उत्तर में बलराम एवं दक्षिण में श्रीकृष्ण के उपवेशन के लिए दो पृथक् कक्ष निर्दिष्ट हैं। प्रत्येक कक्ष मे असंख्य गृह वर्तमान हैं। कोई एक मंजिल का है, कोई दो मंजिल का, इसी प्रकार क्रमशः तीन, चार, सात मंजिल तक के गृह शोभा पा रहे हैं। गृहरचना का शिल्प अत्यद्भुत है। एक तरफ जिस प्रकार का गृह अवस्थित है, उसकी विपरीत दिशा में भी ठीक उसी के अनुरूप गृह विन्यस्त हुआ है। अर्थात् एकमंजिले गृह की की समान्तराल भूमि पर विद्यमान घर उसी के अनुरूप एकमंजिले हैं। इसी प्रकार क्रमशः आगे अन्यान्य गृहों के सम्बन्ध में भी समझना होगा। प्रत्येक कक्ष में एक ही व्यवस्था है। कहना न होगा, जो गृह महाप्रांगण के जितना सन्निकट है, वह उतना ही ऊँचा है। इसी प्रकार महाप्रांगण के चारों तरफ समस्त कक्ष विन्यस्त हैं। महाप्रांगण के ठीक मध्यस्थल में क्रमोत्थित सोपानावली से भूषित यह विराट् मन्दिर है। यही श्रीभगवान् का मुख्य प्रासाद है। यह समग्र गोलोक धाम के मुकुट की भांति अत्यन्त मनोहर है। चारों तरफ़ जो सब सोपान शोभा पा रहे हैं, वे प्रासाद के ऊपर चढ़ने के उपायभूत है। ये सब सोपान चारों दिशाओं से ही उठकर मध्यस्थल में परिसमाप्त होते हैं। वहीं पर एक रन्ध्र-स्वरूप अवकाशस्थान है जिसके ऊर्ध्वभाग में शुक्लवर्ण द्वार

स्वप्रकाश ज्योति में उद्भासित है। यह प्रासाद देखने में ठीक सुमेरु के समान नयनरंजन है। चारों तरफ़ असंख्य मणिजटित स्तम्भ हैं। प्रत्येक स्तम्भ में एक-एक पताका झूल रही है। सबसे ऊपर निरालम्बरूप से मानों किसी को स्पर्श न करता हुआ स्वयं भगवान् का श्रीविग्रह शोभा पा रहा है। इस देह की कान्ति से केवल अन्तःपुर नहीं, चारों ओर की वनराजि व समस्त लीलाकुञ्ज, असंख्य पुर व द्वीपपुञ्ज, यहाँ तक कि समग्र महागोलोक धाम या श्वेतद्वीप उज्ज्वल ज्योति में प्रकाशित हो रहा है। यह महाज्योति किञ्चित् मन्द होकर व्यापी वैकुण्ठ व महावैकुण्ठ को उद्भासित कर रही है। इससे निःसृत किरणमाला श्रीभगवान् की अंग-कान्ति रूप ज्योतिर्मय ब्रह्मस्वरूप में सिद्धलोक के नाम से प्रसिद्ध है। वही ज्योति कारणवारि को स्पर्श करके साक्षात् और परम्परया अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को प्रतिभासित कर रही है।

महावृन्दावन में अनेक कुञ्ज-बहुल केलिवन विद्यमान हैं। ये सब वन अत्यन्त गुप्त एवं भगवान् के सिवाय अन्य की दृष्टि के अगोचर हैं। अन्तरङ्ग गण, यहाँ तक कि भगवान् के महिषी-वर्ग भी इन सब स्थानों का सन्धान नहीं जानते। महिषी-वर्ग लक्ष्मी-स्वरूप हैं, उनकी भक्ति में ऐश्वर्य-भाव का प्राधान्य है। इसीलिए वे सब ऐश्वर्यमय राज-प्रासाद में प्रतिष्ठित रहकर ऐश्वर्यमय भगवान् की उपासना करती हैं, माधुर्य-लीला की निकेतन-स्वरूप वनस्थली का संधान नहीं जानतीं। वस्तुतः यह समस्त कुञ्जमय वनराजि भगवान् के उस प्रेयसी-वर्ग के

लिए अभिप्रेत है, जो समर्था रति का अधिकार प्राप्त करके उसके क्रम-विकास के पथ पर भगवान् के साथ माधुर्य-मय विलास में प्रवृत्त हुआ है। इस विलास की पूर्ण परिणति महाभावमयी श्रीराधा में है। महिषीगण समञ्जसा रति की प्रतिमूर्ति हैं। अत: इन सब कुञ्जों में प्रवेश-लाभ नहीं कर सकतीं। वनभूमि की क्रीडा अत्यन्त गुप्त एवं गोपनीय है। पौर्णमासी-रूपिणी योगमाया के अन्तराल में यह रहस्य-लीला व रसविलास निरन्तर संघटित हो रहा है।

गोकुल-पद्म के एक-एक दल में जो सब केलिवन वर्तमान हैं, उनमें भगवान् के वे सब भक्तगण वास करते हैं, जो स्वयं कान्ताभाव से कान्तरूपी भगवान् की रागमार्ग से उपासना करते हैं। इस कमल के किञ्जल्क प्रदेश में उक्त प्रेयसीवर्ग के अंशस्वरूप भक्तगण अवस्थित हैं।

श्री अथवा महालक्ष्मी, भू एवं लीला भगवान् की ये तीन मुख्य शक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। श्री अथवा महालक्ष्मी का नामान्तर है रमा। ये ज्ञानानन्द-स्वरूपिणी एवं भगवान् की परमा शक्ति हैं। इन्हीं से आधार-शक्ति एवं लीला-शक्ति—ये दोनों आविर्भूत होती हैं। आधारशक्ति का नामान्तर धरा अथवा धरणी है। इनका ही साधारणत: भूदेवी कहकर वर्णन किया जाता है। इस धरा-रूप मूल प्रकृति से महत्तत्त्व प्रभृति सभी तत्त्व आविर्भूत होते हैं। इस शक्ति द्वारा ही अखिल विश्व विधृत है। धरा अथवा पृथिवी केवल एक ब्रह्माण्ड का आधार नहीं, ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का एकमात्र आधार हैं। ये सब ब्रह्माण्ड भगवान् के

रोमकूप में विद्यमान हैं। भगवान् ने महावराह रूप में इस धरा-रूप भू-शक्ति का ही उद्धार किया था। यह गोरूप एवं भूमिरूप में युगपत् आविर्भूत होती है। यह गौ कामधेनु रूपा एवं यह भूमि चिन्तामणि-स्वरूपा है। भगवान् जब स्वरूपभूता महाशक्ति लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करने की इच्छा करते हैं, तब महालक्ष्मी गोपी-रूप में, भगवान् गोप-रूप में एवं भूदेवी गोलोक-रूप में आत्मप्रकाश करती हैं। उनकी लीलाशक्ति भगवत्स्व-रूप के आत्मभूत आनन्द को अनन्त प्रकार से उच्छलित करती हैं। यह लीला आत्मलीला है। यह अत्यन्त रहस्यमय एवं दुर्लक्ष्य है। योगिगण, ऋषिगण एवं देवगण भी, ध्यान के द्वारा भी इसका सन्धान नहीं पाते।

श्रीभगवान् धराशक्ति द्वारा आत्मलीला के उपयोगी एक महापीठ को विनोद के लिए पृथक् रूप से गोलोक में ही प्रकाशित करते हैं। यह पीठ ही सहस्रदल कमलाकार माथुर मण्डल है। इसका अन्तर्वर्ती विभाग गोकुल नाम से प्रसिद्ध है। यह पीठ ही श्रीवृन्दावन-तत्त्व का रहस्य है। यह भक्त के लिए अनादि काल से भगवान् की अनादि इच्छा से रचित हुआ वर्तमान है। ज्ञानी अथवा कर्मी यहाँ प्रवेश-पथ नहीं पाते। इस पीठ का चारों ओर वेष्टन करके निरन्तर गन्धर्वगण व अप्सरो-गण नृत्य-गीत द्वारा पूर्णानन्द का विधान कर रहे हैं। यहाँ के पुरुष व नारी सभी किशोर वयस्क हैं, वे सभी भगवान् की स्वरूप-शक्ति से प्रकट हुए होने से भगवान् के ही अंश हैं। सुखमय वसन्त यहाँ नित्य विराजित रहता है। वनभूमि निरन्तर सुकण्ठ

विहगकुल की काकली द्वारा मुखरित है। मन्द मन्द समीरण के साथ पद्मरेणु विकीर्ण होने से समग्र योगपीठ निरन्तर माधुर्यमय पद्मगन्ध से सुरभित है। यहाँ शोक अथवा दुःख, जरा अथवा मृत्यु, क्रोध, मात्सर्य अथवा अहङ्कार कुछ भी विद्यमान नहीं। यह गुणातीत प्रेमभक्ति स्वरूपिणी वृन्दा-देवी द्वारा सतत संरक्षित रहता है। वृन्दावनस्थ यह पीठ ही राधा-गोविन्द की लीलाभूमि है। यह गुह्य से भी गुह्यतर है, एवं बाह्य व आन्तर रूप से गोलोक में नित्य प्रतिष्ठित है। यह एक के बाद एक सात आव-रणों द्वारा वेष्टित है। इस महापीठ के मध्य ध्वज-वितान-मण्डित माणिक्यमय मण्डप शोभा पा रहा है, जिसके केन्द्र स्थल में नाना-रत्नखचित दर्पण-सदृश अष्टकोण योगपीठ प्रतिष्ठित है। यह सहस्र स्तम्भों से विधृत एवं असंख्य तोरणावली द्वारा सुशोभित है। इसके ऊपर माणिक्यमय सिंहासन पर अष्टदल कमल है—जिसकी कर्णिका व केशर-राजि पर श्रीगोविन्द अपने प्रियतम भक्त के साथ विहार करते हैं। उक्त कर्णिका पर वीरासन में गौर-श्यामात्मक अद्वैत तेज प्रकाशमान है। अर्थात् श्रीराधा-गोविन्द की युगलमूर्ति इस कर्णिका पर परस्पर जड़ित रूप से भुवन-मोहन सौन्दर्य से दिग् दिगन्तर को आलोकित करती हुई प्रकाश पा रही है। यह गौर तेज श्रीराधा एवं श्याम तेज श्रीकृष्ण है। जल में माधुर्य की भाँति, वायु में स्पर्श की भाँति, चन्द्र मे चन्द्रिका की भाँति, अग्नि में दाहिका शक्ति की भाँति—श्रीकृष्ण स्वरूप में श्रीराधा रूपिणी स्वरूपशक्ति अभिन्न रूप से विराजित है। मेघ के अङ्क मे जैसे सौदामिनी शोभा पाती है, ये भी ठीक उसी प्रकार हैं। कमल के अष्ट दलों पर ललितादि अष्ट सखिर

अपने-अपने स्वभाव में अवस्थित हैं। पूर्व में विशाखा, पश्चिम में ललिता, उत्तर में श्रीमती एवं दक्षिण में पद्मा। अग्निकोण में शैब्या, नैर्ऋत कोण में भद्रा, वायुकोण में श्यामला एवं ईशान-कोण में हरिप्रिया। इन अष्ट शक्तियों के पार्श्व देश में और भी आठ शक्तियाँ प्रकट हैं, यथा चन्द्रावली (चन्द्ररेखा), वृन्दा, वदन सुन्दरी, श्रीप्रिया, मधुमती, शशिलेखा, कुञ्जरी एवं सुमुखा। ये षोडश शक्तियाँ ही प्रधान हैं। इन सब शक्तियों का नाम एवं सन्निवेश अनेक प्रकार से है एवं हो सकता है। उसमें तत्त्वगत कोई पार्थक्य नहीं होता। पूर्ववर्णित योगपीठ चारों ओर से महारत्न-किरणों द्वारा वेष्टित है। संवत्सर की अवयव स्वरूप एक-एक ऋतु में पीठ एक-एक विशिष्ट आभा से उद्भासित होता है। तदनुसार एक वर्ष-चक्र के आवर्तन-काल में यहाँ ६ प्रकार की आभा क्रमशः दृष्टिगोचर होती है। केवल इतना ही नहीं, प्रत्येक ऋतु में यद्यपि व्यापक आभा उस ऋतु के अवसान काल पर्यन्त एक ही रहती है, तब भी इस व्यापक आभा के अन्तर्गत रूप में, प्रत्येक अहोरात्र में, क्रमशः ६ बार इस पीठ का वर्ण-परिवर्तन होता है। इस योग-पीठ की जो विभिन्न संज्ञाये सिद्ध-समाज में प्रचलित हैं, उनमें से—आनन्दमण्डप, साम्राज्य-मण्डप, सौभाग्यमण्डप, शृंगारमण्डप, सुरतमण्डप, श्रीरत्न मण्डप, महामाधुर्य-मण्डप व राधा-सौभाग्यमण्डप—ये आठ प्रधान हैं। इस पीठ में श्री राधागोविन्द की गुह्य लीला दिव्य व अदिव्य समग्र जगत् की दृष्टि के अगोचर अनुष्ठित हो रही है। इस लीला का अवसान होने पर श्री राधागोविन्द अद्वय आत्मस्वरूप में विश्राम करते हैं। उस समय राधा अथवा

गोविन्द किसी का विग्रह प्रतिभात नहीं होता। एक अखण्ड व अनन्त चिन्मय रस की सत्ता में विग्रहद्वय अस्तमित होते है। इस अद्वय रस-घन भाव को आश्रय करके ही महाचैतन्य का उन्मेष होता है। किन्तु यह सबके लिए नहीं है।

गोकुल में सप्तकक्षामय जिस गोलाकार अन्तरंग भगवद्धाम का वर्णन किया गया है, उसका वेष्टन करके चारों ओर अनन्त कोटि गोपी-गण का वासस्थल है। सभागृह की बात पहले ही कही गई है। इन सब असंख्य सभागृहों का पञ्चकक्षात्मक सन्निवेश उपलब्ध होता है, अर्थात् सर्वत्र ही पञ्चकक्षात्मक समष्टिरूप मे सभागृह विन्यस्त हैं। चारों ओर चार कक्षा हैं, मध्य में महाप्रांगण है। प्रत्येक कक्षा में भी उसी प्रकार चारों ओर गृह-पंक्ति हैं और मध्य में खण्ड-प्रांगण है। महाप्रांगण मूल में एक ही है, खण्ड-प्रांगण अनन्त हैं। यद्यपि आपात दृष्टि में प्रत्येक पाँच कक्षाओं के मध्यस्थल में ही महाप्रांगण है, यह सत्य है, तथापि पारमार्थिक दृष्टि में एक ही महाप्रांगण प्रत्येक पञ्च-कक्षा के मध्यस्थलवर्ती रूप में तत्तत्कक्षानिवासी भक्त-गणों को प्रतीति-गोचर होता है। इसी से समझा जा सकेगा कि यद्यपि गृह-संख्या अनन्त है, कक्षासंख्या भी अनन्त है, यहाँ तक कि खण्ड प्रांगण संख्या भी अनन्त है, तथापि प्रत्येक खण्ड-प्रांगण से, या प्रति कक्षा से, अथवा प्रत्येक गृह से, महाप्राँगण में जाने का साक्षात् मार्ग विद्यमान है। यह अत्यन्त गुह्य तत्त्व है।

पिण्ड में प्रत्येक चक्र के केन्द्र में जो बिन्दु उपलब्ध होता है, समग्र ब्रह्माण्ड-रूपी चक्र के केन्द्र में महाबिन्दुरूप में उसी बिन्दु को

ही पाया जाता है। बिन्दु के मध्य ही महाबिन्दु का दर्शन होता है, एवं महाबिन्दु में भी बिन्दु की स्थिति विद्यमान है, यह समझा जा सकता है। स्व-स्व प्रांगण को आश्रय करके प्रसिद्ध मार्ग द्वारा महाप्रांगण में प्रवेश किया जाता है, इसी प्रकार का गुप्त पथ भी है। इस साक्षाद् उपलब्धि में कोई अन्तराय नही रहता।

महावृन्दावन में जो सब क्रीडावन विद्यमान हैं, उनमे से प्रत्येक में नाना प्रकार के कुञ्ज विराजित हैं। अन्तरंग भक्त-गणों की तृप्ति के लिए श्री राधागोविन्द की कुञ्जलीला इन सब कुञ्जों में अनुष्ठित होती है। सभी कुञ्ज स्वतःसिद्ध व स्वय मे विश्रान्त हैं। अर्थात् किसी विशिष्ट कुञ्ज की लीला में अन्य कुञ्ज के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता; पुनः सभी कुञ्जों के परस्पर सम्बद्ध रूप में भी भगवल्लीला होती है।

इसीलिए यद्यपि बाह्य दृष्टि से एक कुञ्ज के साथ अपर किसी कुञ्ज का कोई सम्पर्क नहीं है, तथापि प्रत्येक कुञ्ज के साथ प्रत्येक का गुप्त सम्बन्ध है, एवं अत्यन्त गुप्त सञ्चरण मार्ग भी है। एक-एक वन भावानुयायिनी प्रकृति का एक-एक प्रतीक है। भाव अनन्त होने से केलि-काननों की वास्तविक संख्या भी अनन्त ही है। किन्तु दृष्टि भेद से भाव का जैसा श्रेणी-विभाग सम्भव है, ठीक उसी प्रकार केलिवन का भी श्रेणी-विभाग हो सकता है। रसिक व भावुक गण अपने-अपने दृष्टिकोण से इस प्रकार का विभाग कर भी लेते हैं। एक ही प्रकृति के मूल में अभिन्न रहने पर भी विलास के वैशिष्ट्य के अनुसार उसमें आस्वादन का वैचित्र्य हुआ करता

रूप में चारों ओर विकीर्ण होती है, ठीक उसी प्रकार गोकुल-पद्म से छटा निर्गत होकर बहिरंग-स्वरूप पुरमण्डल पर्यन्त प्रसारित है। लूतातन्तु की भांति ऐसे असंख्य पथ चतुर्दिक् विद्यमान हैं।

श्रीवृन्दावन के वर्णन के प्रसंग में श्यामकुण्ड, राधाकुण्ड, गोवर्धन पर्वत, यमुना, इन कुछेक विषयों पर भी संक्षेप में कुछ कहना आवश्यक है। श्यामकुण्ड व राधाकुण्ड स्वरूपतः परस्पर पृथक् रूप से अवस्थित रहने पर भी दोनों के बीच संयोग है। पूर्व में श्यामकुण्ड और पश्चिम में राधाकुण्ड अवस्थित हैं। दोनो कुण्डों का योग कराने वाला सेतु एक कुण्ड से दूसरे में जल-सञ्चार के लिए विद्यमान है। राधाकुण्ड एक चतुष्कोण सरोवर है, जिसमे स्वच्छ जलराशि निरन्तर शोभा पा रही है। इसके चारों ओर चार घाट एवं चार मणिमय मन्दिर स्थापित हैं। प्रत्येक घाट के दोनों पार्श्वों पर रत्नमय कुटीर है। चारों ओर की भूमि से जल में अवतीर्ण होने के लिए मणिरत्नमय सोपान श्रेणी विन्यस्त है। राधाकुण्ड के आठ तरफ ही आठ कुञ्ज हैं। पूर्व में कदम्ब कुञ्ज, पश्चिम में आम्रकुञ्ज, दक्षिण में चम्पककुञ्ज एवं उत्तर में गोकुलकुञ्ज। उसी प्रकार अग्नि, नैऋत, वायु व ईशान इन चार कोणों में भी चार पृथक्-पृथक् माधवीकुञ्ज शोभा पा रहे हैं। चतुःशाला उसकी प्रान्तभूमि पर विस्तारित है। राधाकुण्ड के पूर्व की ओर श्यामकुण्ड है। सेतु के द्वारा दोनों कुण्डों का सगम है, यह एक बार पहले ही कहा गया है। कुण्ड के चारों तरफ एवं प्रत्येक कुञ्ज को घेर कर पुष्पवन विराजित है। इन सब उद्यानों में असख्य वर्णों के नाना प्रकार के गन्धविशिष्ट सुन्दर-

सुन्दर पुष्प प्रस्फुटित हुए रहते हैं। छहों ऋतुओं के पुष्प समान भाव से इन सब उद्यानों में सब समय उपलब्ध होते हैं। पुष्प वन के साथ-साथ असंख्य उपवन चारों ओर से घेरे हुए हैं, जिनमें सब समय छहों ऋतुओं के फल शोभा पाते हैं। इन सब वन व उपवनों में नाना-जातीय पक्षी निरन्तर भगवान् का गुणगान कर रहे हैं। पुष्प व फल की भाँति असंख्य प्रकार की लताओं के वितान भी उच्च, निम्न, आवृत व उन्मुक्त प्रभृति विभिन्न प्रकार से शोभा पा रहे हैं। कुण्ड-सलिल में विभिन्न वर्णों के श्वेत, नील, रक्त, पीत आदि नाना पद्म प्रस्फुटित हैं। हंस-हंसी, चक्रवाक-चक्रवाकी, डाहुक-डाहुकी प्रभृति क्रीडा कर रहे हैं। उत्तर दिशा के घाट पर अनङ्गमञ्जरी का कुञ्ज है। उसके पास ही ललिता का कुञ्ज है। इस कुञ्ज को राजपाट-धाम कुञ्ज कहते हैं। इस कुञ्ज में मध्याह्नकाल में राधाकृष्ण विश्राम करते है। यहाँ पर सेवा का उपयोगी समस्त द्रव्य-सम्भार सर्वदा प्रस्तुत रहता है। इससे संलग्न एक चित्र-शाला है। नाना प्रकार के चित्र एवं वेशभूषा उसमें सर्वदा ही उपस्थित रहते हैं। इस कुञ्ज का अपर नाम है—जो भक्तसमाज में विशेष रूप से प्रसिद्ध है—ललितानन्ददा कुञ्ज। इसके बाहर आठ ओर आठ कुञ्ज हैं। एक-एक कुञ्ज का वर्ण एक-एक प्रकार का है। इसीलिए आठ दिशाओं में निरन्तर आठ वर्ण क्रीडा कर रहे हैं। जिस कुञ्ज में जो वर्ण प्रतिभासित होता है, वहाँ की तरु-लता, पशु-पक्षी सभी वही वर्ण धारण करते हैं। राधा-कृष्ण इस कुञ्ज मे प्रवेश करने के समय उसी वर्ण में रञ्जित होकर प्रकाशित होते हैं। सिद्ध भक्तगणों की दृष्टि के अनुसार इन आठ कुञ्जों का

विन्यास इस प्रकार है—पूर्व में चित्रा का कुञ्ज, पश्चिम में तुङ्गविद्या का, उत्तर में ललिता का, दक्षिण में चम्पकलता का, अग्निकोण में इन्दुरेखा का, नैऋत में रङ्गदेवी का, वायुकोण में सुदेवी का, एवं ईशानकोण में विशाखा का कुञ्ज शोभा पा रहा है। ललिता और विशाखा को छोड़कर शेष छः कुञ्जों का वर्ण इस प्रकार है—चित्रा का चित्रवर्ण, इन्दुरेखा का श्वेतवर्ण, चम्पकलता का पीतवर्ण, रङ्गदेवी का श्यामवर्ण, तुङ्गविद्या का लोहितवर्ण, सुदेवी का हरिद्वर्ण।

राधाकुण्ड की भाँति श्यामकुण्ड में भी आठ नर्मसखाओं के आठ कुञ्ज हैं। श्यामकुण्ड के वायुकोण में जो घाट है, उसका नाम मानस-पावनघाट है, उसमें स्वयं श्री राधा स्नान करती हैं। उत्तर दिशा के घाट का नाम मधुर घाट है, उसमें ललिता स्नान करती हैं। ईशानकोण में उज्ज्वल घाट है, वहाँ विशाखा स्नान करती हैं। ठीक इसी प्रकार अर्जुन, गन्धर्व, कोकिल, विदग्ध, सनन्द प्रभृति सखाओं के घाट पर उनकी अपनी-अपनी सखियाँ स्नान करती हैं। सखा व सखी के बन्धन-सूत्र का रहस्य इससे समझा जा सकेगा।

गोवर्धन पर्वत अप्राकृत लीला का एक विशिष्ट क्षेत्र है। इसके साथ, यहाँ से निःसृत मानसगङ्गा का सविशेष सम्बन्ध है। वृन्दावन-तल-वाहिनी श्रीयमुना का स्थान भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विरजा-भेद न होने तक जैसे वैकुण्ठ-धाम में प्रवेश नहीं होता, ठीक उसी प्रकार यमुना-भेद न कर पाने तक

स्वयं भगवान् के धाम में प्रवेश नहीं पाया जाता। आध्यात्मिक दृष्टि से यमुना सुषुम्णा-स्थानापन्न है, यह बात बृहद्ब्रह्मसंहिता में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। सुषुम्णा को आश्रय न करके जिस प्रकार योगी का संचार सम्भव नहीं होता, ठीक उसी प्रकार यमुना को आश्रय न करने पर भगवान् की नित्यलीला का स्थान आत्म-प्रकाश नहीं कर सकता। यमुना सूर्यकन्या-रूप से प्रसिद्ध है, कालात्मक यम भी सूर्य के तनय हैं। सुतरां काल के अतीत नित्यधाम कालशक्ति यमुना के दूसरे पार अवस्थित है, यह स्वाभाविक है।

वैकुण्ठ अथवा गोलोक आदि में कौन-कौन भक्त वास करते है, या कर सकते हैं, यह विचारणीय है। वैकुण्ठ-धाम को आपात-दृष्टि से दो पृथक्-पृथक् अंशों में विभक्त किया जा सकता है। उनमें जो बाह्यांश है, वह परमात्मा का अधिष्ठान-क्षेत्र होने से उसके साथ माया का सम्बन्ध है। यद्यपि यह धाम माया के अतीत है, तब भी परमात्मा माया के अधिष्ठाता हैं, एवं उनके ईक्षण से माया क्षुब्ध होती है, अतः एक प्रकार से उनका माया से सम्बन्ध स्वीकार करना होता है। परमात्मा के चित्शक्ति-सम्पन्न होने पर भी, इस शक्ति की पूर्ण कलाओं का विकास उसमें नहीं रहता, इस कारण परमात्मा माया के अधिष्ठाता हो सकते हैं। अवतार आदि का स्थान वैकुण्ठ के इस बाह्यांश मे निर्दिष्ट है। जिन सब खण्ड-वैकुण्ठों की बात पहले कही गई है वे परमात्मा के स्वांशों के ही क्षेत्र हैं। इन सब क्षेत्रों में उस-उस क्षेत्र का अधिपति एवं उसके परिवार-मण्डल के अतिरिक्त योगी

भक्त गण विराजते हैं। कहना न होगा ये सभी मुक्त पुरुष हैं। ये सभी साक्षि-स्वरूप हैं। ये सभी न्यून या अधिक रूप से परमात्मा से तादात्म्य-सम्पन्न होकर परमात्म-भाव में भावित हैं। इन सभी का आत्मज्ञान सिद्ध हुआ है, अथ च ये सभी परमात्मा के भक्त हैं। यह भक्ति ही इनका योग है। वैकुण्ठ के आन्तर मण्डल में दास्य-भावापन्न भक्तगणों का निवास है। बाह्यमण्डल में जो भक्त वास करते हैं, वे भक्त होने पर भी योगी होने से ऐश्वर्य-प्रिय हैं। इस योग-भक्ति का पूर्ण विकास होने पर वे परमात्मा के साथ अभेद प्राप्त होकर ईश्वर-पद वाच्य हो जाते हैं। जब तक भगवच्चरणों में इस ऐश्वर्य का समर्पण एवं पूर्ण आत्मनिवेदन नहीं होता, तब तक वे लोग वैकुण्ठ के अन्तर्मण्डल में प्रवेश नहीं कर सकते। अन्तर्मण्डल में प्रवेश करने के लिए कैङ्कर्य अथवा दास्य स्वीकार करके ही प्रवेश करना होगा। जो ईश्वर-भावापन्न हैं, वह भक्त होने पर भी योगी हैं, प्रकृत भक्त नहीं--वैकुण्ठ के अन्तर्मण्डल में उसका स्थान नहीं। मुख्य बात सेवक अथवा किंकर से भिन्न अन्य कोई भी अन्तर्मण्डल में स्थान-लाभ नहीं करता। सेवा ही भक्ति का यथार्थ स्वरूप है। इसी अन्तर्मण्डल में सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि, सायुज्य व सारूप्य—भक्तगणों की ये पञ्चविध अवस्थाएं हैं। मण्डल के भीतर प्रविष्ट होते ही सालोक्य अवस्था सिद्ध होती है। सालोक्य से समान लोक में निवास समझा जाता है, अर्थात् प्रभु जिस लोक में वास करते हैं, जब उनका भक्त किंकर उसी लोक में स्थान-लाभ करता है, तब उसे सालोक्य लाभ कहा जाता है। भगवान् की सविशेष प्रभा ही उनका स्वलोक-

अर्थात् शुद्ध वैकुण्ठ एवं निर्विशेष प्रभा ब्रह्मज्योतिः है, यह स्मरण रखना होगा। उपासना के क्रम-विकास में जब भक्त क्रमशः उपास्य के अधिकतर निकटवर्ती होता रहता है, तब उसकी अवस्था को सामीप्य कहा जाता है। इस अवस्था में नित्य ही भगवान् का रूप सन्निहित भाव से वह अनुभव करता है। सालोक्य अवस्था में यह सन्निधान प्रकट नहीं होता। सामीप्य का पूर्ण विकास होने पर अपना स्वरूप उपास्य भगवान् के स्वरूप में परिणत होता है। यही सारूप्यावस्था का उन्मेष है। इस अवस्था में भक्त भगवद्-आकार प्राप्त होने पर भी वस्तुतः भगवान् का किङ्कर अथवा दास-भावापन्न ही रहता है। उसके बाद भक्ति की महिमा से, भगवत्कृपा से सार्ष्टि अवस्था की अभिव्यक्ति होने पर भक्त के मध्य भगवान् की शक्ति फूट उठती है। इस शक्ति का भी एक क्रमिक विकास है। उसकी पूर्णता सिद्ध होने पर सायुज्यावस्था अनाहूत भाव से ही आ जाती है। तब भक्त केवल भगवान् के समान शक्ति-सम्पन्न नहीं, नित्य ही भगवत्स्वरूप मे युक्त रहते हैं। भगवत्सत्ता में ही उनकी सत्ता होती है, भगवत्शक्ति ही उनकी शक्ति होती है, भगवान् का रूप ही उनका रूप होता है—ऐसी अवस्था उदित होती है। वस्तुतः यह भगवत्स्वरूप के साथ अभेद-भाव है।

भगवद्-धाम के बहिर्मण्डल में परमात्मा की अधिष्ठान-भूमि पर योगि-गण वास करते हैं, यह बात पहले ही कही गई है। ये मुक्त व भक्त हैं, इसमें सन्देह नहीं। हाँ, प्रकृति-भेद से इनमे अनेक वैचित्र्य है। परमात्मदर्शन व भगवद्दर्शन के बीच पार्थक्य

है। उसी प्रकार परमात्मदर्शन में भी अन्तर्भेद हैं। निर्विशेष अवस्था के अन्तराल में परिमित सविशेष भाव का जो स्फुरण है, वही परमात्मा की स्फूर्ति है। परमात्मदर्शन योगी को होता है। योगी मात्र ही (अर्थात् सभी योगी) शान्त भक्तों के अन्तर्गत हैं। इस भक्ति के उन्मेष में अर्धोन्मेष व पूर्ण विकास प्रभृति भेदों से नाना अवस्थाएँ हैं। तदनुसार परमात्मा के साक्षात्कार में भी एक स्वभावसिद्ध क्रम वर्तमान है। पहले ज्योति का उन्मेष होता है, उसके बाद क्रमशः यह उन्मेष-प्राप्त ज्योति घनीभूत एवं वलयाकार में परिणत होते-होते चरम अवस्था में मण्डलाकार से प्रकाशमान होती है। आदित्य मण्डल की भाँति यह मण्डल ही परमात्मा है। इस अवस्था में भी शान्त भक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ। जब वह होता है, तब मण्डल के बीच आकार का दर्शन होता है। मण्डल इस आकार को घेरे हुए उसके आधार-रूप से प्रकाशमान रहता है। यह आकार ऐश्वर्य-प्रधान भगवान् का हो सकता है, अथवा माधुर्य-प्रधान भगवान् के ऐश्वर्यांश की अभिव्यक्ति भी हो सकता है। इसी कारण शान्त भक्तगण कभी ज्योतिर्मण्डल के रूप में, कभी नारायण के रूप में, अथवा कभी द्विभुज मुरलीधर के रूप में, अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य रूप में आत्मा का दर्शन पाते हैं। शान्त भक्ति के पूर्ण विकास के पहले प्रकृति-विशेष में क्रियाशक्ति के विकास के साथ-साथ ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति होती है। मुक्तावस्था होने के कारण साक्षिरूप में ज्ञान शक्ति की अभिव्यक्ति नित्य-सिद्ध है। किन्तु क्रियाशक्ति साधारणतः क्रम अवलम्बन करके प्रकाशित होती है। यह क्रम-प्रकाश की पराकाष्ठा पूर्ण परमात्म-भाव की प्रतिष्ठा हैं। प्रकृति-

विशेष हो अथवा विशेष कारण हो तो क्रियाशक्ति का विकास नहीं भी हो सकता। तब तटस्थ दशा ही विद्यमान रहती है। पुनः किसी-किसी की प्रकृति के अनुसार क्रियाशक्ति का पूर्ण विकास रहने पर भी तटस्थ भाव च्युत नहीं होता, अन्य पक्ष से कहें तो आश्रित भक्तभाव का उन्मेष होता है। जिनका ऐसा होता है वे लोग, एवं जो ऐश्वर्य का पूर्ण विकास होने के पश्चात् उसका समर्पण करके अग्रसर हो पाते हैं, वे लोग, सहज ही वैकुण्ठ के अन्तर्मण्डल में प्रवेश कर सकते हैं।

सनक, सनन्दन, सनत्कुमार व सनातन—ये चारों परमहंस शान्त भक्तों के प्रसिद्ध उदाहरण हैं। किन्तु व्रजलीला में इनका प्रवेश नहीं है, क्योंकि एक ओर ब्रह्मानन्द और दूसरी ओर लीला-रस इन दोनों की मध्य रेखा पर शान्त रस की अवस्थिति है। यह ठीक ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि यह रसात्मक है, अथच यह लीला-रस भी नहीं, क्योंकि इसमें भगवान् के साथ भक्त का ममत्वमूलक कोई सम्बन्ध नहीं। शान्त भक्त-गणों के अन्तराकाश में पर-मात्मा का साक्षात्कार होता है। परमात्मा विभु, करुणामय, नित्य-स्वरूप-स्थित, आत्माराम-गणों का आदर्श-स्वरूप है। सच्चिदानन्द का साकार आविर्भाव परब्रह्म-स्वरूप है। ये लोग निर्निमेष नेत्रों से परब्रह्म का साक्षात्कार किया करते हैं। यही इनके पक्ष में सेवा है। इसका नाम रूप सेवा है। ये लोग ही दिव्यसूरि एवं रूप-सेवक भक्त हैं।

वैकुण्ठधाम के अन्तर्मण्डल में ऐसे ही सेवक भक्त हैं। इसके आगे दास्यभाव ही वैकुण्ठ का प्रधान-भाव है। दासगणों में

नाना प्रकार का श्रेणी-विभाग है। इनमें अधिकारी पुरुषों का एक मण्डल है। ये सब ही दिव्यभावापन्न एवं भगवान् के जगद्-व्यापार मे नित्य सहायक हैं। अर्थात् ये सब अधिकारी भक्त भगवान् के दास के रूप में जगत् के समस्त कार्यों की शृङ्खला-पूर्वक व्यवस्था करते हैं। वस्तुतः ये लोग परमात्मा के स्वांशरूप में ही जगत् के कार्य करते हैं। किन्तु इनकी स्थिति का एक पहलू ऐसा भी है, जिसमें ये भी अन्याय रूप-सेवकों की भाँति भगवान् के रूप-सेवक हैं। केवल इतना ही नहीं, इनमें से कोई-कोई सविशेष भाग्योदयवशतः भगवान् के साथ अन्तरंग सम्बन्ध मे सम्बद्ध हैं। सुतरां अपनी स्वभावोचित लीला का एक पहलू भी इनमें है। बैन्दव जगत् में जिस अधिकारी मण्डल की बात कही गई है, उसको इसका छाया रूप समझा जा सकता है।

वैकुण्ठ एवं गोलोक ये दोनों धाम वस्तुतः एक व अभिन्न हैं। षोडश कलापूर्ण न होने से वैकुण्ठ से गोलोकधाम में प्रविष्ट होने का अधिकार नहीं उत्पन्न होता। वैकुण्ठनाथ भगवान् षोडशवर्ष-वयस्क पूर्ण-किशोर-मूर्ति हैं। भक्त क्रमशः आराधना के प्रभाव से अपनी कलाओं का विकास करने में समर्थ होने पर महालक्ष्मी स्वरूप में स्थिति लाभ करता है। वैकुण्ठ की भक्त मण्डली मे सभी वस्तुतः महालक्ष्मी के ही अंश हैं। ये सब अंश क्रमशः उपासना के प्रभाव से अंशिस्वरूप में स्थिति-लाभ करते हैं—नारायण रूपी भगवान् की पूर्ण सेवा का अधिकार एक मात्र महालक्ष्मी को है। सुतरां साक्षाद् रूप में भगवान् का सेवाधिकार प्राप्त करना हो तो उनकी स्वरूपभूता शक्तिके साथ तादात्म्यलाभ करना

ही होगा। जब षोडश कलाओं का पूर्ण विकास होता है, तब लक्ष्मी व नारायण का अभेद सिद्ध होता है। यही पूर्णत्व है। भक्त पूर्णत्व लाभ करके महाज्योतिघन अद्वैत स्वरूप में स्थान प्राप्त करता है--एकसाथ द्वादश सूर्य प्रज्वलित होकर महासविता रूप धारण करते हैं। यह महाज्योतिर्मण्डल ही गोलोकधाम है। तब समदर्शी कलारूपा षोडशी स्वयं में स्वयं ही विश्रान्त रहती हैं एवं अपने साथ स्वयं ही क्रीडा करती हैं। यही राधा-कृष्ण-लीला है। राधा व कृष्ण युगलमूर्ति हैं। राधा कृष्ण के बिना एवं कृष्ण राधा के बिना अपूर्ण हैं। एक ही आत्मा के मानों दो अङ्ग अपने साथ स्वयं क्रीडा करने के लिए इस प्रकार का विग्रह-भेद योगमाया के प्रभाव से प्रकट करते हैं। उद्देश्य है----लीलारस का आस्वादन। वस्तुतः यह नित्य, अनादि व अनन्त है। किन्तु एक दिशा से देखने पर इसकी भी एक परावस्था है, वह लीला-तीत है। नित्य लीला से लीलातीत स्वरूप में निर्गत होने के लिए ही कुञ्ज व निकुञ्ज लीला का क्रम-विन्यास है। नित्यलीला एवं लीलातीत इन दोनों अवस्थाओं के अन्तराल में एक महाविश्राम वर्तमान है। यही राधा-गोविन्द की सुषुप्ति है। इसी का परवर्ती जो जागरण है, वही है महाचैतन्यरूप का अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना।

पञ्चदश कलापूर्ण होने पर ही महामण्डल प्रकाशित होता है, एवं साथ-साथ मध्यबिन्दु-रूप में अमृत-स्वरूप षोडशीकला आत्मप्रकाश करती है। षोडशकला का विकास ही पूर्णत्वलाभ है। जब तक पञ्चदश कलाओं ने मण्डलाकार धारण नहीं किया

तब तक कालचक्र का आवर्तन होता रहता है। इस कालचक्र में पञ्चदश कला नित्य वर्तमान हैं। जो षोडशी हैं, वे कालचक्र की अन्तःपाती न होने पर भी कालचक्र की आधारभूता होने से उनको भी नित्या में परिगणित किया जाता है। षोडशी अमृत-स्वरूपा है, पञ्चदशी वस्तुतः कालरूपा है। पञ्चदशी से षोडशी में प्रवेश एवं षोडशी से छटा रूप में निर्गत होकर सप्तदशी रूप में आविर्भाव—अध्यात्म जगत् का यही अतिगम्भीर रहस्य है।

पहले जिस गोलोकधाम की बात कही गई है, वह वस्तुतः षोडशी की परावस्था की बात है। षोडशी पूर्ण होने पर उसी पूर्णता की साक्षि-रूप में, सप्तदशी नित्य जागरूक भाव में विराजित होती है। षोडशी पूर्ण है, यह सप्तदशी जानती है, किन्तु षोडशी उसे नहीं जानती अथवा उसकी उपलब्धि नहीं कर सकती। अल्प-वयस्क शिशु जिस प्रकार पवित्र एवं निर्मल चरित्र का होता है, एवं वह शिशु अपनी पवित्रता की स्वयं उपलब्धि नहीं कर पाता ठीक उसी प्रकार षोडशी पूर्ण होने पर भी अपने पूर्णत्व की स्वयं उपलब्धि नहीं कर पाती। अथच यह उपलब्धि स्वयंप्रकाश चैतन्य के लिए नितान्त आवश्यक है। क्योंकि प्रकाश तत्त्व विशुद्ध-तम प्रकाश-रूप होकर भी प्रकाशमान न होने पर अप्रकाश वा जड़ ही रह जाता है। इसीलिए शक्ति-भिन्न शिव जिस प्रकार शव-मात्र हैं, ठीक उसी प्रकार विमर्श के बिना प्रकाश भी अप्रकाश वा जड़मात्र है। अर्थात् प्रकाश प्रकाशात्मक होने पर भी, जो प्रकाश रूप में उसकी पहचान करा देता है वही विमर्श है—यह प्रकाश की ही अन्तरङ्गा शक्ति है। षोडशी वा सप्तदशी

के सम्बन्ध में भी ठीक इसी प्रकार ही समझना होगा। सप्तदशी के बिना षोडशी पूर्ण होकर भी अपूर्ण-कल्प है।

लक्ष्मी व नारायण परस्पर मिलित होकर ब्रह्मरूप में अद्वैत चिदानन्दमय महासत्ता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इस महासत्ता में जो महाशक्ति क्रीडा करती है—भिन्न रूप में नहीं, भिन्नाभिन्न रूप में भी नहीं—अभिन्न रूप में क्रीडा करती है, एवं अद्वैत रूप में जो नित्यमिलित रहती है, वह सप्तदशी कला है। वस्तुतः अमा कला इसी का स्वरूप है। इसी का भक्तगण राधा-तत्त्व के रूप में अर्थात् स्वयं भगवान् की महाभाव रूपा निजशक्ति के रूप में वर्णन करते है। वस्तुतः गोलोकाख्य अद्वैत महासत्ता एक व अनन्त है। तथापि महाशक्ति के नित्य-लीलामयी होने से इस अखण्ड अद्वैत सत्ता के वक्षःस्थल पर निरन्तर लीला-विलास चल रहा है। यह लीला ही राधाकृष्ण की युगल-लीला है। राधा कहने से आधा समझना होगा—अर्थात् आधा कृष्ण आधा राधा। दोनों के सम्मिलन में एक अखण्ड रसमय तत्त्व विग्रह के रूप में नित्य प्रतिष्ठित है। राधा व कृष्ण वस्तुतः एक होने पर भी लीला के लिए परस्पर पृथक्वत् प्रतिभासमान होते हैं। अर्थात् जागतिक भाषा में कहने जाँय तो जिसको अद्वैत रसतत्त्व कहा जाता है, वह एक प्रकार से श्रीराधा-कृष्ण की सुषुप्तावस्था है। इस अवस्था में श्रीराधा की भी स्फूर्ति नहीं, श्रीकृष्ण की भी स्फूर्ति नहीं। दोनों समस्त विशेषों का परिहार करके महासुषुप्ति में निमग्न हैं। जब यह सुषुप्ति भङ्ग होती है, अर्थात् जब श्रीगोविन्द के अंग से विश्लिष्ट होकर श्रीराधा जाग

उठती हैं, एवं जब श्रीराधा के जागरण के साथ-साथ स्वभावतः गोविन्द भी प्रबुद्ध होते हैं, तब अनन्त लीलामय, विचित्र-माधुर्य-मय, संख्यातीत विलासमय, अनन्तभावमय एवं अनन्त रसों के के अनन्त प्रकार के आस्वाद से पूर्ण ब्रजधाम स्फुट हो उठता है,एवं उसके साथ-साथ उसका वैभव रूपी गोलोक धाम भी विकास-प्राप्त होता है।

इससे यह समझा जायगा कि समग्र गोकुल, वृन्दावन, यहाँ तक कि गोलोक-धाम भी इस दृष्टि में श्रीराधा के आत्म-प्रसारण से सम्भूत है। सुवर्ण जिस प्रकार केयूर, अंगद, हार प्रभृति विविध आभूषणों के रूप में प्रकाशित होने पर भी सर्वत्र अक्षुण्ण अपने स्वरूप में विद्यमान रहता है, ठीक उसी प्रकार श्रीमती राधारानी समग्र लीलाभूमि एवं उसके अन्तर्गत समस्त पुरवर्ग, कुञ्जादि, कक्ष-गृहादि, नाना भाव की, नाना प्रकार की भक्त-मण्डली, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, धेनु-वत्स, वृक्ष-लता, फल-फूल, कुण्ड व नदी रूप में अनन्त वैचित्र्य के साथ प्रकाशित होने पर भी सर्वत्र ही उनके अपने स्वरूप में अक्षुण्ण रहती हैं। ब्रजवासी प्रेमनेत्रों से सर्वत्र राधा को ही देखते हैं। क्योंकि ब्रज की प्रत्येक वस्तु ही राधा-उपादान से गठित है। श्रीराधा को भलीप्रकार पहचानने की सामर्थ्य एकमात्र श्रीगोविन्द में है। ब्रजवासि-गण राधा के सम्यक् परिचय-प्राप्त नहीं हो सकते। इसीलिए श्रीकृष्ण नित्य-लीला-भूमि के प्रत्येक अणु-परमाणु में श्रीराधा का सौन्दर्य-दर्शन करते हैं, एवं उनकी अङ्ग-गन्ध प्राप्त करते हैं।

श्रीराधा-स्वरूप के परिणाम रूप में ब्रजभूमि का आविर्भाव होता है। स्वरूप-शक्ति का तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं होता। किन्तु शक्ति-विक्षेप-रूप परिणाम होने में बाधा नहीं। यह परिणाम श्रीराधा की अंगभूत योगमाया के द्वारा निष्पन्न होता है। योगमाया लीलाभूमि की रचना की अधिष्ठात्री शक्ति हैं। राधाङ्ग के सदंश से अन्तरंग सब धाम एवं सब लीलास्थल प्रकट होते हैं। आनन्दांश कायव्यूह द्वारा अन्तरंग भक्तगणों के स्वरूप मे आत्मप्रकाश करता है।

वस्तुतः सन्धिनी, संविद् व ह्लादिनी ये तीन शक्तियां एवं उसी प्रकार की और भी अवान्तर शक्तियों की समष्टिभूत स्वरूप-शक्ति अमा-कला वा राधा हैं। इन सब शक्तियों में ह्लादिनी का प्राधान्य होने से एवं अन्यान्य शक्तियां उसकी अङ्गभूत होने से कोई-कोई ह्लादिनी-रूपमें ही श्रीराधा का वर्णन करते हैं। वस्तुतः यह शक्तिपुञ्ज ही श्रीराधा नामसे प्रसिद्ध है एवं यही श्रीकृष्ण का विग्रह है। तात्त्विक दृष्टि से वैकुण्ठनाथ भगवान् जिस प्रकार षड्गुणविग्रह हैं अर्थात् ६ अप्राकृत गुण (ज्ञान, वीर्य, बल, ऐश्वर्य—इत्यादि) समष्टि-भाव से उनके देहस्वरूप हैं, ठीक उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से सन्धिनी, संवित्, ह्लादिनी प्रभृति स्वरूप-शक्ति, एवं गुण-प्रधान भाव से विचार करने पर कहा जा सकता है कि अनन्त स्वरूपशक्ति-विशिष्ट ह्लादिनीशक्ति ही श्रीराधा का विग्रह है। इसी कारण श्रीकृष्ण के अंग से निशान्त लीला में अर्थात् महासुषुप्ति भंग के समय श्रीराधा के अंग पृथक् भाव में निःसृत होते हैं। श्रीराधा के अंग से श्रीकृष्ण के अंग निःसृत

नहीं होते। किन्तु वह भी नहीं होता ऐसा नहीं, हां उसे विभिन्न दृष्टि के अनुसार समझना होगा। यहाँ उस प्रसङ्ग की आलोचना का प्रयोजन नहीं है।

साम्यभावापन्न अवस्था ही श्रीकृष्ण का विग्रह है।

पूर्वोक्त विवरण से प्रतीत होगा कि यह नित्य लीलाभूमि जाग्रत् अवस्था है। हमलोग मायिक आवरण से आच्छन्न होकर इस समय जिस अवस्था में हैं, यह जाग्रत् नाम से हमें परिचित होनेपर भी वस्तुतः स्वप्नावस्था है। हम जिसे स्वप्न वा सुषुप्ति अवस्था कहते हैं, वह इस महास्वप्न के ही अन्तर्गत अवान्तर अवस्था मात्र है। जिसे ब्रह्मावस्था कहा जाता है, जो निर्विशेष चिन्मात्र व वैचित्र्यहीन है, वही वास्तविक सुषुप्ति है। अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से यह नित्यलीलामय श्रीवृन्दावन का विलास ही हमारी जाग्रत् अवस्था है। ब्राह्मी-स्थिति-रूप चित्प्रतिष्ठा ही हमारी सुषुप्ति अवस्था है एवं यह संसार पर्यटन वा लोक-लोकान्तरों में सञ्चरण रूप अवस्था ही स्वप्नावस्था है। लीलातीत एवं भावातीत परमपद में प्रवेश कर पाने पर वही हमारी तुरीय अवस्था के रूप में परिगणित होगी।

मायिक जगत् अनन्त ब्रह्माण्ड संवलित माया एवं उसके अन्तर्गत समस्त दृश्य व भोगराशि, एवं सभी प्रकार का घटन एक शब्द में कहें तो काल की अनन्त लीला है। सब ही सुषुप्ति रूपी ब्रह्म में माया के प्रभाव से स्वप्नवत् आरोपित हुआ है। वस्तुतः यह ब्रह्म का विवर्त है, अर्थात् समग्र मायिक जगत् इसी कारण ही किसी-किसी की दृष्टि में ब्रह्म का विवर्त होने से

श्रीराधा का विवर्त देह है। इसी लिए रज्जु के विवर्त सर्प में जैसे तार-तार अनुसन्धान करने पर भी रज्जु को नहीं पाया जाता, उसी प्रकार समग्र मायिक जगत् में तार-तार अनुसन्धान करने पर भी श्रीराधाको नहीं पाया जा सकता, क्योंकि विवर्त में उपादान कारण एवं कार्य की समसत्ता ही नहीं रहती। किन्तु व्रजभूमि वा गोलोक वैसा नहीं है। क्योंकि वह राधारूप उपादान का परिणामात्मक कार्य है। यह परिणाम अविकृत परिणाम है, यह स्मरण रखना होगा, अर्थात् यह परिणाम तो है, पर विकार नहीं। क्योंकि राधा निर्विकार हैं। इस कारण ही व्रजभूमि की प्रत्येक वस्तु में ही राधा को पहचाना जा सकता है। मृण्मय घट में जैसे मृत्तिका अनुस्यूत रहती है, उसी प्रकार व्रजभूमि की प्रत्येक वस्तु में ही राधा अनुस्यूत हैं।

नित्य लीला रूप जो जागरण अवस्था है, वह भी प्रकृत जागरण नहीं। लीलातीत अवस्था ही प्रकृत जागरण वा महाजागरण अर्थात् तुरीय है—वही चैतन्य-स्वरूप है, वह अनन्त है। उसके पश्चात् फिर और सुषुप्ति नहीं है, स्वप्न भी नहीं।

अब भावराज्य के सम्बन्ध में कुछ कहा जा रहा है।

अमा अथवा सप्तदशी कला की बात प्रसंगतः कुछ कही गई है। यही पराशक्ति है। यह अनुत्तर परम प्रकाश के साथ अभिन्न रूप में विद्यमान रहती है। यह प्रकाश ही महासत्ता है। महासत्ता के साथ महाशक्ति का स्वरूपगत कोई भेद नहीं। इसी कारण इस शक्ति को स्वरूपशक्ति कहा जाता है। यह स्वातन्त्र्य शक्ति का ही है इस शक्ति के ही स्वयं इच्छारूप से

क्रिया रूप परिग्रह करने पर इसी का विसर्ग नाम से उल्लेख किया जाता है। तब पूर्व-वर्णित अनुत्तर प्रकाश बिन्दु नाम से परिचित होता है। स्वातन्त्र्य शक्ति चिद्रूपा होने से प्रचलित परिभाषानुसार चित्शक्ति नाम से अभिहित होती है। जब यह बिन्दु के साथ अभिन्न रूप से वर्तमान रहती है, तब यह स्वयं अनुत्तर निष्क्रिय एवं निस्पन्द भाव से रहती है। क्षोभ के फल स्वरूप जब यह विसर्ग रूप धारण करती है, तब यह क्रियात्मिका होती है। एक ही शक्ति एक ओर निष्क्रिय स्वरूप है, एवं दूसरी ओर क्रियास्वरूप। यह एक अद्भुत रहस्य है। जिन दो बिन्दुओं का अवलम्बन करके विसर्ग आत्मप्रकाश करता है, वे इन दो विरुद्ध कोटियों के समन्वय के प्रतीक हैं। यह विसर्ग शक्ति ही परमा कुण्डलिनी है, जो एक ओर शक्तिकुण्डलिनी-रूप में एवं दूसरी ओर प्राणकुण्डलिनी-रूप में प्रकाशित होती है। शक्ति-भूमि से प्राणभूमि पर्यन्त सञ्चार अव्यक्त रूप से हुआ करता है। यही स्वरूपशक्ति का उन्मेष है। यह उन्मेष नित्य ही नवीन-नवीन रूपों में संघटित हो रहा है। नित्य लीला का मूल सूत्र यही है। अर्थात् अनुत्तर महाप्रकाश से स्पन्दनातीत शक्ति निरन्तर अभिनवरूप में स्पन्दित हो रही है। इसका कोई हेतु, निमित्त या प्रयोजन नहीं। इसीलिए यह केवल लीलारूप में वर्णित है। नित्य नव-नव उन्मेष को भाषा द्वारा अथवा मानसिक चिन्ता द्वारा आयत्त करना सम्भव नहीं है। विसर्ग शक्ति उन्मेष रूप में निरन्तर प्रसव कर रही है। यह प्रसव-कार्य विभिन्न प्रकार का होने से विसर्ग शक्ति को भी विभिन्न नामों से कहा जाता है— पर-विसर्ग परापर-विसर्ग एवं अपर-विसर्ग। विसर्ग के ये तीन

मौलिक भेद प्रसव के तारतम्य के अनुसार ही कल्पित हुए है। अभेद, भेदाभेद एवं भेद—प्रसवगत इन तीनों भावों पर विसर्गादि तीन भेद प्रतिष्ठित हैं। परापर एवं अपर विसर्ग की आलोचना वर्तमान प्रसंग में करने की आवश्यकता नहीं। केवल पर-विसर्ग की बात ही यहाँ कहेंगे। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि विसर्ग से ही समग्र विश्व उद्‌भूत हुआ करता है। भेद सृष्टि के मूल में जैसे विसर्ग शक्ति का खेल है, उसी प्रकार अभेद-सृष्टि के मूल में भी इसी शक्ति का ही खेल जानना होगा। भेद सृष्टि अपर विसर्ग से, भेदाभेद सृष्टि परापर विसर्ग से एवं अभेद सृष्टि पर विसर्ग से होती है। नित्य लीला में चिन्मय राज्य की आलोचना के प्रसंग में हमने जो गोलोक अथवा वृन्दावन का प्रसंग उठाया है, वह परविसर्ग से ही स्फुरित होता है। परविसर्ग के स्फुरण का वैशिष्ट्य यही है कि समग्र सृष्टि अपने अनन्त वैचित्र्य के साथ कायाभूत चित्शक्ति के रूप में नित्य प्रतीतिगोचर होती है। अथच अपनी-अपनी व्यक्तिगत विचित्रता कण-मात्र भी क्षुण्ण नहीं होती। एक ही वस्तु को, सत्तागत अभिन्नता बनाए रखते हुए, भिन्नवत् प्रतीतिगोचर करना—यही परा विसर्ग-शक्ति का कार्य हैं। इस शक्ति के प्रभाव से जो अतिरिक्त नहीं है, वह अतिरिक्त के समान प्रतीयमान होता है। आगम का यह वैसर्गिक रहस्य ही प्राचीन भक्त गणों की परिभाषा में 'विशेष' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। जो अचिन्त्य शक्ति भेद न रहने पर भी भेद-कार्य का निर्वाह करने में समर्थ होती है उसका नाम 'विशेष' है। स्वयं भगवान् की अथवा अनुत्तर प्रकाश की यह अघटन घटन-पटीयसी अचिन्त्

शक्ति ही वैष्णव शास्त्र में 'विशेष' नाम से परिचित है। कहना न होगा, यह विसर्ग शक्ति की परावस्था की ही व्याख्या मात्र है।

जब कोई शक्ति क्षुब्ध होकर कार्य रूप में कोई आकार ग्रहण करती है, तब यह आकार स्वरूपतः शक्तिमय होकर भी उससे अतिरिक्त भाव में भी प्रकाशमान होता है। अर्थात् ज्ञान से जिसका स्फुरण होता है, वह केवल ज्ञानात्मक नहीं, अवश्य ही ज्ञानवान् भी है। सत्ता से जिसका स्फुरण होता है, वह केवल सत्ता नहीं, अवश्य सत् भी है। इसी प्रकार जो आनन्द से प्रकट होता है वह स्वरूपतः आनन्द होते हुए भी आनन्द का आश्रय भी है। ऐसा सर्वत्र समझना होगा। पतञ्जलि ने पुरुषतत्त्व के सम्बन्ध में एक सूत्र कहा है—'द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य'[1] अर्थात् जो निर्मल दृक्शक्ति हैं एवं उससे भिन्न अपर कुछ नहीं, वे ही द्रष्टा हैं। अर्थात् द्रष्टा एवं दृक्शक्ति दोनों पृथक् वस्तु नहीं। उसी प्रकार ज्ञाता व ज्ञान को भी एक ही अभिन्न वस्तु जानना होगा। वेदान्त में 'ज्ञोऽत एव'[2] इस सूत्र में भी इसी का इङ्गित पाया जाता है। प्राचीन वैष्णवों ने जो धर्मभूत ज्ञान एवं धर्मिभूत ज्ञान कहकर एक ही ज्ञान की धर्मरूपता एवं धर्मिरूपता का निर्देश किया है, उससे भी यही सत्य प्रमाणित होता है।

उपर्युक्त विवरण से समझा जा सकेगा कि स्वरूप-शक्ति के जिस अंश से जिस कार्य का स्फुरण होता है, वह केवल वही शक्तिरूप हो ऐसा नहीं। वह उस शक्ति के आश्रयरूप में भी प्रका-

---

१. पातंजल योगसूत्र—२।२०

२ ब्रह्मसूत्र २ ३ १८

शित होता है। सन्धिनी, संवित् एवं ह्लादिनी इन तीन को भगवान् की अनन्त स्वरूप शक्तियों में आपातत: प्रधान रूप से ग्रहण किया जा सकता है। क्योंकि ये तीनों ही उनके सत्तागत अनन्तांश के अन्तर्गत यथाक्रम से सत्-चित् व आनन्द इन तीनों प्रधान अंशों से सम्बद्ध हैं। इनमें से ह्लादिनी शक्ति का ही प्राधान्य है, यद्यपि अङ्गरूप से अन्यान्य शक्तियाँ इसी के अन्तर्भुक्त हैं। आनन्दराज्य की रचना में ह्लादिनी शक्ति का प्राधान्य रहना स्वाभाविक है। इस रचना-प्रणाली में पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार नहीं है। अर्थात् जब गोविन्द के आलिङ्गन से राधारानी बाहर आती हैं, तब उनसे पर-विसर्ग के नियमानुसार जो स्फुरण निरन्तर होता रहता है, वह स्वभावत: केवल आनन्दात्मक होता है, ऐसा नहीं, वह आनन्द के आश्रय के रूप में भी परिगणित होता है। यदि ह्लादिनी शक्ति को अर्थात् श्रीराधा को पराशक्ति का प्रतीक कह कर ग्रहण किया जाय तब इस शक्ति से निर्गत प्रत्येक कण ही भक्तिरूप एवं भक्ति का आश्रय होगा इसमें सन्देह नहीं। अर्थात् ह्लादिनी-शक्तिरूपा भक्तिदेवी से भक्तमण्डल का आविर्भाव होता है। ये सब भक्त स्वरूपत: ह्लादिनी शक्ति के अंश हैं, एवं वे केवल ह्लादिनी-शक्तिरूप हैं इतना ही नहीं; ह्लादिनी-शक्ति का आश्रयभाव भी उनमे प्रकाशित है। श्रीराधा जिस प्रकार ह्लादिनी शक्ति-स्वरूपा होकर भी ह्लादिनी शक्ति सम्पन्न हैं—उनसे नि:सृत प्रत्येक भक्त भी ठीक उसी प्रकार है। अध्यात्म जगत् का यह अत्यन्त गम्भीर रहस्य है।

स्वरूपत: ह्लादिनी शक्ति होकर भी वे ह्लादिनी-शक्ति-विशिष्ट हैं अर्थात् वे एकाधार में भक्ति व भक्त दोनों

हैं। इसी कारण उनको ब्रह्मसंहिता में 'आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभावितकला' कहा गया है। व्रजधाम की अथवा गोलोकधाम के नित्यभक्त-मण्डल की सृष्टि ह्लादिनी शक्ति से इसी प्रकार हुआ करती है। अवश्य इसमें क्रम है, प्रकार भेद है एवं भक्तिका आस्वादगत वैलक्षण्य है। तदनुसार कान्तावर्ग, सखीवर्ग, पिता माता व अन्यान्य गुरुजन, सखा, नर्मसखा, प्रियनर्म-सखा प्रभृति सखागण एवं विभिन्न प्रकार की सेवा में निरत दासगण आविर्भूत हुआ करते हैं।

पहले श्रीराधागोविन्द के विश्राम अथवा निद्रा की बात कही गई है। इस विश्राम को मध्यबिन्दु करके श्रीराधागोविन्द की नित्यलीला अनादि काल से चल रही है एवं अनन्त काल तक चलेगी। यह लीला वस्तुतः राधाशक्ति की ही लीला है। यह अमा कला की क्रीड़ा है। यह बात भी प्रसङ्गतः उल्लिखित हुई है।

इसी उपलक्ष्य में प्रासङ्गिक रूप से कुछ-एक रहस्यमय तत्त्वों की संक्षिप्त आलोचना आवश्यक प्रतीत होती है। यह जो नित्यलीला की बात कही गई, ठीक इसी प्रकार एक नित्य संसार अवस्था भी है। केवल वही नहीं, एतज्जातीय अन्यान्य अवान्तर अवस्थाएँ भी हैं—जिनको नित्य न कहना नहीं चल सकता। 'नित्य' शब्द का अर्थ प्रवाह रूप में नित्य है, अर्थात् जो पुनः पुनः आवर्तमान होता है, निरन्तर लौटता रहता है, जिसका आदि नहीं एवं जिसका अवसान भी नहीं

नित्य लीला के मध्यबिन्दु रूप में जैसे एक सुषुप्ति है, ठीक उसी प्रकार नित्य संसार के मध्यबिन्दु रूप में भी एक सुषुप्ति है। इस सुषुप्ति-अवस्था में ही संसार अस्तमित होता है। पुनः यहीं से नवीन रूप में संसार की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार एकबार संसार निवृत्त होकर विश्रान्त होता है एवं पुनः इस अवस्था से ही उसकी प्रवृत्ति होती है। इसी प्रकार संसार का नित्य आवर्तन अनादिकाल से ही चल रहा है। ठीक इसी प्रकार नित्य लीला भी निकुञ्ज के बीच महाबिन्दु में विश्राम-प्राप्त होती है, इस बिन्दु के क्षुब्ध होने पर वह पुनः फूट उठती है। इस प्रकार अनादिकाल से यह आनन्दमयी लीला पुनः पुनः आवर्तित हो रही है। नित्य संसार का सामयिक विश्राम जिस प्रकार चिर-विश्राम नहीं है, उसी प्रकार नित्य लीला का सामयिक उपशम भी चिर उपशम नहीं है। क्योंकि दोनों ओर ही शक्ति का प्रवाह अनादि एवं अनन्त है।

नित्य संसार कहने से यह नहीं समझा जाता कि कोई जीव उसमें आबद्ध रहकर चिरदिन मुक्ति अथवा परमानन्द के सन्धान-लाभ से वञ्चित रहता है। जीव प्राकृतिक नियमानुसार यथासमय योग्यता-अर्जनपूर्वक संसार का भेद करने में समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं। प्रत्येक जीव के सम्बन्ध में ही यह एक ही नियम है। किन्तु उससे संसार खाली नहीं हो जाता। संसार का धारा-प्रवाह जिस प्रकार चल रहा था वैसे ही चलता रहता है। नवजात प्रत्येक शिशु अकाल में काल के कवल मे पतित न होने पर बाल्य पौगण्ड कैशोर प्रभृति अवस्था

भेद करके यौवन में पदार्पण करता है एवं यौवन से प्रौढ़ अवस्था में से होकर वार्धक्य में उपनीत होता है। कोई भी चिरकाल शिशु अथवा किशोर अथवा युवक अवस्था में आबद्ध नहीं रहता। सभी काल के स्रोत में अग्रसर होते रहते हैं। जगत् के किसी भी मनुष्य के सम्बन्ध में इस नियम का व्यभिचार नहीं। तथापि यह सत्य है कि शिशु, किशोर एवं युवक जगत् मे नित्य ही विद्यमान हैं। इसका अर्थ यही है कि शैशव-भाव नित्य है। भाव का जो कोई भी आश्रय है, वह भी नित्य है। सुतरां कोई निर्दिष्ट व्यक्ति चिर-दिन शिशु नहीं रहता यह सत्य है, किन्तु नित्य-शिशु हमेशा ही है। यह नित्य शिशु जब जिसको आश्रय बनाकर अभिव्यक्त होता है। तब वही व्यक्ति लोक-नयन के समक्ष शिशुरूप में परिचित होता है। सुतरां एक हिसाब से जैसे यह सत्य है कि किसी व्यक्ति का भी शिशु-भाव अथवा अन्य कोई भाव स्थायी नहीं, दूसरी ओर यह भी सत्य है, कि व्यक्तिसम्बन्ध-विरहित रूप से प्रत्येक भाव ही स्थायी है। अर्थात् स्थायी भाव ही जब जिस अभिव्यञ्जक आधार में आत्मप्रकाश करता है, तब यह आधार उस भाव का परिचायक होकर सबको प्रतीतिगोचर होता है। अर्थात् जैसे इन्द्र पद नित्य है, किन्तु जो जीव अपने पुण्य-फल से इस पद को प्राप्त होता है, वह जब तक इस पद पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक इन्द्र रूप में परिचित होता है, किन्तु बाद में उसे इस पद का अतिक्रम करके अग्रसर होना ही पड़ता है। तब फिर वह इन्द्र नहीं रहता, किन्तु स्मरण रखना होगा कि इन्द्र-पद तब भी रिक्त नही रहता अन्य कोई व्यक्ति तब इस पद

पर अधिरूढ़ होता है। इसीलिए व्यक्तिगत रूपसे किसी का भी इन्द्रत्व स्थायी न होने पर भी वास्तव में इन्द्रत्व एक स्थायी भाव है। जिस प्रकार नित्य भाव है वैसे ही उस भाव का नित्य आश्रय भी है। उसको ही यथार्थ इन्द्र कहते हैं। यह इन्द्र एवं उसका पद इन्द्रत्व, दोनों ही अभिन्न हैं। इसका ध्वंस नहीं है, विनाश नही है, यहाँ तक कि निवृत्ति भी नहीं है, यह समझना होगा।

मायिक जगत् का जो नियम है, चिदानन्दमय लीला-जगत् का भी ठीक वही नियम है। मायिक जगत् में जिस प्रकार नित्य संसार का खेल आवर्तित हो रहा है, अथच व्यक्तिगत रूप से कोई जीव उसमें आबद्ध नहीं, उसी प्रकार नित्य जगत् में भी जानना होगा। मायिक जगत् के प्रत्येक भाव का एक नित्य आकार है। उसको आश्रय करके ही सब जीव माया का खेल खेल रहे हैं। सब जीवों के मायातीत हो जाने पर भी मायिक जगत् के इस खेल का अवसान नहीं होता। इसका एकमात्र कारण है—इस नित्यभाव का नित्य आश्रय, एवं आश्रय तथा भाव का परस्पर अभेद।

जब ह्लादिनी शक्ति से प्रकाश रूप में, विलास रूपमें एवं स्वांश रूप में अनन्त भक्त-मण्डल का आविर्भाव होता है, तब ये सब भक्त केवल ह्लादिनी शक्ति के ही अंश रूप में नित्य परिगणित नहीं होते, इन सब अंशों के आश्रय रूप में भी वे नित्य हैं। अथच दोनों ही एक एवं अभिन्न हैं। भाव भी नित्य है एवं भाव का आश्रय भी नित्य है। ये ही नित्यलीला के उपकरण हैं। जो जीव

माया-राज्य में आबद्ध हैं, जब गुरु-गोविन्द की कृपा से वे प्रबुद्ध होकर नित्य वृन्दावन में अपने धाम में प्रतिष्ठित होंगे, तब वे भी पूर्वोक्त किसी न किसी भाव का आश्रयण करके ही यह प्रतिष्ठा-लाभ करेंगे। यह भाव ही उनका स्वभाव या अपना भाव है। पहले ही कहा गया है कि यह भाव नित्य है एवं आश्रय भी नित्य है, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। मायाबद्ध जीव मायामुक्त होकर, भगवत्कृपा से प्राप्त भक्ति के प्रभाव से इस धाम में स्थान पाता है। यह भक्ति ही भावरूपा भक्ति है। यही मुक्त जीव का स्वभाव है। किसी जीव के व्रज-धाम में स्वकीय भाव को प्राप्त होने पर उसका यह स्वभाव ही उसकी आनन्द-लीला का नियामक होता है। शिशु जैसे गर्भधारिणी जननी को स्वभावतः स्नेह करता है, जननी भी उसी प्रकार अपने शिशु को स्वभावतः स्नेह करती है। दोनों ओर स्वभाव ही नियामक है। विधि-निषेध का कोई शासन इस स्वभाव पर कार्य नहीं कर सकता।

४

शक्ति-धाम-लीला-भाव (ग)

पूर्वोक्त विवरण से रागात्मिका भक्ति एवं रागानुगा भक्ति का विवरण समझा जा सकेगा। रागात्मिका भक्ति रागस्वरूपा है। वह स्वभावसिद्ध है, वस्तुतः यही स्वभाव है। यह किसी को सीखना नहीं पड़ता एवं सिखाना भी नहीं पड़ता--इसकी प्रवृत्ति स्वतः ही होती है। किन्तु रागानुगा भक्ति इसका प्रतिबिम्ब है। जीव तटस्थ शक्ति से प्रकट होता है, इस कारण से, एवं तटस्थ शक्ति स्वच्छ दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बग्राहिणी है इसलिए, जीव के भगवदुन्मुख होते ही यह स्वभाव-भूता रागात्मिका भक्ति उसमें प्रतिबिम्बित होती है। यह प्रतिबिम्ब ही स्वच्छ जीव-हृदय में आविर्भूत रागानुगा भक्ति है। किन्तु यह भाव नहीं। जब तक जीव मायिक जगत् मे मायिक देह को आश्रय करके वर्त-मान रहता है, तब तक यह रागानुगा भक्ति उसका एकमात्र अवलम्बन है। रागानुगा भक्ति की साधना करते-करते भाग्य-क्रम से भाव का उदय होता है। यही स्वभाव या 'अपना भाव' है। यह रागात्मिका भक्ति के ही अर्थात् ह्लादिनी शक्तिरूपा श्री राधिका के ही श्रीअङ्ग से निःसृत एक किरण है। इस भाव को प्राप्त होने पर जीव भावरूपा अर्थात् स्वभाव-सिद्धा भक्ति की उपलब्धि कर सकता है एवं उसका देह तब भाव-देह रूप मे परिणत होता है। यह देह व्रज का देह है। भावदेह भावराज्य की वस्तु है, मायाराज्य की वस्तु नहीं। किन्तु मायाराज्य मे रहने पर भी इसका उद्भव एवं विकास हो सकता है।

वस्तुतः इस भावदेह की अभिव्यक्ति न होने पर्यन्त भाव-जगत् में प्रवेश का अधिकार नहीं होता एवं प्रकृत भगवत्साधना का आरम्भ ही नहीं होता। अशुद्ध मायिक देह से भगवत्साधना नहीं होती, यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रवर्तक अवस्था की परिसमाप्ति एवं साधक अवस्था का उदय इस भाव के विकास द्वारा ही निरूपित होता है।

भावदेह का आकार एवं प्रकार स्वभाव के ही अनुरूप है। यह चिदानन्दमय देह है। इसमें पुरुष-प्रकृति का कोई भेद नहीं। किन्तु लीला-रस के आस्वादन के लिए इसमें रसास्वादन में उप-योगी समस्त वैचित्र्य ही संघटित होता है। उसमें भाव क्षुण्ण नहीं होता। व्रजभूमि में अथवा उनकी विभूति-स्वरूप गोलोक-धाम में, या ऐश्वर्यमय परम-व्योम में भक्तमात्र का ही स्वरूप भावमय है। यह भाव नित्य-सिद्ध है एवं भावाश्रय भक्त भी नित्य-सिद्ध हैं। किन्तु जिन भक्तों ने इस भाव के अनुगत होकर रागानुगा भक्ति के प्रभाव से भावदेह प्राप्त की है, वे पूर्वोक्त नित्य-सिद्ध भक्तों के अनुगत हैं, स्वतन्त्र नहीं।

ये सब भक्त व्रजधाम में आगन्तुक हैं। वस्तुतः इनके ही लिए नित्य लीला है। इनके भाव अवस्था से प्रेम अवस्था तक उन्नीत होने पर, इनके समीप साक्षाद् रूप से भगवान् प्रकट होते हैं, क्योंकि प्रेम का आविर्भाव न होने पर्यन्त भगवद्दर्शन नहीं होता। तब यह भावभक्ति प्रेमभक्ति के रूप में प्रसिद्धि-लाभ करती है। प्रेमभक्ति के पूर्ण विकास को ही साधना की परि-समाप्ति समझना चाहिए। व्रज में भी साधक हैं गोलोक में भी

साधक हैं, वैकुण्ठ में भी साधक हैं। ये सब भक्त अर्थात् प्रेमभक्त भगवद्दर्शन के अधिकारी होकर भगवान् की नित्य-लीला में योग-दान करते हैं। यह सिद्धावस्था है। इस अवस्था में अर्थात् लीलानुभूति के क्रम-विकास में प्रेमभक्ति रस रूप में परिणति लाभ करती है। प्रेमभक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति महाभाव है। जो महाभाव-रूपा हैं, वे ही भक्तकुल की चूड़ामणि हैं। वे ही ह्लादिनीसारभूता स्वयं श्रीराधा हैं। इसीलिए प्रेमभक्ति की पराकाष्ठा लाभ करके अर्थात् श्रीराधाभाव को प्राप्त होकर श्रीगोविन्द के साथ अन्तर्लीला में प्रविष्ट होने का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। प्रेमभक्ति की पूर्णता सिद्ध होने पर ही कुञ्जलीला का अवसान होता है। तब श्रीराधाकृष्ण की निकुञ्जलीला अत्यन्त गुप्त रूप से, यहाँ तक कि सखीगण के भी अगोचर अनुष्ठित होती है। इस लीला के पर्यवसान में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। रस की अभिव्यक्ति एवं अमृतपान एक ही बात है। इसके फलस्वरूप राधागोविन्द लीला के अवसान में विश्राम-सुख लाभ करते हैं। इसके बाद पूर्ववत् कुञ्जभङ्ग के साथ-साथ नित्य लीला का पुनरावर्तन होता रहता है।

जो कुछ कहा गया उससे समझा जा सकता है कि भगवान् की नित्यलीला वास्तव में नित्य है। केवल नित्य नहीं, प्रतिनियत अभिनव एवं प्रतिक्षण नव-नव रूप में आस्वाद्यमान है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि लीला अनादि व अनन्त होने से नित्य होने पर भी, श्रीराधा एवं गोविन्द दोनों ही नित्य होने पर भी राधा के अंशभूत भावमय अनन्त व विचि॰

भक्तवृन्द नित्य होने पर भी, जिसके लिए इस लीला का अनुष्ठान होता है वही जीव, मायामुक्त भगवद्रूप में अप्राकृत भावमय-देह-सम्पन्न नित्यलीला के अन्तर्भुक्त हैं, वह जीव चिर दिन ही इस लीला में आबद्ध रहेगा, ऐसी कोई बात नहीं है। वैकुण्ठादि नित्य धाम में, यहाँ तक कि व्रजभूमि में भी भक्तगणों का क्रम-विकास विद्यमान है। क्योंकि जो साधक हैं वे भक्ति के विकास के साथ-साथ सिद्धावस्था प्राप्त करते रहते हैं। कोई भी भक्त जब महाभाव की पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं, तब वे राधा-तत्त्व के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। उसके बाद निकुञ्ज-लीला के अवसान में वे रसनिष्पत्ति रूप में पूर्ण सिद्धि को प्राप्त होकर महाकृपा के फलस्वरूप युगल-निद्रा से उत्थित होकर अनादि महासुषुप्ति का भेद करने में समर्थ होते हैं। यही प्रकृत महाजागरण या विशुद्ध चैतन्यावस्था है। यही अद्वैत आत्मस्वरूप का साक्षात्कार है। इस अनादि महासुषुप्ति की बात बाद में कही जायेगी।

व्रजलीला का तत्त्व भली प्रकार समझने के लिए सुषुप्ति-रहस्य का विश्लेषण करना आवश्यक है। जहाँ सुषुप्ति नहीं अथच जहाँ स्वप्न भी नहीं वही प्रकृत जाग्रत् अवस्था है। उसी को महाजागरण अथवा परमचैतन्य कहकर निर्देश करना चल सकता है। वस्तुतः जगे रहना ही चेतन रहना है। वही चैतन्य है। सुषुप्ति अचेतन-भाव अथवा जडत्व है। जो चेतन है, वह वस्तुतः ही चेतन है, अचेतन नहीं। अथच स्वातन्त्र्य-वशतः वह आंशिक रूप में अचेतन हो सकता है। यह अचेतन होना ही सुषुप्त होना अथवा निद्रित होना है। इसी का नामान्तर आत्म-विस्मृति है किन्तु यह -मूलक अथच

स्वेच्छामूलक है, अतएव यह भी एक अभिनय है। वस्तुतः चैतन्य की नाट्य-लीला इस सुषुप्ति रूप अथवा आत्मविस्मृति रूप यवनिका के ग्रहण से ही प्रारम्भ होती है।

चैतन्य का स्वेच्छागृहीत यह सुषुप्तभाव आभास मात्र है। इसके द्वारा वस्तुतः चैतन्य विकृत न होने पर भी प्रतिभास रूप में अभिनय की भाँति महाचैतन्य का किञ्चित् अंशमात्र इस सुषुप्ति अथवा अचैतन्य द्वारा ग्रस्त होता है। अर्थात् महाचैतन्य जाग्रत् ही है, अथच अत्यन्त क्षीण अंश में मानो सुषुप्त या आत्मविस्मृत हो जाता है। यह उसकी स्वाभाविक क्रीडा है। इस क्रीडा को स्वभाव, लीला, अविद्या अथवा महेच्छा—जो भी कहा जाय, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मानो महाचैतन्य की १५ कलाओं से भी अधिक परिमाण-विशिष्ट कला चैतन्यस्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहती है। किञ्चित् न्यून एक कला आभास रूप में सुषुप्त हो जाती है। लीलामयी सृष्टि की धारा इस कला में से होकर ही फूट निकलती है।

यह जो सुषुप्ति है, यह वस्तुतः अनादि सुषुप्ति है, अथ च चैतन्य की स्वेच्छाकृत होने से प्रतिक्षण ही इसका आदि है, यह कहा जा सकता है। क्योंकि महेच्छा नित्य वर्तमान है। उसमें अतीत अथवा अनागत का सम्बन्ध नहीं रहता।

इस महासुषुप्ति में चैतन्यमय पुरुष स्वप्नवत् भासित हो उठते हैं। जो स्वातन्त्र्य शक्ति महाचैतन्य के स्वरूपभूत रूप में सदा प्रकाशमान है, वह यहाँ पर भी विद्यमान रहती है महा-

चैतन्य से सुषुप्ति के अन्तराल में जिस विशिष्ट चैतन्य का आविर्भाव होता है, वही परम पुरुष है। इस आविर्भाव की धारा अनन्त हैं, एवं प्रणाली मूलतः एक होने पर भी कार्यतः विभिन्न हैं। अब हम लोग इस अनन्त धारा की एक धारा लेकर ही लीलामयी सृष्टि का रहस्य समझने की चेष्टा कर रहे हैं।

जब प्रथम पुरुष आविर्भूत हुए, तब वे स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा विशिष्ट होकर ही आविर्भूत हुए। महाचैतन्य व परम पुरुष में पार्थक्य यही है कि जो स्वातन्त्र्य महाचैतन्य में निरवच्छिन्न है, वह परम पुरुष में अतिक्षीण-अवच्छेद-विशिष्ट रूप में ही प्रकट होता है। इस किञ्चिन्मात्र अवच्छिन्नतावशतः परम अद्वैत तत्त्व युगल रूप में प्रकाशमान होता है। पूर्व वर्णित ये परमपुरुष ही श्री-कृष्ण-तत्त्व हैं, एवं उनकी स्वरूपभूता शक्ति ही श्रीराधा हैं। परम स्वरूप का जो स्वभाव है, उनकी स्वरूपभूता शक्ति का भी वही स्वभाव होता है। अनादि सुषुप्ति के अतीत महाचैतन्य विशुद्ध चैतन्य मात्र है। किन्तु जो परम पुरुष रूप में आविर्भूत होते हैं, वे आनन्द स्वरूप—नित्य चिन्मय स्वप्रकाश आनन्द स्वरूप—हैं, उनकी स्वरूपभूता शक्ति भी ऐसी ही आनन्दरूपा अर्थात् ह्लादिनी हैं, जो संधिनी, संवित् प्रभृति शक्तिपुञ्ज को अङ्ग रूप में धारण करके आनन्दांश के प्राधान्यवशतः ह्लादिनी रूप में प्रकट हैं।

इस प्रथम आविर्भाव में श्रीकृष्ण ही तत्त्व हैं, राधा केवल शक्तिमात्र हैं। इसलिए इस स्थल पर श्रीकृष्ण से श्रीराधा का स्फुरण होता है। एवं अन्तर्मुख गति में श्रीकृष्ण के अंग में राधा का लय होता है। स्वतन्त्र रूप में राधा की कोई स्थिति नहीं है।

राधा महाभाव स्वरूपा हैं, यह बात पहले प्रसंगतः कही गई है, एवं बाद में विशेष रूप से आलोचित होगी। श्रीकृष्ण परमानन्दमय रसराज स्वरूप हैं। श्रीकृष्ण बिन्दु हैं, राधा विसर्ग। एक बिन्दु से ही अन्तर्लीन अपर एक बिन्दु क्षोभवशतः क्रमशः निर्गत होकर प्रकाशमान होता है। पुनः क्षोभनिवृत्ति के साथ-साथ ही द्वितीय बिन्दु प्रथम बिन्दु में प्रविष्ट होकर उपसंहृत होता है। बिन्दु का आत्मप्रसारण होने पर विसर्गभाव का उद्भव होता है। विसर्ग के आत्म-सङ्कोचन से अन्तर्मुख गति के प्रभाव से बिन्दु रूप में स्थिति होती है। विसर्ग की स्थिति नहीं, केवल गति है। बिन्दु से बहिर्मुख गति में विसर्ग का उद्भव एवं बिन्दु से अन्तर्मुख गति में विसर्ग का तिरोभाव होता है। दोनों अवस्थाओं में ही बिन्दु गतिहीन है। विसर्ग का स्थितिभाव ही बिन्दु है, बिन्दु का गति-भाव ही विसर्ग है।

यह जो श्रीकृष्णतत्त्व की बात कही गई इसकी भी एक सुषुप्तावस्था है। महाचैतन्य की जैसे क्षुद्रतम अंश में ही सुषुप्ति होती है, परम पुरुष श्रीकृष्ण तत्त्व में भी अति क्षुद्रतम अंश में ही सुषुप्ति होती है। इस सुषुप्ति के फलस्वरूप ही कृष्ण में स्वप्नवत् महाभावरूपिणी राधा की स्फूर्ति होती है, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया। जब तक परम पुरुष की सुषुप्ति नहीं होती तब तक कृष्ण अन्तर्लीनशक्ति हैं, अर्थात् राधाहीन हैं।

ठीक इसी प्रकार महाभाव रूपी राधातत्त्व के आभास रूप से सुषुप्ति अथवा आत्मविस्मृति का उदय होता है। सुषुप्ति अथवा

आत्मविस्मृति से अतिरिक्त किसी अवस्था में भी क्षोभ नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि चैतन्यांश सदा क्षोभ-शून्य एवं अचेतनांश वा सुषुप्तांश सदा क्षोभमय है।

महाभाव की सुषुप्ति में स्वप्नवत् भावमय जगत् का आविर्भाव होता है। यही अनन्त भावराज्य है या बहिरंग नित्य-लीला का अनन्त क्षेत्र है। यह भावराज्य विराट्-मण्डल-स्वरूप है। इसका अन्तरंगतम अंश श्रीवृन्दावन, मध्यांश गोलोक एवं बहिरंश वैकुण्ठ या परव्योम है। यह भावराज्य की आभा भावराज्य को घेर कर अनन्त ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम के रूप में विराजित है।

महाभाव की सुषुप्ति की भाँति भावमयी सत्ता में भी एक सुषुप्ति है। कहना न होगा, यह भी भावसत्ता के अतिक्षीणांश मे ही प्रकाश पाती है। इस सुषुप्ति के बीच स्वप्नवत् अभाव का जगत् आविर्भूत होता है, यह अभाव का जगत् ही मायिक जगत् है। भेदज्ञान इस जगत् का परिचायक धर्म है। भाव-जगत् का किञ्चित् आभास लेकर विपर्यय क्रम से निद्रित मनुष्य के स्वप्न-दर्शन की भाँति मायिक जगत् का दर्शन होता है। जाग्रत् अवस्था के बिना जैसे स्वप्नावस्था की उपपत्ति नहीं होती—ठीक उसी प्रकार नित्य लीलामय भावराज्य का आश्रय न लेकर नित्य-कर्म-मय अभाव जगत् अर्थात् सुख-दुःखमय खण्ड-जगत् आविर्भूत नहीं हो सकता।

अवतरण की ओर सर्वत्र ही आत्मसंकोच-स्वरूप विस्मृति एवं सुषुप्ति रूप स्वेच्छागृहीत आवरण की क्रिया विद्यमान है

सृष्टि की ओर प्रत्येक स्तर में तत्त्व का स्फुरण होकर अवरोह क्रम में अनन्त तत्त्वों का प्राकट्य होता है। अखण्ड महाचैतन्य ही स्वातन्त्र्य-बल से स्वेच्छाधृत आवरण रूप परिग्रह करके अनन्त रूप धारण किए रहते हैं। जो तत्त्वातीत हैं, वे ही मानो क्रमशः एक के बाद एक अनन्त तत्त्वों के आकार में स्फुरित होते हैं। किन्तु यह, अर्थात् यह अनन्त अभिनय, अपने लिए नहीं है। एक ही अनेक बने हैं, एवं बन रहे हैं—यह सब ही उसका तात्त्विक रूप है, यह सब नित्य-सिद्ध है, एवं उसकी अनादि व अनन्त लीला के नित्य-सिद्ध उपकरण हैं। किन्तु यह उनकी लीला के उद्देश्य से ही, अपने लिए नहीं। इसका द्रष्टा जीव है, भोक्ता जीव है, इसका आस्वादनकर्ता जीव है। ऐसी लीला का उद्देश्य, जीव को क्रमशः इस महालीला के भीतर से, उसकी कला के क्रमिक विकास के फलस्वरूप, किसी समय उसे अनन्त-कला-सम्पन्न महाचैतन्य रूप में प्रतिष्ठित करना है। इसीलिए प्रत्येक स्तर में ही लीला के दो पहलू हैं : एक इस लीला की सीमा में आबद्ध रहकर निरन्तर इसी का अनुवर्तन करना और दूसरा—लीला का दर्शन करते-करते व आस्वादन करते-करते पुष्टि लाभ करके लीला के उद्देश्य को प्राप्त होकर लीलातीत अवस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना। भोजन करके तृप्तिलाभ होने पर जैसे भोजन की आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार लीला के फलस्वरूप आत्म-विकास सम्पूर्ण होने पर लीला की आवश्यकता नहीं रहती। तब स्वभाव ही जीव को लीला-मण्डल से बाहर खींच ले जाता है। किन्तु जब तक लीला का उद्देश्य पूरा नहीं होता, जब तक अतृप्ति

विदूरित नहीं होती, जब तक कला का सम्यक् विकास सिद्ध नहीं होता, तब तक लीला में स्थिति अवश्यम्भावी है।

वास्तव में जैसे संसार-लीला या मायिक जगत् की लीला नित्य है, उसी प्रकार संसार के अतीत, माया से अस्पृष्ट, विशुद्ध भावराज्य की लीला भी नित्य है। किन्तु जीव किसी लीला में भी आबद्ध रहने को बाध्य नहीं। लीलातीत अवस्था का संधान न पाने पर्यन्त, लीला में पुनः पुनः आवर्तन अवश्यम्भावी है। किन्तु इस निरन्तर आवर्तन के फलस्वरूप जब थोड़ा-थोड़ा करके कला का क्रमिक विकास सम्पन्न होता है, तब लीलातीत का संधान स्वयं ही स्फुट हो उठता है। तब लीला-निवृत्ति होती है। लीला में फिर पुनरावृत्ति नहीं होती। यह लीलानिवृत्ति स्थायी है। यह नित्य लीला के अन्तर्गत सामयिक निवृत्ति नहीं है।

नित्य लीला में संकोच व विकास का खेल निरन्तर चल रहा है। यह विसर्ग का व्यापार है। इससे प्रकृत प्रस्ताव में स्थिति नहीं होती। प्रत्येक आवर्तन के बाद ही एक आभास रूप स्थिति की अवस्था है अवश्य, किन्तु वह स्थायी नहीं होती। वह प्रकृत स्थिति नहीं। यह स्थिति ही बिन्दु है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जीव उसको पकड़ कर रह नहीं सकता, उसको पुनः लीला के आवर्त में अथवा विसर्ग के अन्तरंग में लौट आना होता है।

इसका कारण क्या है? विसर्ग बिन्दु को दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है। एक, न जानते हुए अर्थात् अज्ञात रूप से ही प्रकृति के नियम का अनुसरण करके सामयिक रूप से किञ्चित् काल के लिए बिन्दु में विश्राम करना, एवं क्लान्ति-अपनोदन के

बाद पुनः लीला-भूमि में लौट आना। द्वितीय, ज्ञानपूर्वक अर्थात् जानते हुए साधना के परिपाक-निबन्धन स्वीय-स्वीय स्वरूप सत्ता के क्रम-विकास के फलस्वरूप बिन्दु रूप में प्रतिष्ठा-लाभ करना। इस अवस्था में विसर्ग फिर विसर्ग नहीं रहता। कला-विकास के साथ-साथ वह पूर्णत्व-लाभ करता है, एवं बिन्दु-रूप धारण करता है। यही बिन्दु की स्वरूप में स्थिति है। यह अवस्था लाभ करने पर विसर्ग का फिर पुनरावर्तन नहीं होता। इसके बाद परावस्था-लाभ का सूत्रपात होता है।

मायिक जगत् सृष्टि से प्रलय पर्यन्त अनन्त कर्मों में विक्षुब्ध रहता है, एवं प्रलय के बाद समस्त वैचित्र्य के उपशम के फल-स्वरूप कारण-सलिल में अव्यक्त एकाकार धारण करता है, एवं विश्राम-लाभ करता है। किन्तु यह अज्ञानपूर्वक होता है।

इस कारण ही यह विश्राम चिर-विश्राम में परिणत नहीं हो सकता। जगत् का व जीव-मण्डली का अतृप्त अंश कर्मपथ पर अभिनव सृष्टि में प्रत्यावर्तन करता है। चक्र के आवर्तन की भाँति निरन्तर यह प्रकार चल रहा है। ज्ञान का उदय न होने पर्यन्त इस आवर्तन या घूर्णि के हाथ से अव्याहति पाने का कोई उपाय नहीं। भावजगत् की नित्य लीला भी ठीक इसी प्रकार की है। क्योंकि समग्र भावजगत् अथवा व्रजभूमि अनन्त वैचित्र्य के साथ दैनन्दिन लीलावसान के समय एक बार महाभाव में उपसंहृत होती है। यह सामयिक विश्रान्ति की अवस्था है। किन्तु इसके बाद पुनः इस महाभाव से अनन्त भावराशि अभिनव लीलारस के आस्वादन के लिए प्रकट हो जाती है। पूर्वोक्त विश्रान्ति

सभी के लिए चिर विश्रान्ति नहीं होती, क्योंकि भाव-जगत् में भी जीव का क्रम-विकास है। भाव का उदय होने पर भाव-जगत् में प्रवेश होता है, यह सत्य है, किन्तु प्रेम का विकास होने पर भी लीला की सम्यक् स्फूर्ति नहीं हो सकती।

क्योंकि, प्रेम की अभिव्यक्ति के पथ पर क्रमशः अनेक अवस्थाएँ प्राप्त करनी होती हैं, जिसकी परिसमाप्ति होने पर महाभाव की पराकाष्ठा राधा-तत्त्व में स्थिति होती है। प्रेम, स्नेह, प्रणय, मान, अनुराग प्रभृति प्रेमभक्ति-विलास की एक-एक पृथक्-पृथक् भूमियाँ हैं। भक्ति के विकास के तारतम्य के अनुसार लीलारस के आस्वादन में तारतम्य है। जीव को क्रमशः सभी का आस्वादन करना होगा, नहीं तो चित्कला की पुष्टि सम्पन्न न होगी। प्रेम-भक्ति की अभिव्यक्ति जीव-हृदय में राधा-तत्त्व पर्यन्त निष्पन्न होने पर यह जीव राधाभावापन्न हुआ है, यह कहा जा सकता है। उसे फिर भावराज्य की बहिरंग लीला में पुनरावर्तन नहीं करना होगा। किन्तु जब तक जीव का क्रमविकास इस प्रकार नहीं होता तब तक बाध्य होकर ही उसको पुनः पुनः लीला में आवर्तन करना होता है। ब्रह्म को जानना जिस प्रकार ब्रह्म हो जाना है, ठीक उसी प्रकार राधा को उसी समय ठीक जाना जायेगा, जब भक्त क्रम-विकास के फलस्वरूप राधा-भाव में स्थिति-लाभ करेगा।

संक्षेप में कहें तो भाव को महाभाव होना होगा। यही व्रजलीला का उद्देश्य है। यह न होने पर्यन्त भाव दैनिक आवर्तन में महानिशा के समय एकबार महाभाव में प्रविष्ट होकर किञ्चित्

श्रीकृष्ण-तत्त्व पर्यन्त प्रतिष्ठा लाभ कर लेने पर महाचैतन्य रूप परमावस्था में जाने का मार्ग परिष्कृत हो जाता है। श्रीकृष्ण-तत्त्व रसराज-स्वरूप है। यह अप्राकृत नित्य नवीन काम-तत्त्व का स्वरूप है। इस अवस्था में प्रतिष्ठित न हो पाने पर उस मूल अथवा अनादि सुषुप्ति वा महासुषुप्ति का भेद करने का और कोई मार्ग नहीं मिलता। यह मूल अविद्या अथवा आत्म-विस्मृति अवगत न होने पर महाचैतन्य-स्वरूप में स्थिति किस प्रकार सम्भव होगी ?

महाभाव के बाहर भावराज्य की बात पहले वर्णित हुई है। महाभाव की क्रिया से ही भावराज्य का विकास होता है। महाभाव की क्रिया राधा-कृष्ण की नित्य निकुञ्ज-लीला का नामान्तर है। इस क्रिया से महाभाव के बाह्य प्रदेश में एक आलोक-मण्डल की सृष्टि होती है। यह मण्डल ही भाव-राज्य का आश्रय है। महाभाव के निष्क्रिय हो जाने पर आलोक मण्डल का विकास नहीं होता, तब भावराज्य अस्तमित होता है। महाभाव अन्तर्मुख पथ पर अग्रसर होते होते किसी एक महाक्षण में रस-स्वरूप में आत्मसमर्पण करता है। पुनः इस स्वरूप से निर्गत होकर पहले स्थान पर लौट आता है। यह जो एक बार अन्तर्मुख और एक बार बहिर्मुख गति है, यही महाभाव की क्रिया है। यह क्रिया विद्यमान रहते आलोक-मण्डल आविर्भूत हुए बिना रह नहीं सकता। किन्तु स्मरण रखना होगा कि महाभाव के, अन्तर्मुख गति से महारस की ओर क्रमशः अग्रसर होते रहने पर, बहिर्मुख गति मन्द हो जाती है, अतएव उक्त आलोक-मण्डल का ह्रास हो आता है। ऐसा ही प्रत्येक स्तर के सम्बन्ध में समझना

होगा। सुतरां भावजगत् पुनः पुनः महाभाव में प्रविष्ट होता है एव उससे निर्गत होने के कारण ही भावजगत् के बाह्य प्रदेश मे एक आलोक-मण्डल रचित होता है। यही ब्रह्मधाम वा ब्रह्मलोक नाम से प्रसिद्धि पाता है। समग्र अभाव का जगत् इस आलोक का आश्रय लेकर विद्यमान रहता है। पूर्व की भाँति अभाव का जगत् सङ्कुचित होकर एक बार भाव-जगत् में प्रविष्ट होता है, एवं पुनः भाव से उत्थित होकर स्वीय अभाव रूप मे लौट आता है। यह अभाव-जगत् ही मायिक जगत् है। जिस आलोक में या प्रभा-मण्डल में मायिक जगत् उद्‌भासित होता है, उसे ब्रह्मालोक या ब्रह्मलोक कहते हैं। जिस आलोक में समस्त भाव-राज्य उद्‌भासित होता है, उसको भाव का आलोक या भावलोक कहते हैं। ये दोनों आलोक परस्पर पृथक् हैं। प्रथम आलोक ज्ञान का आलोक है इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह मायिक ज्ञान है। इस आलोक में अभाव निवृत्त नहीं होता। यद्यपि इसके अभाव में सामयिक विश्राम घटित होता है, तथापि यह स्थायी नहीं होता। क्योंकि पुनः अभाव की तरंग जाग उठती है। भाव का आलोक प्राप्त न होने पर संसार में श्रान्त-जीव स्थायी विश्राम नहीं पा सकता। भाव का आलोक प्राप्त होने के साथ ही साथ स्वभाव में स्थिति होती है, अतः अभाव की ताड़ना फिर नहीं रहती, यह ठीक है, किन्तु महा-अभाव का उदय होता है—जागतिक अभाव छूट जाता है, किन्तु महा-अभाव जागता है। यह न होने से भक्तिराज्य का विकास ही न होता इस सम्बन्ध मे बाद मे कहेंगे

प्रकाश का पूर्ण विकास महाभाव पर्यन्त है। जिस आलोक में भावराज्य प्रकाशमान रहता है, उसी की पूर्ण परिणति महाभाव है। सुतरां महाभाव पर्यन्त उत्थित होने पर फिर प्रकाश का विकास नहीं होता। भाव का आलोक क्रमशः क्षीण होकर आता रहता है। क्योंकि भाव का क्षय न होने तक रस का उद्गम नहीं हो सकता। सुतरां राधाकृष्ण की निकुञ्जलीला अन्धकार की लीला है। अवश्य यह अन्धकार जागतिक अन्धकार नहीं, भावराज्य का अन्धकार भी नहीं। वास्तव में ब्रह्मलोक के बाद अन्धकार नाम की कोई वस्तु ही नहीं रहती। सुतरां ब्रह्मलोक या भावलोक में जागतिक अन्धकार नहीं है। आलोक की चरम सीमा में वास्तविक अन्धकार कहां से आएगा ? अतएव समझना होगा कि जिस निकुञ्ज में श्रीराधाकृष्ण का मिलन सङ्घटित होता है, वह महाभाव के आलोक की प्रकाश-शक्ति के भी अतीत अवस्था है।

क्रमशः महाभाव के क्षय के साथ-साथ रस-राज का क्रमिक आत्मप्रकाश सिद्ध होता है। राधा के आत्मसमर्पण की पूर्णता में कृष्ण-स्वरूप में स्थितिलाभ यही निकुञ्जलीला का प्रकृत रहस्य है। अमा कला की क्रीड़ा इसी प्रकार होती है।

जीव के राधाभाव से पूर्ण आत्मसमर्पण के फलस्वरूप कृष्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित होने पर क्षण भर के लिए महाचैतन्य का उन्मेष होता है। कृष्णस्वरूप में प्रतिष्ठित होना ही परमपुरुष की अवस्था है। इस अवस्था में परमा प्रकृति उसके अङ्गीभूत होती है। समग्र भावराज्य परमा प्रकृति के अङ्गीभूत है, एवं इसी

प्रकार अभावराज्य अर्थात् मायाराज्य भावराज्य के अंगीभूत है। सुतरां अनन्त-ब्रह्माण्ड-समन्वित सुविशाल मायाराज्य को एक अंश में धारण करके विराट् भावराज्य महाभावरूपा श्रीराधा के अंग के एक प्रान्त में स्थान प्राप्त करता है। इस प्रकार राधा को ग्रास करके एक अंग में स्थापित कर पाने पर परम पुरुष श्री कृष्ण महाचैतन्य रूपी आत्मस्वरूप का क्षणिक साक्षात्कार पाने में समर्थ होते हैं। प्रकृति-विरहित अर्थात् सुषुप्त प्रकृति-विशिष्ट परम-पुरुष महाचैतन्य का दर्शन-लाभ नहीं कर पाते।

यह क्षणिक दर्शन स्थायी होने पर ही जीव परम-पुरुष एवं परमा प्रकृति दोनों के अतीत महाचैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। यही उसकी आत्मस्थिति या महाजागरण है। इस अवस्था में स्वप्न नहीं, सुषुप्ति भी नहीं। यही पूर्णत्व है।

सृष्टि प्रक्रिया की ओर लक्ष्य करने पर दिखाई देता है कि एक स्तर से अन्य स्तर के आविर्भाव के समय, पहले स्तर की क्रिया के फलस्वरूप, जो प्रभामण्डल आविर्भूत होकर इस स्तर को घेर लेता है, द्वितीय स्तर इस मण्डल के मध्य ही प्रकट होता है। द्वितीय स्तर के संहार के समय वह इस प्रभा-मण्डल में ही उपसंहृत होता है। तदनन्तर प्रभा-मण्डल प्रथम स्तर में अनुप्रविष्ट होता है।

इस नीति के अनुसार महाभाव को घेर कर जो महान् आलोक निकुञ्जलीला के प्रभाववशतः आत्मप्रकाश करता है, समग्र भावराज्य इस महान् आलोक में ही भासित हो उठता है। इस भावराज्य का उपशम भी साक्षात् रूप से इस आलोक के बीच ही होता है यह आलोक ठीक तभी महाभाव में प्रत्यावर्तन

करता है जब महाभाव अन्तर्मुख गति में महारस की ओर अग्रसर होता है। इसीलिए जो क्रम-विकास के फलस्वरूप भाव से महाभाव में उन्नीत होते हैं, वे साक्षात् रूप से महाभाव के साथ तादात्म्य लाभ करते हैं। किन्तु जो आत्मविकास पूर्ण न होने पर भी दैनन्दिन लीला के अवसान में विश्राम के लिए महाभाव में लौट जाते हैं, वे महाभाव के साथ तादात्म्य-लाभ नहीं करते, किन्तु महाभाव के इस पूर्वोक्त प्रकाश में लीन होकर सुषुप्तवत् रहते हैं। उनके लिए यह आलोक अस्तमित नहीं होता। वह महाभाव को घेर कर विद्यमान रहता है, एवं वे उसी में लीन रहते हैं। यह सुषुप्ति का ही नामान्तर है। मायिक जगत् के सम्बन्ध में भी ठीक ऐसा ही विधान कार्य करता है, यह जानना होगा। क्योंकि भावजगत् को घेर कर जो आलोक विद्यमान है एवं जो निरन्तर भावराज्य की अभ्यन्तरीण क्रिया के फलस्वरूप स्फुरित हो रहा है, मायिक जगत् प्रलय के समय इसी आलोक में ही विश्राम पाता है। पुनः नूतन सृष्टि में यहाँ से ही वह बाहर आ जाता है, भावजगत् में उसका प्रवेश नहीं होता, यद्यपि यह सत्य है कि यह आलोक भावजगत् की आभा से पृथक् अपर कुछ नहीं है। किन्तु जिनका मायिक-जगत् का उपयोगी आत्म-विकास सम्पूर्ण हो गया है, वे इस आलोक का भेद करके भाव-राज्य में प्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् अपने-अपने भावस्वरूप में स्थितिलाभ करते हैं। उन्हें इस आलोक में लीन होकर नहीं रहना होता।

ठीक इसी प्रकार महाभाव और रस एवं रस और महाचैतन्य-इनका परस्पर सम्बन्ध भी समझना होगा।

और एक बात इस प्रसंग में स्मरण रखने योग्य है। वह यह है—नीचे का स्तर उपसंहृत होने पर भी उसके ऊपर का स्तर तभी उपसंहृत होगा, ऐसी कोई बात नहीं। वह जगा ही रहता है। किन्तु उसके भी उपसंहार का समय है। जब निर्दिष्ट समय आता है, तब यह ऊर्ध्व जगत् भी उपसंहृत होता है। इस प्रकार ऊर्ध्व एवं अधःस्तरों के भेद से उपसंहार का क्रम लक्षित होता है। सर्वत्र ही क्रमात्मक काल का प्रभाव स्पष्ट उपलब्ध किया जा सकता है। किन्तु यथार्थ उपसंहार काल में नहीं होता। वह क्षण के मध्य में ही निष्पन्न होता है। काल में क्रम है, वहीं पूर्वापर-भाव है, सम्बन्ध है, एवं संचार है। किन्तु क्षण में इन सब धर्मों मे से कोई लक्षित नहीं होता। इसीलिए यथार्थ स्थिति, काल का अतिक्रम न कर पाने पर अर्थात् क्षण में प्रविष्ट न हो पाने पर सिद्ध नहीं होती।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकेगा कि प्रकृत स्थिति और बिन्दुरूपी क्षण एक व अभिन्न हैं। प्रत्येक स्तर के उपशम के समय उसे आपेक्षिक रूप से पाया जाता है। किन्तु यह प्राप्ति यथार्थ प्राप्ति नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर, अर्थात् क्षण को वस्तुतः प्राप्त होने पर, क्रम के न रह सकने से काल नहीं रहता, एवं काल का धर्म क्रम का विकास भी नहीं रहता। इसीलिए यद्यपि प्रत्येक स्तर का उपशम क्षणरूपी महाउपशम के अन्तर्गत है, इसमें सन्देह नहीं, तथापि वह प्रकृत उपशम नहीं, क्योंकि इस अवस्था से पुनरावर्तन होता है।

लीलातीत परम शान्ति प्राप्त करने के लिए नित्य लीला का भेद करना आवश्यक है। लीला में प्रवेश करना होगा एवं भाव-

क्षय के साथ-साथ लीला का अतिक्रम करना होगा। यही स्वभाव का नियम है। भाव अथवा महाभाव की लीला में प्रविष्ट न होकर, अभाव के जगत् से अर्थात् मायाराज्य से साक्षात् रूप से भावातीत व लीलातीत महाचैतन्य का साक्षात्कार करना, साधारण जीव के लिए दुराशामात्र है। क्योंकि अभाव का भाव द्वारा पूरण न कर पाने पर ऋण-मुक्ति नहीं होने से प्राकृतिक आकर्षण-विकर्षण के जाल से अव्याहृति नहीं मिलती।

श्रीकृष्णतत्त्व काम-तत्त्व है, श्रीकृष्णबीज कामबीज है एवं श्रीकृष्ण की गायत्री कामगायत्री है। किन्तु यह काम प्राकृतिक काम नहीं। यह अप्राकृतिक काम है। प्राकृतिक काम व अप्राकृतिक काम दोनों ही स्वरूपतः एक होने पर भी एक मलिन है एवं दूसरा निर्मल। यही दोनों का भेदनिरूपक धर्म है। प्राकृत काम का अतिक्रम न कर पाने पर जैसे भाव वा महाभाव अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अप्राकृत काम का भेद न करके कोई महाचैतन्य-लाभ भी नहीं कर सकता। प्राकृतिक काम की क्रिया से मायिक जगत् की सृष्टि होती है। इस काम पर विजय न पा सकने से मायाराज्य का अतिक्रम करके नित्य भाव-राज्य में स्थिति-लाभ नहीं होता। ठीक इसी प्रकार अप्राकृत काम आयत्त हुए बिना महाचैतन्य में स्थिति-लाभ नहीं होता।

श्रीराधाकृष्ण की रहस्यलीला वस्तुतः कामकला का ही विलास है। इसका किञ्चित् आभास परमतत्त्व के विश्लेषण के समय यथास्थान दिया जायेगा। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि श्रीकृष्ण परमपुरुष होने पर भी महाचैतन्य का साक्षा-

त्कार करने में समर्थ नही होते यदि वे श्रीराधा से युक्त न हों। श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा का योग तब तक सम्भव नहीं होता जब तक राधा समग्र भावराज्य का आकर्षण करके एवं स्वीय अङ्ग मे उसका स्थापन करके, एकाकी परम पुरुष की ओर अभिसार नहीं करतीं एवं इस अभिसार के पथ पर क्रमशः स्वय को श्रीकृष्ण के चरणों में विसर्जित नही करती। राधा के आत्म-समर्पण द्वारा ही श्रीकृष्ण के स्वरूप मे उनकी स्थिति सिद्ध होती है। तभी श्रीकृष्ण को राधायुक्त वा राधाविशिष्ट कह कर वर्णन किया जा सकता है, उससे पहले नही। अन्य समय अर्थात् श्रीकृष्ण से राधा के व्यवधान-काल में, श्रीकृष्ण शक्ति-विरहित होने से अपूर्ण है एवं इसीलिए कामजय में असमर्थ है।

'राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वय मदनमोहितः॥'

अर्थात् राधायुक्त ही श्रीकृष्ण मदन को मोहित करने में समर्थ हैं। यही स्वरूप-शक्ति की महिमा है। विकसित स्वरूप-शक्ति के प्रभाव से कामतत्त्व का पराजय अवश्यम्भावी है। किन्तु कृष्ण जब एकाकी है अर्थात् जब उनमें स्वरूपशक्ति का योग नहीं है, उस समय उनका दर्शन करने से समग्र विश्व को विमोहित करने पर भी वे स्वयं मोह के अतीत नही होते। क्योंकि काम उन्हे मोहित किए रहता है।

अतएव कामजय के लिए स्वरूप शक्ति का साहचर्य एवं **लीला अत्यावश्यक है। यह साहचर्य पाने के लिए स्वरूपशक्ति**

का जागरण भी आवश्यक है। क्योंकि यह शक्ति सुषुप्तावस्था में रहती हुई भी न रहने के समान है। उसके द्वारा कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। महारास के रहस्य का विश्लेषण करते समय यह तत्त्व स्पष्ट देखा जा सकता है। रासलीला को जिन महापुरुषों ने कन्दर्प का दर्पदलन कहकर समझाने की चेष्टा की है वह अत्यन्त समीचीन है। किन्तु उसकी आलोचना यहाँ अप्रासङ्गिक है।

यद्यपि 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'* यह प्रसिद्ध ही है, तथापि महाचैतन्य लाभ के पहले तक जीव की दृष्टि के अनुसार कहना ही होगा कि लीला का भी उद्देश्य है। मायिक जगत् जिस प्रकार कर्मक्षेत्र है, एवं कर्म के अतीत होने पर जैसे माया-राज्य की कोई सार्थकता नहीं रहती, ठीक उसी प्रकार भावराज्य अथवा महाभावमण्डल क्रमशः बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग लीला-निकेतन है। लीला के अतीत होने पर भाव व महाभाव की कोई सार्थकता नहीं रहती।

भगवान् के धाम, रूप, गुण, नाम व लीला सब ही अप्राकृत एवं चिदानन्दमय हैं—यह बात पहले ही कही गई है। उनकी स्वरूपशक्ति के प्रभाव से यह सब नित्य ही अभिव्यक्त होते हैं। मायिक सृष्टि व प्रलय की भांति इनकी सृष्टि या लय नहीं है। तथापि आकुञ्चन एवं प्रसारण ये दो धर्म शक्ति के स्वभावसिद्ध गुण होने से नित्य धाम में भी इनकी क्रिया देखने को मिलती है। मायिक जगत् में प्रलय-काल में कार्यवस्तु-मात्र ही विश्लिष्ट होकर उपादान-कारण में लय-प्राप्त होती है, नूतन सृष्टि में

* ब्रह्मसूत्र २ । ३३

अभिनव रूप से ही समस्त कार्यों की पुनरुत्पत्ति होती है। किन्तु नित्यधाम में जो सङ्कोच होता है, उसमें वस्तु का स्वरूप क्षुण्ण नहीं होता एवं प्रसारण के समय भी पूर्वस्वरूप का ही पुनः आविर्भाव होने से अभिनव सृष्टि की कोई बात ही नहीं उठती। वस्तुतः संकोच अवस्था सुषुप्ति का ही नामान्तर है एवं प्रसारण सुषुप्ति-भंग के पश्चात् जागरण का पर्याय-मात्र है। निद्राकाल में जैसे देहबोध या आत्मबोध न रहने पर भी देह की सत्ता अविच्छिन्न ही रहती है, उसी प्रकार दैनन्दिन लीला का उपशम होने पर सुषुप्तिकाल में आत्मविस्मृति न रहने पर भी स्वरूप का अनुवृत्त विच्छिन्न नहीं होता। इसी कारण नित्य धाम को मृत्यु अथवा प्रलय के अतीत कहा जाता है।

माया-राज्य कृत्रिम है, एवं भावराज्य स्वभावसिद्ध। माया-राज्य अहन्ता एवं ममताबोध का आश्रय-स्वरूप है। यह अहन्ता व ममता दोनों ही कल्पित हैं, कोई-सी भी स्वाभाविक नहीं। किन्तु भावराज्य में भी ममता की क्रिया दिखाई देती है। वह अकृत्रिम एवं स्वभावसिद्ध होने से बन्धन का हेतु नहीं होती।

भावराज्य में किसी विषय में कृत्रिमता नहीं रहती, इसीलिए वहाँ जो कुछ प्रकाशित होता है, उसमें कहीं भी चेष्टा, उद्यम या पुरुषकृतित्व का प्रभाव लक्षित नहीं होता। जिसे 'पुरुषकार' समझा जाता है, वह वस्तुतः प्रकृति का ही खेल है। वस्तुतः भावराज्य ही प्रकृति का राज्य है। इस राज्य के केन्द्र में केवल-मात्र पुरुष ही हैं। उनसे भिन्न सभी कुछ प्रकृति है। जो सब रूप पुरुष नाम से प्रतीत होते हैं, वे भी वास्तव में प्रकृति के ही

रूप हैं। लीलारस के आस्वादन के लिए प्रकृति ही अनन्त रूपसम्भार उस-उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए अनादि काल से ग्रहण किए हुए है। इस लीलाभिनय की अधिष्ठात्री शक्ति योग-माया हैं।

वस्तुत: योगमाया, राधा, वृन्दा, लीलाशक्ति प्रभृति एक अद्वितीय स्वरूपशक्ति के ही कार्य-भेदानुरूप विभिन्न नाम मात्र हैं।

भाव व रस इन दोनों के तत्त्व की सम्यक् प्रकार से धारणा न कर पाने पर नित्यलीला का रहस्य हृदयङ्गम नहीं हो सकता। भाव की पराकाष्ठा महाभाव है एवं रस की पराकाष्ठा रसराज। भाव के साथ रसराज का सम्बन्ध समझ पाने से ही महाभाव के साथ रसराज का सम्बन्ध समझने में क्लेश न होगा। लौकिक जगत् का दृष्टान्त लेकर लोकोत्तर नित्यधाम का तत्त्वज्ञान अर्जित करना होता है। जो लोग नित्य धाम में अभी भी प्रवेश करने मे समर्थ नहीं हुए हैं, उनके लिए उसे जानने का कोई भी उपाय नहीं।

जीव तटस्थ-शक्ति-स्वरूप अणुभावापन्न सत्ता है। यह स्वरूपत: ज्ञानात्मक होने पर भी इसका एक स्वरूपभूत धर्म भी है। इस धर्म का सङ्कोच-विकास हुआ करता है पर धर्मी का संकोच-विकास नहीं होता। यह ज्ञान रूपी धर्म द्रव्यात्मक होने से अवस्था के अनुसार उसमें क्षोभ की उत्पत्ति होती है। शान्त गङ्गावक्ष पर जैसे मृदु-मारुत के हिल्लोल से तरंगें उठती हैं ठीक इसी प्रकार चिदणु के स्वरूप-धर्मात्मक ज्ञान में किसी

किसी अवस्था-विशेष में हिल्लोल उत्पन्न होता है। यही क्षोभ है। क्षोभ न होने पर परिणाम नहीं हो सकता, क्योंकि जो निष्कम्प व अक्षुब्ध है, वह अपरिणामी है। यह जो स्वरूपभूत ज्ञान की बात कही गई इसीका दूसरा नाम चित्त है। इसीका क्षोभ या क्षोभोन्मुख अवस्था चित्तवृत्ति नाम से आख्यात है। यह वृत्ति चित्त के अवयवगत सन्निवेश-तारतम्य के कारण नाना प्रकार की हुआ करती है। जिसको हमलोग वृत्तिज्ञान कहते हैं, वह इसीका एक प्रकार-मात्र है। उसी प्रकार जिसको इच्छा कहते हैं, वह भी इसीका और एक प्रकार है। इस प्रकार दृष्टि के तारतम्य के कारण चित्त का क्षोभ विभिन्न नामों से जाना जाता है। चित्त में जिस प्रकार की क्षुब्धता या तरङ्ग उत्पन्न होने पर आनन्द की अनुभूति सम्भव होती है वही 'भाव' नाम से परिचित है। बीज अंकुरित होकर क्रमशः विकास प्राप्त होते-होते जिस प्रकार वृक्ष, पुष्प, फल एवं रस रूप में परिणत होता है, ठीक उसी प्रकार भाव भी अंकुरित होकर क्रमशः अभिव्यक्त होने पर चरमावस्था में रस या आनन्द रूप मे परिणति प्राप्त करता है। सुतरां भाव को आनन्दात्मक रस का बीज कहने से भी अत्युक्ति न होगी।

पहले वर्णित दृष्टान्त से लौकिक भाव का किञ्चित् परिचय प्राप्त हो जाने पर भी इसके यथार्थ स्वरूप का परिचय प्राप्त नहीं होता। क्योंकि चित्त का क्षोभ-मात्र ही भाव नहीं है। चित्त के एक प्रकार से क्षुब्ध होने पर ज्ञानरूप वृत्ति का उदय होता है उसी चित्त के अन्य प्रकार से क्षुब्ध होने पर इच्छा का उदय होता

है। इसी प्रकार प्रत्येक वृत्ति के उदय के सम्बन्ध में समझना होगा। भाव भी चित्त की वृत्ति है। इसी कारण विशिष्ट प्रकार से चित्त क्षुब्ध न होने पर चित्त में भाव-रूप वृत्ति या परिणाम का उद्‌भव नहीं होता। अब प्रश्न यह है—एक ही चित्त विभिन्न प्रकार से क्षुब्ध क्यों होता है ? एक ही उपादान को विभिन्न प्रकार के कार्य-रूपों में परिणत होना हो तो निमित्तगत भेद का आश्रय लेना अनिवार्य है। अर्थात् उपादान एक होने पर भी निमित्त-भेदवशतः कार्य की भिन्नता उत्पन्न हो सकती है। निमित्त के पृथक् न होने अथच उपादान के एक व अभिन्न होने पर कार्य के पार्थक्य-निरूपण का कोई उपाय नहीं रहता। अत एव जिस निमित्त के संघटनवशतः चित्तरूपी उपादान ज्ञानरूपी कार्य में परिणत होता है, उससे अतिरिक्त निमित्त का संघर्ष न होने पर इस उपादान से इच्छा अथवा भावरूपी अन्य कार्यों का उद्‌भव नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि यद्यपि रसरूपी आनन्द का बीज भावरूप में चित्त में पहले अभिव्यक्त होता है, तथापि इस भाव का मूल चित्त में निहित नहीं। यह चित्त के बाहर से आगन्तुक धर्मरूप में चित्त को स्पर्श करता है। यह आगन्तुक धर्मरूपी निमित्त ही यथार्थ भाव है। चित्त का क्षोभ इस निमित्तरूपी भाव के स्पर्श से उत्पन्न चित्त का आन्दोलन-मात्र है।

मायाराज्य की भाँति आत्म-राज्य में भी ठीक यह व्यापार ही लक्षित होता है। भगवत्-स्वरूप के साथ अभिन्नरूप से विद्य-मान शक्ति ही भगवान् की स्वरूप-शक्ति है इस शक्ति में भी

तरंग-उद्गम होता है, अर्थात् क्षोभ उत्पन्न होता है। यही भाव का आविर्भाव है। चित्त जिस प्रकार बाह्य निमित्त के सम्बन्ध-वशात: विभिन्न प्रकार की वृत्तियों के रूप में परिणत होता है, भगवत्शक्ति उसी प्रकार स्व-निरपेक्ष बाह्य निमित्त के सम्बन्ध-वशात: परिणाम-प्राप्त नहीं होती। भगवत्तत्त्व अद्वैत स्वरूप है, इसीलिए उसमें निमित्त व उपादान का कोई पार्थक्य नहीं है। अर्थात् स्वरूप-शक्ति उपादान रूप से ज्ञान, भाव प्रभृति विभिन्न आकारों में स्फुरित होती है। किन्तु इस स्फुरण के लिए वह बाह्य निमित्त की अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् स्वरूपशक्ति अपने स्वभाव से ही अनन्त विलासरूप में प्रसृत होती है। अतएव नित्य धाम में भी ज्ञान-प्रभृति विभिन्न आकारों में स्वरूप-शक्ति की क्रिया दिखाई देती है। इन सब आकारों का जो मूलभूत है, जो अभिव्यक्त होते-होते चरमावस्था में लोकोत्तर रस रूप में प्रतिष्ठित होता है, वही भाव है। यह भाव ही स्वभाव है, अपना भाव है। इस स्वभाव में कृत्रिमता न होने से परभाव नहीं है, बाह्य निमित्त भी नहीं है। भावराज्य ही स्वरूपशक्ति रूप महाभाव से अनन्त भावों की अभिव्यक्ति है। रस एक होनेपर भी उसका आस्वादन अनन्त प्रकार का होने से, महाभाव एक होने पर भी खण्डभाव अनन्त हैं। दूसरी ओर, अनन्त प्रकार का आस्वादन एक ही महाआस्वादन का अङ्गीभूत है—केवल अङ्गीभूत नहीं, उससे अभिन्न है। उसी प्रकार भाव अनन्त होने पर भी, प्रत्येक भाव स्वभावरूपी होने पर भी, सब भावों में परस्पर पार्थक्य रहने पर भी, मूल में सभी भाव एक ही भाव हैं वही महाभाव है

अतएव अनन्त भावों से अनन्तकाल तक अनन्त प्रकार के रसों की अभिव्यक्ति होती है, यही स्वभाव का खेल है। यह भी वस्तुतः महाभाव का रसराज को प्राप्त होने के लिए जो अकृत्रिम विलास है, उसीकी नित्य अभिव्यक्तिमात्र है।

बिम्ब से रहित जैसे प्रतिबिम्ब नहीं होता एवं प्रतिबिम्ब होने से ही जैसे बिम्ब की सत्ता अङ्गीकार करनी होती है, ठीक वैसे ही भावराज्य के अलौकिक भाव एवं जगत् अर्थात् मनुष्य-चित्त के लौकिक भाव इन दोनों का सम्बन्ध समझना होगा। अर्थात् भावराज्य के अन्तर्गत विशिष्ट भाव ही उन-उन कारणों से मनुष्यचित्त में भी प्रतिफलित होकर क्षोभ उत्पन्न करता है। तब यह क्षोभ ही जागतिक दृष्टि में भाव के रूप में परिचित होता है। वस्तुतः वह प्रकृत भाव नहीं, शुद्धभाव का प्रतिबिम्ब मात्र है। शुद्ध भाव प्रतिबिम्बित होकर विपरीत धर्म से आक्रान्त होता है एवं आधार की मलिनता-वशतः मालिन्य-प्राप्त होता है। यह शुद्ध भाव ही चित्तरूप उपादान का क्षोभक बाह्य निमित्त है।

जो भावरूपी बीज अभिव्यक्त होकर आनन्द-चिन्मय-रस रूप में परिणत होता है, वही स्थायी भाव है। जो भाव स्थायी न होकर सञ्चारी अथवा व्यभिचारी अवस्था में विद्यमान रहता है, वह रस रूप नहीं धारण कर सकता। रस की अभिव्यक्ति ही अभिनय अथवा नाट्यलीला का प्रधान उद्देश्य है। भावराज्य अनन्त प्रकार के रसास्वादन के उद्देश्य से आयोजित एक विराट रङ्गमञ्च जैसा है। अतएव आस्वादन के जितने प्रकार-वैचित्र्य

हैं, सबने ही किसी न किसी आकार में भावराज्य में स्थान प्राप्त किया है।

भाव रसाभिव्यक्ति का मूलतत्त्व है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जब तक भाव प्रेमरूप में परिणत नहीं होता तब तक रस-विकास की कोई सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि भाव को आस्वाद्य के रूप में प्रस्फुट करने के लिए जो-जो अभिव्यञ्जक सामग्री आवश्यक है, भाव के प्रेमावस्था पर्यन्त अभिव्यक्त न होने पर वह उपलब्ध नहीं होती।

भाव के सजातीय एवं विजातीय भेद हैं। उसके अतिरिक्त स्वगत भेद भी अवश्य हैं। एक भाव के साथ अन्य भाव का पार्थक्य, दोनों भावों के जातिगत पार्थक्य से भी हो सकता है। दूसरी ओर, दो भाव एक जाति के अन्तर्गत होने पर भी, दोनों के मध्य परस्पर वैयक्तिक पार्थक्य भी रह सकता है। जातिगत पार्थक्य न रहने पर भी ऐसा सजातीय भेद संभव है। पुनः एक ही भाव में व्यक्तिगत व स्वरूपगत अनेक प्रकार के अवान्तर भेद रह सकते है। ये सब स्वगत भेद क्षणभेद से अभिव्यक्त हुआ करते हैं। एक ही अविच्छिन्न भाव प्रतिक्षण नव-नव रूपों में प्रतीतिगोचर हो सकता है। यह एक ही भाव के क्षण-गत वैशिष्ट्य का निदर्शन है। इस प्रकार भाव का साधारण वर्गीकरण होता है।

इसके अतिरिक्त, एक ही भाव आश्रयगत एवं विषयगत भेद के अनुसार भी भिन्नवत् प्रतीत होता है। केवल प्रतीत होता है ऐसा नहीं, उसे भिन्न कहने से भी हानि नहीं। अर्थात् एक ही मातृत्व एक आधार में अभिव्यक्त होने पर जिस मातृरूप की

अभिव्यक्ति होती है, अन्य आधार में अभिव्यक्त होने पर पहले रूप से पृथक् अन्य मातृरूप की अभिव्यक्ति होती है। मातृभाव मूलतः एक होने पर भी जैसे आधार के पार्थक्य-वशतः पृथक्-पृथक् मातृरूप प्रस्फुटित होते हैं, ठीक उसी प्रकार कोई विशिष्ट भाव एक व अभिन्न होने पर भी उसके विभिन्न आधारों में अभिव्यक्त होने पर आधार के पार्थक्य-वशतः उसके अभिव्यक्त रूपों का पार्थक्य अवश्यम्भावी है।

भाव की अभिव्यक्ति के लिए अन्यान्य कारणों में से आलम्बन मुख्य है। निरालम्ब भाव अवास्तव होता है। आलम्बन प्राप्त होने पर ही अव्यक्त भाव व्यक्त हो उठता है। जिसमें भाव अभिव्यक्त होता है एवं अभिव्यक्त होकर जिसका अवलम्बन करके वर्तमान रहता है वही भाव का आश्रय (Subject) है। वही आलम्बन है। जिसके उद्देश्य से अव्यक्त भाव प्रस्फुटित होता है, वह उक्त भाव का विषय (Object) है। वह भाव का द्वितीय आलम्बन है। इसी कारण अव्यक्त भाव अभिव्यक्त होते ही त्रिपुटी रूप में परिणत होता है। अर्थात् भाव स्वयं, भाव का अनुयोगी या आश्रय, एवं भाव का प्रतियोगी या विषय -- यह त्रिपुटी है। अव्यक्त भाव से रस निरूपित नहीं होता यह सत्य है, किन्तु भाव व्यक्त होते ही साथ-साथ रस का उदय होगा---यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि भाव का क्रमिक विकास होता है। इस विकास के पथ पर आवर्त्तन करते-करते पूर्वोक्त प्रकार से, अभिव्यक्त भाव रस-रूप धारण करके सहृदय-जन का आस्वादनीय होता है।

यह जो अभिव्यक्त भाव की बात कही गयी, यह वस्तुत

भाव की स्वरूप-प्राप्ति है, क्योंकि आश्रय व विषय इन दोनो प्रान्तों में निबद्ध न हो पाने पर कोई भाव निरूपित नही हो सकता, अर्थात् उसका स्पष्ट प्रतिभान नहीं होता। सुतरां आश्रय एवं विषय एक ही भाव की स्वरूप-निष्पत्ति के प्रथम एवं प्रधान उपकरण हैं। स्वरूप निष्पन्न होने पर क्रम-विकास सिद्ध हुआ करता है।

भावसमुद्र में अनन्त भाव अभिन्न रूप से अव्यक्त अवस्था मे विद्यमान हैं। दृष्टान्त स्वरूप क, ख, ग, घ प्रभृति को यदि भाव कहकर ग्रहण करें तो भाव समुद्र में पृथक् रूप से इनमे से कोई भी न मिलेगा। जैसे विशाल मृत्पिण्ड में घट को खोज पाना सम्भव नहीं होता, अथ च घट उसमें है। दण्ड-चक्रादि द्वारा यह मृत्पिण्ड ही जब घटाकार में परिणत होता है, तब यह घट दृष्टिगोचर होता है। वस्तुतः यह घट पहले भी इस मृत्पिण्ड में अव्यक्त रूप से था, किन्तु निमित्त-कारण के द्वारा अभिव्यक्त न होने तक वह अनुभवगोचर नहीं हुआ। ठीक उसी प्रकार अव्याकृत भावसमुद्र में क ख ग घ प्रभृति समस्त भाव ही वर्तमान हैं, किन्तु कोई भाव भी प्रतीतिगोचर नहीं होता, क्योंकि वे अव्यक्त है। भाव अभिव्यक्त होकर क ख प्रभृति विभिन्न रूप से प्रतीतिगोचर होता है। वही इस भाव का उद्दीपन है। सुतरां उद्दीपित न होने तक क ख प्रभृति भावों की पृथक् सत्ता गृहीत नहीं होती। किन्तु उद्दीपन के बाद प्रत्येक भाव ही पृथक् रूप में स्फुट हो उठता है अर्थात् महाभाव-समुद्र से पृथक्-पृथक् भावधारा अपने-अपने वैशिष्ट्य के साथ क ख प्रभृति रूपों में प्रवाहित होती रहती है।

इस प्रसंग में एक गुह्यतत्त्व की अवतारणा आवश्यक जान पड़ती है। संक्षेप में उसका विवरण यह है। अव्यक्त महासत्ता से सभी खण्डसत्ताओं का उदय होता है। एक दृष्टि से यह उदय साक्षात् रूप से होता है, दूसरी दृष्टि से यह उदय क्रमिक रूप से होता है। यही परम्परा है। इस स्थल पर भी विभिन्न क्रम सम्भव हैं। प्रथम दृष्टि से महासत्ता से क साक्षात् रूप से स्फुट होता है, ख, ग, च, ट इत्यादि सब ही साक्षात् रूप से व्यक्त होते हैं। द्वितीय दृष्टि से इनमें क्रम है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि अव्यक्त से क होता है, क से ख, ख से ग इत्यादि। दोनों दृष्टियों में ही मूल कारण अव्यक्त स्वीकृत है। द्वितीय दृष्टि ही जगत् में प्रचलित है। किन्तु प्रथम दृष्टि भी है। प्रथम के अनुसार प्रत्येक खण्डभाव महाभाव से साक्षात् उद्भूत है, एवं जब भाव का संहार होता है, तब भी साक्षात् रूप से उसका उपसंहार महाभाव में होता है। द्वितीय दृष्टि में एक अवरोह-क्रम है—उसी प्रकार खण्डभाव से महाभाव में गति का भी एक निर्दिष्ट क्रम है। कहना न होगा, यह निर्दिष्ट क्रम भी पृथक्-पृथक् हो सकता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि भाव की स्वरूप-सिद्धि जिस आश्रय व विषय द्वारा नियमित होती है, उनके निरूपण के लिए उद्दीपन की आवश्यकता है या नहीं। इसका उत्तर यह है—उद्दीपन भावगत स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता, यह मानना ही होगा। यह केवल मग्नभाव को उन्मज्जित करके अनुभव-पथ पर ला सकता है। वस्तुतः भाव के स्वरूप के नियामक आश्रय

व विषय भाव के साथ नित्ययुक्त रहते हैं। उद्दीपन आश्रय अथवा विषय के ऊपर कोई क्रिया नहीं करता, कर नहीं सकता, किन्तु न करने पर भी उसके प्रभाव से भाव अभिव्यक्त होने पर, अपना वैशिष्ट्य लेकर ही अभिव्यक्त होता है। इस वैशिष्ट्य के नियामक आश्रय व विषय दोनों ही हैं।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकेगा कि भाव जिस प्रकार नित्य है उसी प्रकार उसका विषय भी नित्य है। प्राकृतिक नियम मे यह नहीं हो सकता। क्योंकि आश्रय व विषय अनित्य होने पर भाव की नित्यता सम्भव नहीं होती। क्योंकि इस क्षेत्र में महा-भाव-समुद्र में विशिष्ट भाव की स्थिति अङ्गीकार करने के लिए कोई उपाय नहीं रहता। उन्मेष के साथ-साथ नवीनभाव की उत्पत्ति स्वीकार करनी होती है। इस प्रकार आश्रय व विषय की अनित्यता के साथ-साथ ही भाव की नित्यता का भङ्ग अप-रिहार्य हो जाता है। अतएव भक्ति नित्य है एवं भक्त व भगवान् भी नित्य हैं। भक्ति का आश्रय भक्त हैं एवं विषय भगवान् है। भक्ति व भाव नित्य होने पर उनकी स्वरूपसिद्धि के लिए उनके आश्रय रूपी भक्त एवं विषयरूपी भगवान् का नित्य वर्तमान रहना आवश्यक है।

भाव के अनन्त प्रकार के सजातीय विजातीय व स्वगत भेद होने से भावराज्य में प्रत्येक विशिष्ट भाव का विशिष्ट आश्रय व विषय भी नियत है। भावजगत् का स्तरविन्यास भाव के क्रम-विकास के ऊपर निर्भर करता है, इसी से भक्त व तद्भावानुरूप भगवान् का वैचित्र्य भी वास्तव में अनन्त है।

पहले ही कहा गया है कि भाव अनन्त हैं,—संख्या से अनन्त, जाति से अनन्त, प्रकृति से अनन्त एवं आस्वादन से भी अनन्त। किन्तु अनन्त होने पर भी साधक भावग्राही शक्ति का विश्लेषण करके तदनुसार सब भावों का एक श्रेणी-विभाग किया करता है। यह श्रेणी-विभाग विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है, इससे आपात दृष्टि में भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रतीयमान होता है। इसका किञ्चित् विवरण बाद में दिया जायेगा। किन्तु इस श्रेणी-विभाग से जिस प्रकार भाव का जातिगत भेद जाना जा सकता है उसी प्रकार उसका प्रकृतिगत भेद या अभिव्यक्ति का मात्रागत भेद भी जाना जा सकता है। किन्तु इस जातीय श्रेणी-विभाग से भाव के उत्कर्ष वा अपकर्ष का निरूपण नहीं बन पड़ता। क्योंकि अपनी-अपनी भूमि पर प्रत्येक भाव ही श्रेष्ठ है। किसी विशिष्ट भाव से अन्य किसी विशिष्ट भाव को उत्कृष्ट या अपकृष्ट मानने का कोई हेतु नहीं है। किन्तु तटस्थ दृष्टि से किसी न किसी सूत्र को पकड़कर भाव के मध्य भी एक क्रमिक उत्कर्ष की धारा अवश्य ही है, यह कहना पड़ेगा। वह न होती तो भाव-जगत् के क्रम विकास का कोई अर्थ ही न रहता।

जिसका जो भाव है, उसके लिए वही श्रेष्ठ है। इस भाव के विकास से ही वह रसतत्त्व-पर्यन्त उपनीत हो सकता है। यदि यह भाव उसकी प्रकृति के अनुगत होता है, तब उसके लिए वही रस-साधना की धारा है। दूसरे की धारा उसकी धारा से पृथक् है, इस कारण उसकी कोई मर्य्यादा न हो ऐसा नहीं। दूसरे के लिए स्वयं की धारा ही स्वभाव की धारा है। इस प्रसंग में **स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक आस्वादन पृथक् होने पर भी**

जिस आस्वादन में दूसरे आस्वादन का वैशिष्ट्य अन्तर्भुक्त रहता है, वही श्रेष्ठ है। इस दृष्टि से रसगत तारतम्य भी स्वीकार करना होता है। कहना न होगा, यह तटस्थ दृष्टि की बात है। किन्तु तटस्थ होने पर भी आस्वादनशून्य नहीं है।

पञ्चभूतों में जैसे आकाश का गुण केवल शब्द है, वायु के शब्द व स्पर्श हैं। वायु का स्पर्शगुण उसका अपना है किन्तु शब्द गुण उत्तराधिकार-क्रम में आकाश से प्राप्त है, ठीक उसी प्रकार अग्नि का रूप अपना निजी विशेष गुण है, किन्तु शब्द व स्पर्श पूर्व-भूत वायु से प्राप्त हैं। ऐसे ही पृथिवी-पर्यन्त उतर आने पर समझा जा सकता है कि पृथ्वी का स्व-धर्म एकमात्र गन्ध है, किन्तु रस, रूप, स्पर्श व शब्द जलतत्त्व से संक्रान्त होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भूत का ही एक विशेष गुण है। किन्तु अन्यान्य गुण कारण से कार्य में संचारित होकर आ जाते हैं। ये सब साधारण गुण हैं, विशेष गुण नहीं। इस प्रकार भावराज्य में भी सब भाव क्रम-विन्यस्त रूप से ही अभिव्यक्त होते हैं। एक भाव के साथ दूसरे भाव का जातिगत व व्यक्तिगत कितना भी भेद हो, स्मरण रखना होगा कि दोनों भाव एक ही मूल से उत्पन्न अर्थात् अभिव्यक्त हैं। भावराशि के बीच इस व्याप्यव्यापक-भाव का निर्णय करना हो तो भाव की अन्तःस्थित कला की पूर्णता का विचार अत्यन्त आवश्यक है। जिस भाव में जितना सा कला का विकास सम्भव है, उतना विकास सम्पन्न होने पर ही 'इस भाव की पूर्णता हुई' ऐसा कह सकते हैं। इस प्रकार देखें तो भाव-जगत् में सब भाव ऊर्ध्व एवं अधोरूप में—ऊँचे व नीचे रूप में

विन्यस्त हैं, यह स्वीकार करना ही होगा। आत्मकला का पूर्ण विकास सम्पन्न होने पर महाभाव में स्थिति प्राप्त होती है। इस अवस्था में प्रतिष्ठा प्राप्त न होने तक भावराज्य के उत्थान-पतन के साथ-साथ जीव को भी एक बार महाभाव में प्रवेश करना होता है और एक बार उससे बहिर्गत होना होता है। विकसित कला की मात्रा के अनुसार विशुद्ध भाव-समूह को ऊर्ध्व एवं अधोभाव में विन्यस्त किया जाता है। इसीलिए यद्यपि स्वरूपतः भाव की तुलना नहीं की जा सकती तथापि कला के विकास की दृष्टि से उत्कर्ष एवं अपकर्ष अवश्य ही कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में स्मरण रखना होगा कि जो जिस भाव से साधना करता है, उसके पक्ष में उस भाव को छोड़कर अन्य भाव की साधना, यहाँ तक कि उसका परिचय ग्रहण करना भी अर्थहीन है; एवं चेष्टा करने पर भी एक भाव का साधक अपनी सीमा छोड़े बिना अन्य भाव के साधक के गुणों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता। वस्तुतः प्रत्येक भाव स्वतः पूर्ण होने से एवं प्रत्येक भाव से ही महाभाव में जाने का मार्ग रहने से, एक भाव से अन्य भाव में सञ्चरण का कोई प्रसंग ही नहीं उठता। किन्तु जिस जीव ने साधन-बल से व भगवत्-कृपा से भावजगत् में स्थान प्राप्त किया है, उसके लिए यह नियम नहीं है। एक प्रकार से वह अपनी प्रकृति के अनुयायी-भाव में निबद्ध रहने को बाध्य है। केवल यही नहीं, इस निर्दिष्ट भाव में रहकर ही वह अपने रस का आस्वादन करने को बाध्य है। वही उसकी नियति-निर्दिष्ट धारा है। किन्तु दूसरी ओर क्रम-विकास की धारा में

स्तरविन्यास के अनुसार जीव को निम्नतम भाव से क्रमशः ऊर्ध्वतर भाव में आरोहण करके आत्मकला का विकास करना होता है। भावजगत् का स्वभावसिद्ध क्रम एवं इस क्रम के अनुरूप मार्ग इसी के समक्ष प्रकाशित होता है।

आश्रय व विषय की नित्यता एवं भाव की नित्यता का अनुभव होने पर भावराज्य में नित्यसिद्ध भक्त की स्थिति का रहस्य किंचित् उद्घाटित होगा। ये सब नित्य भक्त अनादि-काल से ही भावराज्य में विद्यमान हैं। वस्तुतः ये सब ही भाव-राज्य के अंशस्वरूप हैं। ये सब नित्यभक्त विभिन्न प्रणाली के अनुसार अपने प्रकृति आदि धर्मों का आश्रयण करके विभिन्न प्रकार के यूथ अथवा गण अथवा इसी प्रकार के किसी समुदाय व सङ्घ के आकार में वर्तमान हैं। ये सब भक्त व्यष्टिभाव से जिस प्रकार अनन्त हैं उसी प्रकार उनके संघ आदि भी अनन्त हैं। प्रत्येक स्तर में एकही बात है। किन्तु भावराज्य केवल इन सब नित्य भक्तों द्वारा गठित नहीं है। भावराज्य के बाहर से असंख्य जीवरूपी सुकृति-सम्पन्न चिदणु मायापाश से मुक्त होकर समय-समय पर नित्यसिद्ध-भाव का आश्रय प्राप्त करके भावराज्य में प्रवेश किया करते हैं। ये भावराज्य में आगन्तुक अतिथि हैं। ये सब जीव जिस भाव अर्थात् स्वभाव का आश्रय लेकर भाव-राज्य में प्रवेश प्राप्त करते हैं, चिरकाल तक उसमें निबद्ध रहते है; अथवा भाव के क्रमविकास के फलस्वरूप अपने-अपने भाव मे पूर्णता-लाभ करने पर स्वभावतः ही इसके परवर्ती अर्थात् ऊर्ध्वदेशवर्ती अर्थात् अधिकतर मात्रा मे विकास-सम्पन्न भाव में

सञ्चार करते हैं। यही इनका भावगत क्रमिक उत्कर्ष है। भाव से महाभाव-पर्यन्त क्रमविकास का पथ विस्तृत है। इस मुक्त पथ को पकड़ कर ही आगन्तुक जीवमात्र एक भाव से अन्य भाव मे सङ्क्रमण करता है। सूर्य जिस प्रकार एक राशि का भोग करके उसके पश्चात् अन्य राशि में सङ्क्रान्त होता है, एवं द्वितीय राशि का भोग करके उसके बाद वाली अन्य राशि में आरूढ़ होता है, ठीक उसी प्रकार भावमार्ग का पथिक एक भाव की साधना पूर्ण होने पर ही उसके बाद वाली अन्य भाव की साधना में प्रविष्ट होता है। यह वृत्ताकार गति है। इसके पश्चात् सरल गति से महाभाव पर्यन्त न पहुँच पाने तक यह नियम अव्याहत रहता है।

किन्तु सभी महाभाव-पर्यन्त पहुँचेंगे ही, ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि महाभाव-पर्यन्त पहुँचने की स्वरूपयोग्यता प्रत्येक भाव में निहित है—यह सत्य होने पर भी कार्यक्षेत्र में वैसा बहुधा देखा नहीं जाता। जिसकी जैसी रति हो, उसकी गति व स्थिति भी ठीक वैसी ही होती है। कोई भाव प्रेम-पर्यन्त रूपान्तरित होता है एवं वहीं स्थित होकर स्वीय योग्यता के अनुसार रस का आस्वादन करता है। कोई भाव स्नेह-पर्यन्त, कोई प्रणय, कोई अनुराग एवं महाभाव-पर्यन्त उत्थित होने में समर्थ होता है। भाव की प्रकृति में निहित सामर्थ्य से ही इस प्रकार ऊर्ध्वगति व विकास नियन्त्रित होता है।

(५)

शक्ति-धाम-लीला-भाव (घ)

सब भाव संवेग अथवा गुणगत वैशिष्ट्यवशतः, महाभाव के नैकट्य अथवा व्यवधान के तारतम्यानुसार, बाह्य अथवा आन्तर रूप से निर्दिष्ट होते हैं। अर्थात् जो भाव महाभाव का जितना निकटवर्ती है, वह उतना अन्तरङ्ग है एवं जो महाभाव से अधिक-तर व्यवहित है, वह पूर्वोक्त भाव की तुलना में बहिरङ्ग है। ये अन्तरङ्ग भाव व बहिरङ्ग भाव आपेक्षिक हैं। समग्र भावजगत् महाभाव का ही आत्मप्रकाश है, यह बात पहले ही कही गई है। महाभाव व महारस के संघर्षण के फल-स्वरूप महाभाव को घेर कर जो आलोक प्रकाशित होता है, उसी में महाभावरूपी बिन्दु से स्तर-क्रम से भावराज्य गठित हो जाता है। बिन्दु को परिवेष्टित करके एक स्तर सर्वप्रथम प्रकाशित होता है। इस प्रथम स्तर को वेष्टित करके उसके बाह्य प्रदेश में और एक स्तर आत्मप्रकाश करता है। प्रत्येक स्तर के केन्द्र में यह एक ही बिन्दु विद्यमान रहता है। इस प्रकार समझा जा सकता है कि एक महाभाव-रूपी बिन्दु में ही एक के बाद एक विभिन्न भावस्तरों का आविर्भाव होता है। यह व्यापार ठीक एक मुकुलित कमल-कोरक के उन्मीलित होने के समान है। कमल विकसित होने पर देखा जाता है कि मध्यस्थ कर्णिका को घेर कर एक के बाद एक विभिन्न स्तर अर्थात् दलसमष्टि विद्यमान है। इस दृष्टान्त से सब

भावों का परस्पर सम्बन्ध एवं महाभाव के साथ सम्बन्ध समझा जा सकेगा। कमल का एक-एक दल यदि एक-एक भाव का प्रतिनिधि हो तो दल-समष्टि रूप एक-एक स्तर को एक-एक जातीय भाव के प्रतिरूपक रूप से ग्रहण किया जा सकता है। जो सब दल कर्णिका के अधिकतर सन्निहित हैं उनका महाभाव-पर्यन्त विकास अपेक्षाकृत कम समय में सम्पन्न होगा। दूरवर्ती दल-समष्टि का पूर्ण-विकास होने में और अधिक समय का विलम्ब आवश्यक है। यही साधारण नियम है।

सेना-रचना में जैसे व्यूह-निर्माण आवश्यक है, उसी प्रकार भावराज्य के सङ्गठन में भी व्यूह-सन्निवेश की आवश्यकता है। कर्णिका की चारों दिशाओं के स्तर वस्तुतः महाभाव के ही काय-व्यूह हैं, इसमें सन्देह नहीं। जो सब दल क्रमबद्ध रूप से कर्णिका में विलीन थे, बहिर्मुख स्पन्दन के साथ-साथ वे अपने-अपने स्थान में स्थित होकर प्रकाशित होते हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक भाव से ही रसास्वादन का उपाय प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक भाव, वह किसी भी स्तर में क्यों न हो, पूर्ण होने पर, महाभाव के अङ्ग रूप में ही स्थिति प्राप्त करता है। सुतरां स्वीय भावानुरूप रस का आस्वादन वह अवश्य ही पाता है। किन्तु इस रसास्वादन को रसराज का पूर्णतम आस्वादन नहीं कहा जा सकता। भाव का विकास पूर्ण होने पर भी उसे किसी विशिष्ट जाति के भाव का विकास ही समझना होगा। सुतरां अपेक्षाकृत उत्कर्ष-सम्पन्न अन्य भाव के विकास की प्रयोजनीयता तब भी शेष रहती

है। चतुर्थ श्रेणी में प्रथम स्थान पर अधिकार कर लेने से ही सब हो गया, ऐसा नहीं। पञ्चम श्रेणी का ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता तब भी रहती है। ठीक इसी प्रकार भाव-साधक एक भाव से अन्य भाव में उन्नीत होता रहता है। इस प्रकार भाव-जगत् के प्रत्येक स्तर का अतिक्रमण होने पर साधक स्वयं महाभाव रूप में परिणत होता है। तब भावराज्य का पूर्ण विकास सम्पूर्ण हो जाता है। इस अवस्था में रसराज का पूर्णतम आस्वादन प्राप्त किया जा सकता है। अन्य प्रकार से कहा जा सकता है कि एक-एक भाव-साधना पूर्ण होने पर अखण्ड महाभाव का एक-एक विशिष्ट अंग रचित होता है एवं अभिव्यक्त होता है। जब सब भावों की साधना सम्पूर्ण हो जाती है तब सर्वांग-सम्पन्न महाभाव का आकार आविर्भूत होता है। यहीं पर भाव-राज्य का क्रम-विकास सिद्ध होता है। यहाँ तक हो जाने पर भावराज्य की लीला का पुनरावर्त्तन पूर्वोक्त साधक जीव के लिए आवश्यक नहीं। तब उसका निकुञ्जलीला में प्रवेश होता है। समग्र भाव-जगत् राधातत्त्व में अधिष्ठित इस साधक का अंगीभूत हो रहता है।

पहले ही अनन्त भावों की बात कही गई है। भाव जिस-प्रकार अनन्त हैं उसी प्रकार प्रत्येक भाव की वृत्ति, अनुवृत्ति एवं उपवृत्ति आदि भी अनन्त हैं। अन्तर्मुख गति में अनुवृत्ति उपवृत्ति मे परिणत होती है, उपवृत्ति वृत्ति में परिणत होती है एवं वृत्ति भाव में परिणत होती है। तव बाह्यवृत्तिहीन होने के कारण भाव तीव्र वेग से अन्तर्मुख प्रवाह में चलते-चलते महाभाव की ओर अग्रसर होता रहता है।

•

एक वृक्ष मे जैसे शाखा निर्गत होती हैं, पुनः प्रत्येक शाखा से जैसे प्रशाखा निकलती हैं, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक भाव एकाग्र अवस्था में प्रतिष्ठित न होने तक चारों तरफ विक्षिप्त रहता है। प्रदीप से जिस प्रकार किरणें विकीर्ण होती हैं, उसी प्रकार प्रत्येक भाव से किरणों के समान जो सब धारायें विकीर्ण होती हैं, वही ये वृत्तियाँ हैं। वह ठीक भाव नहीं है, उसका आभास मात्र है। किसी भी स्वच्छ आधार (दर्पणादि) में सूर्य का आलोक प्रतिफलित होने पर जैसे उससे यह आलोक पुनः (भित्ति आदि पर) प्रतिफलित होता है, ठीक उसी प्रकार बाह्य-उन्मुख भाव निवृत्त न होने पर्यन्त प्रत्येक भाव भी चारो ओर वृत्तिरूप से बिखरा रहता है। भावगत वैशिष्ट्य इन सब वृत्तियों मे भी रहता है, हाँ यहाँ उसकी तीव्रता कम होती है। इन वृत्तियों से पुनः सूक्ष्मतर अन्य वृत्तियों का उद्गम होता है। अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी के अतिरिक्त साधारण मनुष्य की बुद्धि मे इन सब सूक्ष्म वृत्तियों का ग्रहण नहीं होता।

इसी प्रकार कहाँ तक यह बहिःप्रसार व्याप्त हो सकता है, यह कहना शक्य नहीं। वृत्ति, अनुवृत्ति, उपवृत्ति आदि उपलक्षण-मात्र हैं। साधक का प्रथम कर्त्तव्य है, इस बिखरी किरण-राशि को समेट कर, उनको पुनः पुनः समेटते हुए मूलभाव में स्थिति प्राप्त करना। जब तक भाव वृत्तिहीन नहीं होता, तब तक वह विशुद्ध नहीं हो सकता। भाव-साधना के लिए भावशुद्धि एकान्ततः आवश्यक है। दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि यदि कोई साधक वात्सल्य-भाव की साधना करता है, तो जब

तक उसका भाव विशुद्ध वात्सल्य रूप में परिणत नहीं होगा तब तक वह विशुद्ध भाव रूप में परिगणित होने योग्य नहीं। वात्सल्य-भाव विक्षिप्त रहने पर उसके साथ दास्य व सख्य प्रभृति भाव आभासरूप से मिश्रित हो सकते हैं एवं हुआ भी करते हैं। लौकिक साधक इसे अच्छा समझते हैं किन्तु विशुद्ध भावसाधक इस मिश्रण-व्यापार को भाव-साधना का अन्तराय समझते है। एकनिष्ठता के बिना भाव सिद्ध नहीं हो सकता एवं भाव सिद्ध हुए बिना रसास्वादन दूर की बात है। सुतरां भाव-साधना के द्वारा रस-सिद्धि के लिए भाव-शुद्धि आवश्यक है। भाव शुद्ध हुए बिना, भाव में अवान्तर भाव मिश्र रहने पर, उसमें बलाधान नहीं होता। जो लोग भावुक एवं रसिक हैं वे इस जाति के भाव को 'स्वच्छभाव' नाम से कहते-समझते हैं। यह भाव की विकलता से हुआ करता है। दर्पण अपने स्वच्छता-धर्म के कारण सन्निहित सभी वस्तुओं को यथावत् ग्रहण करता है। किसी वस्तु-विशेष के प्रति उसका आग्रह नहीं रहता। दर्पण के लिए नील अथवा पीत, त्रिकोण अथवा चतुष्कोण सभी एक-समान हैं। जब जो वस्तु उसके निकट आती है, तभी वह वस्तु अबाधित रूप से उसमें प्रतिबिम्बित होती है। दर्पण स्वच्छ होने से ही ऐसा होता है। भाव रूपी चित्त जब स्वस्थ रहता है तब वह भी ऐसा ही हुआ करता है। जब जैसा संसर्ग प्राप्त होता है उसमें तब उसी प्रकार का भाव प्रतिफलित होता है। वह किसी विशिष्ट भाव में अभिनिविष्ट नहीं रहता। इस प्रकार के चित्त मे वात्सल्य प्रभृति कोई भाव स्थायी होकर नहीं रह सकता।

चित्त स्वच्छ होने से वात्सल्य भाव के सङ्ग के कारण अथवा आलोचना के कारण उसमें वात्सल्य-भाव का उदय होता है। देशान्तर अथवा कालान्तर में दास्य-भाव का सङ्ग एवं चर्चा होने पर इस चित्त में दास्य-भाव का ही आविर्भाव हुआ करता है। ऐसा ही अन्य भावों के सम्बन्ध में भी समझना होगा। इस जाति का चित्त अत्यन्त शिथिल एवं दुर्बल होता है, क्योंकि इसमें एक-निष्ठता नहीं है। व्यभिचारी भाव एवं स्थायी भाव दोनों में यही पार्थक्य है कि स्थायी भाव से रस की उत्पत्ति होती है एवं व्यभि-चारी भाव से वह नहीं होती। इसी कारण चित्त के एकभावनिष्ठ न हो पाने पर महाभाव की प्राप्ति एवं रसास्वाद नितान्त असम्भव है। जिसका जो अपना भाव या स्वभाव है, उसमें निष्ठा रखनी होगी, एवं इस निष्ठा की सम्यक् सिद्धि के लिए भावान्तर के आक्रमण से उसे बचाकर रखना होगा। कहना न होगा इसमें रागद्वेष का कोई व्यापार नहीं है। अपने-अपने स्वभाव में सुस्थिर स्थितिलाभ ही इसका उद्देश्य है। भाव-साधना का उद्देश्य आकार-सिद्धि है, किन्तु स्वच्छ चित्त में आकार प्रति-बिम्बित होकर भी स्थिर नहीं रहता। सबसे पहले यही करना चाहिए कि कोई निर्दिष्ट आकार प्रतिबिम्बित होकर स्थिर रूप से विद्यमान रहे एवं यह आकार अन्य किसी आकार से मिश्रित न हो। वृत्ति, अनुवृत्ति, उपवृत्ति आदि भावों से निःसृत किरणमाला निरुद्ध होने पर भाव की बहिर्मुख गति न रहने से ही उसके साथ अन्य भाव के मिश्रण की सम्भावना भी नहीं रहती। तब स्वभाव स्वभाव ही रहता है। इस दृढ़भूमि से ही

का सूत्रपात होता है। योगी के लिए एकाग्रता का जो स्थान है रस-साधना में भावशुद्धि का वही स्थान है। भाव शुद्ध होने पर ही सिद्ध होता है एवं एक होने पर ही स्थिर होता है। भाव स्थिर होने पर उपयुक्त अभिव्यञ्जक सामग्री के प्रभाव से सहृदयों द्वारा उसका आस्वादन होता है। यही रस-निष्पत्ति है।

भावराज्य के गठन के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले राज्य-रचना की साधारण नीति के सम्बन्ध में दो बातें कहना आवश्यक है। जगत् में ग्राम, नगर अथवा प्रासाद प्रभृति का सन्निवेश करना हो तो सबसे पहले भूमि की आवश्यकता होती है, जिसके ऊपर सन्निवेश करना होगा। उसके बाद समस्त सामग्री-सम्भार एवं उपादान आवश्यक हैं, जो संकलित आकार मे नगरादि रूपों में परिणत होंगे। सबके बाद भाव की सत्ता आवश्यक है, जो उपादान के साथ युक्त होकर उपादान को अभिलषित कार्यरूप में परिणत करेगी। भावराज्य की रचना में भी सामान्यतः यही नीति अनुसृत हुआ करती है—जागतिक रचना मे जो भित्ति या भूमि है, भावराज्य की रचना में उसके स्थान पर भावालोक है, जो महाभाव से निरन्तर निःसृत होकर महाभाव को वेष्टित करके वर्तमान है। अर्थात् महाभाव मानो एक बिन्दु है। इस बिन्दु के निरन्तर स्पन्दित होने के कारण एक नित्य प्रभामण्डल इसके चारों ओर अभिव्यक्त हुआ रहता है। यह प्रभामण्डल ही भावी भावराज्य की भित्ति है। जिस उपादान से भावराज्य को अनन्त वैचित्र्ययुक्त दृश्यावली व देह रचित होती है, उसका नाम है विशुद्ध सत्त्व। यह नित्य-सिद्ध वस्तु है, एव विक्षुब्ध होने से पहले की अवस्था में यह महाभाव रूपी महा

बिन्दु के साथ अभिन्नरूप से स्थित रहती है। यह विशुद्ध सत्त्व ही क्षुब्ध होकर भावजगत् के विभिन्न दृश्य रूपों में परिणत होता है। मायिक जगत् में जो कुछ है, भावजगत् में वह सबही विद्यमान है। एक प्रकार से कह सकते हैं कि प्राकृतिक सभी तत्त्व अप्राकृत जगत् में नित्य विद्यमान हैं। भेद केवल यही है कि प्राकृत तत्त्व मलिन हैं एवं रजस्तमोगुणविशिष्ट हैं, किन्तु अप्राकृत तत्त्व सभी अंशों में प्राकृतिक तत्त्वों के अनुरूप होने पर भी रजस्तमोगुणहीन विशुद्ध सत्त्वमय व निर्मल हैं। इन सब तत्त्वों की समष्टि शुद्ध-सत्त्वरूप में सदा विद्यमान है। केवल वही नहीं, उपादान रहने से ही उससे वीर्य उद्भूत नहीं होता, यदि निमित्त के प्रभाव से उपादान परिणत न हुआ हो। उसी प्रकार शुद्धसत्त्वमय तत्त्व-समूह तब ही विभिन्न आकारों में परिणत हो सकता है, जब वह इस परिणाम के उपयोगी निमित्त द्वारा क्षुब्ध होता है। यह निमित्त ही भाव है। भाव ही उपादान में आकार समर्पित करता है। भाव के साथ उपादान का योग होने पर उपादान भावानुरूप आकार धारण करता है। भाव नित्य है, उपादान भी नित्य है। दोनों के सम्बन्ध से लीला-वैचित्र्य की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इस सम्बन्ध की अधिष्ठात्री शक्ति योगमाया है। अनन्त भाव महाभाव में नित्य वर्तमान हैं। शुद्ध-सत्त्व भी इस महाभाव के साथ अभिन्नरूप में वर्तमान है। किन्तु जब तक महाभाव क्षुब्ध नहीं होता तब तक भाव के साथ शुद्ध सत्त्वमय उपादान का संघर्ष नहीं होता, एवं इस संघर्ष के बिना भावराज्य की रचना असम्भव है।

ऊर्णनाभि जिस प्रकार स्वयं को केन्द्रस्थान में रखकर चारों

ओर जाल फैलाता है, महाभाव भी उसी प्रकार स्वयं को केन्द्रस्थ बिन्दुरूप में रखकर चारों ओर स्तर-स्तर में भावमय सृष्टि का आविर्भाव करता है। शुद्ध भाव सूक्ष्म एवं अव्यक्त है। भावहीन शुद्ध-सत्त्व भी उसी प्रकार अव्यक्त है। किन्तु दोनों के मिलन से अनन्त सौन्दर्य-सम्पन्न दिव्य जगत् का उद्भव होता है।

तत्त्वसृष्टि एवं तत्त्वसमष्टि के विभिन्न प्रकारों का सन्निवेश होने से विचित्र जगत् की सृष्टि होती है। ये दोनों सृष्टि एक-जैसी नहीं हैं। ठीक उसी प्रकार भाव के क्रमिक आविर्भाव एवं उपादान के संयोग से इन सब भावों को साकार बनाना एक बात नहीं है। ये दोनों धारा पृथक्-पृथक् रूप से आलोचना के योग्य हैं।

महाभाव से भावराज्य के उन्मेष के समय सर्वप्रथम जिस भाव की स्फूर्ति होती है, वही मधुर भाव है। तदनन्तर क्रमशः वात्सल्य, सख्य, दास्य एवं शान्त भाव की स्फूर्ति प्राप्त होती है। प्रत्येक भाव के बीच अवान्तर भेद भी अवश्य हैं। यही भावों के आविर्भाव की धारा है। किन्तु इन सब विभिन्न प्रकार के भावों में जो गुह्य कला के विकास का रहस्य निहित है, वह विशेष रूप से प्रणिधानयोग्य है। इस कला के आविर्भाव की ओर से देखें तो समझा जा सकेगा कि विभिन्न प्रकार के भाव में से होकर एक ही भगवद्-वृत्ति का क्रमोत्कर्ष-जनित विकास सिद्ध होता है। कहना न होगा, भावराज्य की सृष्टि के समय इस विकास का पहलू विपरीत दिशा से प्रकाश पाता है अर्थात् जो महाभाव की **अनिरुद्ध** अवस्था के अन्तर्गत मादनभाव है वही

भावराज्य के केन्द्रस्थल में विद्यमान रहता है। उसके बाहर क्रमशः मोदनभाव (अधिरूढ़) एवं रूढ़ महाभाव प्रकाशित होता है। उसके बाहर अनुराग, उसके बाद राग, मान, स्नेह, प्रणय, प्रेम एवं रति हैं। इन सबका विशेष परिचय प्रेमभक्ति के क्रमविकास के वर्णन-प्रसङ्ग में अन्तर्मुख धारा के विवरण के उपलक्ष्य में दिया जायेगा। यह जो मधुर भाव के अन्तरङ्ग मण्डल की बात उल्लिखित हुई, इसमें भी महाभाव के बहिर्मुख आविर्भाव की ओर एक-एक क्रम विद्यमान है। दृष्टान्तस्वरूप सखी-वर्ग के श्रेणी-विभाग का उल्लेख किया जा सकता है। महाभाव को घेरे हुए एक के बाद एक पाँच मण्डल विद्यमान हैं। ये पाँच मण्डल पंच-विध सखियों के नाम से परिचित हैं। महाभाव के अव्यवहित निकटतम मण्डल में जो आठ सखी प्रकट होती हैं, वे परमश्रेष्ठ सखी नाम से अभिहित हैं। ये सभी श्रीराधा की कायव्यूह हैं। अन्यान्य सखी-मण्डलों के सम्बन्ध में भी यह एक ही सिद्धान्त जानना होगा। परमश्रेष्ठ सखी के बाह्य प्रदेश में जिन सखियों की स्थिति है। उनका नाम प्रियसखी है। प्रियसखी के बाह्य प्रदेश में क्रमशः प्राणसखी, नित्यसखी एवं सखी मण्डलों का सन्निवेश है, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार अन्यान्य स्थानों में भी अवान्तर विभाग वर्तमान हैं। इन सब विभागों के मूल में महा-भाव के साथ सखी प्रभृति भाववर्ग का सादृश्यगत तारतम्य निहित है।

भावराज्य में दो प्रकार के अधिवासी दृष्टिगोचर होते हैं। एक श्रेणी नित्य-सिद्ध भाव रूपी है और एक श्रेणी साधनसिद्ध

अथवा कृपासिद्ध भावरूपी। जो भाव नित्यसिद्ध हैं वे स्वाभाविक हैं, आगन्तुक नहीं। क्योंकि वे महाभाव अथवा स्वरूपशक्ति के ही अंश हैं। स्वरूपशक्ति की स्वांश-रूपी यह समस्त भाव-राशि महाभाव के क्षुब्ध होने के अनन्तर आनुपूर्विक भाव से क्रमशः महाभाव से निर्गत होती है। ये सब ही वास्तव में स्वभावात्मक हैं, किन्तु और एक श्रेणी का भाव है, जो स्वभाव-सिद्ध नहीं है, किन्तु साधनसिद्ध या कृपासिद्ध होता है। मायिक जगत् में अनादिकाल से जो सब भगवद्-बहिर्मुख जीव अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में भ्रमण कर रहे हैं, उनमें से कोई कोई भाग्य से भाव अथवा भगवद्विषयिणी रति प्राप्त करके भावराज्य में प्रवेश का अधिकार प्राप्त करते हैं। यह भाव अथवा रति साधना द्वारा ही प्राप्त करनी होगी—ऐसी कोई बात नहीं है, जिस-किसी को कृपा से ही इसकी प्राप्ति हो जाया करती है। भगवत्-कृपा एवं भगवद्-भक्त की कृपा मूलतः एक ही पदार्थ है। जिस को कृपा से ही भाव प्राप्त होता है, उसे साधना नहीं करनी होती। हाँ, जन्मांतर की साधना उस की थी या नहीं एवं इस तथाकथित कृपा की अभिव्यक्ति इस साधना का ही फल है या नहीं, यह यहाँ प्रकृत प्रसङ्ग में आलोच्य नहीं है।

भाव-प्राप्ति का साधारण नियम यही है कि विधि-मार्ग से हो अथवा राग-मार्ग से हो, साधना का अनुष्ठान करना होगा। यह साधना वस्तुतः साधन-भक्ति का अनुष्ठान है। शास्त्र के अनुशासन के अनुसार अथवा गुरु की आज्ञानुसार कर्तव्य जानकर कोई-कोई साधन किया करते हैं। दूसरी ओर कोई-कोई साधक,

गुरु या महाजन-वाक्य द्वारा चालित न होकर अपने हृदय की प्रेरणा से साधना में प्रवृत्त होते हैं। ये लोग भाव-जगत् के आदर्श में अनुप्राणित होकर उसी के अनुकरण-रूप में साधन-कार्य में अग्रसर होते हैं, किन्तु साधना किसी भी प्रकार की क्यों न हो, भक्ति-साधना का फल है भाव का उदय। भाव का उदय न होने पर्यन्त साधना पूर्ण नहीं होती। भाव का उदय होने पर ही, अर्थात् साधना-सिद्ध अवस्था में उपनीत होने पर ही भावराज्य में स्थान-लाभ होता है। केवल वही नहीं, किसका कौन सा भाव है, यह भी सिद्धावस्था के साथ-साथ ही भक्त के प्रति प्रस्फुट हो जाता है। किसने किस भाव अथवा मण्डल में स्थान प्राप्त किया, उसका प्रकृत सन्धान, भाव का विकास न होने पर्यन्त, नहीं पाया जाता। हाँ, सद्गुरु गम्भीर अन्तर्दृष्टि द्वारा शिष्य का भावमय स्वरूप देख सकते हैं, इसी से उसके स्वभाव के अनुकूल रागानुगा साधना-प्रणाली का उसे उपदेश करते हैं। कहना न होगा, यह साधना कृत्रिम है, एवं इसका रहस्य यथार्थ भक्त साधक के सिवा और कोई समझ नहीं सकता।

भाव का विकास होने पर ही आभ्यन्तरीण सत्ता भाव-जगत् की सत्ता के रूप में परिणत होती है, इसीलिए रागानुगा साधना वस्तुतः रागात्मिका साधन-प्रणाली के अनुरूप ही हुआ करती है।

भाव के विकास में एक अद्भुत रहस्य निहित है। वह यह है—जिस प्रकार सूर्य का उदय न होने पर्यन्त सूर्य-रश्मि के अविद्यमान रहने से उसके विभिन्न वर्ण उपलब्धि-गोचर नहीं होते, किन्तु सूर्य का उदय होने पर प्रत्येक स्थान का वर्ण ही

किन्तु वास्तव में सद्गुरु अन्तःप्रकृति को देखकर ही उसके भाव के साथ परिचित होकर तदनुरूप रागानुगा साधन-प्रणाली का निर्देश किया करते हैं।

जिस-किसी भी प्रकार से हो भाव की स्थिति होने पर भावजगत् में आसन प्राप्त होता है। भाव-जगत् में प्रविष्ट भावुक भक्त अपने स्वभाव का अनुसरण करते हुए ही बढ़ते हैं। भावगत श्रेणी-विभाग उसे विचलित नहीं कर सकता। भावजगत् में भावदेह में ठीक-ठीक भजन होता है। माया जगत् में मायिक देह में भजन सम्पन्न नहीं होता। भजन का उद्देश्य है भाव से प्रेम का विकास। साधनभक्ति के अनुष्ठान में सिद्धि-लाभ होने पर भी प्रेमभक्ति-लाभ नहीं होता ! हाँ, प्रेमभक्ति के आलोक-मण्डल के किरण-स्वरूप में प्रवेश किया जाता है। जब तक प्रेम का उदय नहीं होता तब तक भजन स्वाभाविक नियम में ही चलता रहता है। कहना न होगा, यह भजन भी स्वभाव का ही खेल है। उद्देश्य है—प्रेम की अभिव्यक्ति। प्रेम पर्यन्त विकास पूर्ण होने पर भावराज्य शान्त हो जाता है। तब भक्त महाप्रेम में प्रतिष्ठित होकर, एक के बाद दूसरी अवस्था का आस्वादन करते-करते महाभाव की परम-अवधि श्रीराधा-तत्त्व पर्यन्त अग्रसर होता रहता है। महाभाव की उपलब्धि होने पर रसराज का साक्षात्कार स्वयं ही होता है।

अतएव भावजगत् के अधिवासियों में, मर्त्यलोक से, प्रवर्तक अवस्था पूर्ण करके भावभक्ति के विकास के पश्चात् अनेक जीव गमन करते हैं। इसके अतिरिक्त अनादिकाल के नित्य-सिद्ध

जीव भी हैं। वे भी स्वरूपशक्ति की भाँति अनादिकाल से ही भावजगत् में विद्यमान हैं। किन्तु मर्त्यलोक का जीव आगन्तुक रूप से ही भावजगत् में प्रवेश करता है। भाव एक होने पर भी उसमें स्तर-भेद से विभिन्न प्रकार के भेद वर्तमान हैं, ऐसा देखा जाता है। यह भेद भाव का स्वरूपगत नहीं है, किन्तु विकास की योग्यतागत है। दृष्टान्तस्वरूप कहा जा सकता है कि शान्त भाव भाव ही रह जाता है, भाव के परे प्रेम आदि उच्चतर अवस्था में उपनीत नहीं हो सकता। किन्तु दास्य भाव प्रेम, स्नेह, यहाँ तक कि राग-पर्यन्त विकसित होता है। वात्सल्य भाव भी ठीक ऐसा ही है। सख्यभाव इन सबके अतिरिक्त प्रणय नामक अवस्था को भी प्राप्त होता है। किन्तु इन सबमें से कोई भाव भी परम-विकास पर्यन्त नहीं पहुँचता। भाव का परम विकास महाभाव है। उसे प्राप्त होने के लिए पूर्व-वर्णित चतुर्विध अवस्थाओं के अतिरिक्त भी मान, राग व अनुराग इन तीन अवस्थाओं का विकास आवश्यक है। ऐसा पूर्ण विकास एकमात्र मधुर भाव में ही सम्भव है। किन्तु वह भी सर्वत्र नहीं। क्योंकि साधारणी, समञ्जसा एवं समर्था इन त्रिविध रतियों में पार्थक्य है। साधारणी रति यद्यपि भगवद्विषयक भक्तिरूपा है इसमें सन्देह नहीं, तथापि उसमें अपने भोग्य आनन्द की ओर अधिक लक्ष्य रहने से, एवं भगवत्-प्रीति अपेक्षाकृत गौण रहने से उसकी ऊर्ध्व गति एक प्रकार से नहीं होती, यह भी कहा जा सकता है। मधुर भाव होने पर भी प्रेम के ऊपर साधारणी रति नहीं उठ सकती। किन्तु समञ्जसा रति स्वार्थहीन होने से भले ही उसमें उद्देश्यरूप से भगवत्प्रीति का प्राधान्यभाव न रहे एवं कर्तव्य के अनुशासन द्वारा

नियन्त्रण रहता हो, तब भी वह अनुराग पर्यन्त स्फुट होती ही है। किन्तु अनुराग का परवर्ती विकास अर्थात् महाभाव पर्यन्त उत्कर्ष-लाभ एकमात्र गोपीजनसुलभ समर्था रति का ही हो सकता है। किन्तु समर्था रति भी सब आधारों में समान नहीं। इसीलिए महाभाव में भी क्रमविकास के अवसर विद्यमान हैं। महाभाव की जो पराकाष्ठा है, अर्थात् मादन भाव, वही ह्लादिनी-शक्ति-स्वरूप श्रीराधातत्त्व है। इस अवस्था में भगवान् से विच्छेद चिरकाल के लिए लुप्त हो जाता है एवं प्रत्येक क्षण में नित्य लीला का विकास हुआ करता है। अखण्ड श्रीकृष्ण-तत्त्व के साथ अखण्ड राधाभाव का मिलन इसी मादन अवस्था में सम्भव है। इस अवस्था में भावजगत् सङ्कुचित होकर मध्यबिन्दुरूप में श्रीराधातत्त्व में पर्यवसित होता है। अपने स्वरूप का विस्तार पूर्णरूप से समेटकर श्रीराधा तब सम्यक् प्रकार से पुष्ट होती हैं एवं निकुञ्जलीला में क्रमशः आत्मविसर्जन करके विशुद्ध महारस-तत्त्व की प्रतिष्ठा करती हैं।

भावराज्य का रहस्य भली प्रकार समझना हो तो लीला-रस के आस्वादन की प्रणाली का अच्छी तरह विश्लेषण करके देखना आवश्यक है। लीलारस के आस्वादन के पीछे तीन महासत्य वर्तमान हैं—

(१) प्रकृति का अभिनय।
(२) द्रष्टारूपी पुरुष की साक्षिरूपेण स्थिति।
(३) भाव की अभिव्यक्ति।

प्रकृति की क्रिया अपने आप ही होती जा रही है। इसका

कोई कर्त्ता नहीं है। कर्तृत्व-विहीन क्रिया—यही प्रकृति की क्रिया या प्राकृतिक क्रिया है; अर्थात् क्रिया है, किन्तु कौन करता है—इसका कोई सन्धान नहीं है। इस अवस्था में पुरुष बद्ध-दशा में प्रकृति के गुणों से जड़ित रहने के कारण, अहङ्कार के मोह से मुग्ध होकर इस क्रिया के कर्त्ता के रूप में स्वयं को मानता है—कर्तृत्वाभिमान रखता है। प्रकृति की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, यह सत्य है, एवं मुक्त पुरुष में अभिमान नहीं होता, यह भी सत्य है, तथापि अनादि अविद्या के प्रभाव से अर्थात् अविवेक-वशतः प्रकृति के विकार के साथ पुरुष को तादात्म्य-बोध होता है, इसी से पुरुष स्वयं को कर्त्ता मानने का अभिमान करता है। इसी से कर्म की सृष्टि होती है। संसार-वृक्ष का यही बीज है। सुतरां जब तक यह कर्तृत्वाभिमान जीव के स्वरूप से निवृत्त नहीं होता तब तक जीव मुक्त होकर द्रष्टा रूप में पुरुष के स्वरूप में स्थिति-लाभ नहीं कर सकता। जब प्रकृति के जाल से जड़ित होकर पुरुष अहङ्कार-बद्ध जीव-रूप से प्रकृति के अभिनय में योगदान करता है, तब वह द्रष्टा नहीं, अभिनेतामात्र है। अभिनय के रस का ग्रहण-आस्वादन करना हो तो अभिनय से स्वयं को पृथक् रखकर अभिनय देखना आवश्यक है। इसलिए जब तक पुरुष विवेक-ज्ञान के प्रभाव से अविवेक को दूर करके प्रकृति से भिन्न-रूप से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति की क्रीड़ा नहीं देख सकता तब तक इस क्रीड़ा का रस-ग्रहण असम्भव है। प्रकृति का खेल ही लीला है। किन्तु यह किसके समक्ष है? जो प्रकृति से पृथक् होकर प्रेक्षकरूप से दर्शन-मात्र कर रहा है—उसके समक्ष; जो प्रकृति में लिप्त होकर अभिनय कर रहा है, उसके निकट

नहीं। जो प्रकृति में लिप्त है अर्थात् जो प्रकृति में कर्तृत्वाभिमान रखता है, स्वयं को प्रकृति की क्रियाओं का कर्त्ता समझता है, उसके लिए तो यह कर्मजाल मात्र है। अतएव लीलारस के आस्वादन के लिए सर्व-प्रथम पुरुष को द्रष्टा रूप से अवस्थित होना आवश्यक है। क्योंकि द्रष्टा न हो तो लीला देखेगा कौन ?

अन्य पक्ष लें तो, पुरुष के द्रष्टा-स्वरूप में स्थित होने के साथ-साथ यदि प्रकृति का अभिनय निवृत्त हो जाय तो द्रष्टा के प्रति दृश्य का अभाव होने से अभिनय-दर्शन-जनित रसास्वाद की सम्भावना नहीं रहती। अतएव पुरुष का मुक्त होना भी जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार प्रकृति का अभिनय चलते रहना भी आवश्यक है। क्योंकि प्रकृति की क्रिया स्वभाव-सिद्ध है, कृत्रिम नहीं। द्रष्टा पुरुष एवं दृश्य-रूप प्रकृति की क्रीड़ा दोनों विद्यमान रहने पर भी इस क्रीडा को देखकर द्रष्टा आनन्द प्राप्त करेगा ही, ऐसी कोई बात नहीं है। क्योंकि आनन्द प्राप्त करने के मूल में अर्थात् अच्छा लगने के मूल में विशुद्ध वासना वर्तमान है। जिसकी जैसी वासना है, उसके अनुरूप ही उसको आनन्द-प्राप्ति होती है। क्योंकि वासना की निवृत्ति ही आनन्दप्राप्ति का नामान्तर है। जो वासनाहीन उदासीन द्रष्टा अर्थात् तटस्थ साक्षी है, वह समदर्शी होने से उपेक्षक रूप से समस्त दृश्य का दर्शन किया करता है। उससे उसका चित्त स्पृष्ट नहीं होता अर्थात् कोई विशिष्ट दृश्य देखकर उसे अच्छा या बुरा नहीं लगता, अर्थात् अनुकूल वा प्रतिकूल रूप से प्रतीति नहीं होती।

इससे समझा जा सकेगा कि भावहीन द्रष्टा को अभिनय

देखने से रसोत्पत्ति नहीं होती। रसास्वादन करने के लिए सहृदय होना आवश्यक है। अर्थात् शुद्ध वासना अथवा भाव रहना आवश्यक है। क्योंकि इस भाव से ही आस्वादन उद्भूत होगा।

भावराज्य के लीला-विलास का विश्लेषण करने पर ये तीन महासत्य स्पष्ट उपलब्धि-गोचर होते हैं। साधन-भक्ति अर्थात् कर्म को गुरूपदिष्ट क्रम से परिसमाप्त करने में समर्थ होने पर जो सिद्धि-लाभ होता है, वही कर्तृत्वाभिमान की निवृत्ति एवं आत्मज्ञान का विकास है। इसी का नामान्तर है द्रष्टा पुरुष की स्वरूप-स्थिति। इस अवस्था में भावजगत् में प्रवेश का अधिकार उत्पन्न होता है। भावजगत् निरन्तर लीला-मारुत के हिल्लोल से आन्दोलित हो रहा है, पुरुष द्रष्टा-रूप में इस हिल्लोल के पिछले भाग में अवस्थित रहता हुआ अपने-अपने भाव के अनुसार उसका आस्वादन कर रहा है। भावराज्य के सभी लोग साक्षि-भाव में प्रतिष्ठित हैं, अथवा प्रतिष्ठित होने के लिए उन्मुख हैं। शुद्ध सत्त्वमयी परमा प्रकृति निरन्तर क्रीड़ा कर रही है एवं महाभाव के अभिन्न अंश रूपी समस्त शुद्ध भाव निर्मल वासना रूप से द्रष्टा व दृश्य के मध्यपथ में आकर शुद्ध द्रष्टा को आस्वादन के प्रभाव से भावुक एवं रसिक के रूप में परिणत कर रहे हैं।

अतएव भावराज्य में लीला-रस के आस्वादन की त्रिविध सामग्री नित्य वर्तमान है। क्योंकि भाव नित्य है, एवं भाव का आश्रय द्रष्टारूपी मुक्त पुरुष भी नित्य है।

शुद्धसत्त्वमयी प्रकृति की क्रीड़ा नित्य है, एवं भाव का विषय

जो चिदानन्द-स्वरूप है, वह भी नित्य है। इस अवस्था में भाव-जगत् की लीला नित्यलीला क्यों न होगी ?

जीव वस्तुतः साक्षी होने से ही नित्यलीला का द्रष्टा मात्र है। लीला स्वरूपशक्ति से हुआ करती है। वस्तुतः स्वरूप के साथ स्वरूपशक्ति की अनन्त प्रकार की क्रीड़ा ही लीला है। इस क्रीड़ा के मूल में भाव की प्रेरणा वर्तमान है, एवं साधनसिद्ध अथवा अन्य प्रकार से भावप्राप्त मुक्त जीव इस क्रीड़ा को देखने का अधिकारी है। वह द्रष्टा होकर ही इस क्रीड़ा में योगदान करता है। क्योंकि लीलानुरूप समस्त अभिनय ही अपने-अपने भाव की प्रेरणा से जीव किया करता है। किन्तु वह जो करता है, उसे जानता नहीं। अथवा जानकर भी नहीं जानता, क्योंकि वह स्वभावतः ही हुआ करता है। इस अभिनय के मूल मे अभिमान न रहने से यह अभिनय होकर भी अभिनय नहीं है, एवं मुक्त जीव द्रष्टा होकर भी अभिनेता है। स्वच्छ स्फटिक में जैसे रक्त कुसुम का प्रतिबिम्ब पड़ने पर भी वह वस्तुतः रक्त नहीं है, उसी प्रकार मुक्त जीव लीला में योगदान करते हुए भी शुद्ध साक्षिमात्र ही हैं।

गुरु-आज्ञा, शास्त्र का शासन एवं वेद-विधि केवल अहङ्कारी जीव के ही लिए हैं। वस्तुतः साधन-मात्र ही यही है। कर्मरूपी साधना कर्तृत्वाभिमान न रहने से नहीं होती। सुतरां यह अभिमान का कार्य है, इसमें सन्देह नहीं। शास्त्रीय विधि-निषेध की व्यवस्था एवं गुरु का आदेश तभी तक सत्य हैं, जब तक अहंकार की निवृत्ति होकर द्रष्टा-स्वरूप में या स्व-स्वरूप में स्थिति नहीं होती। द्रष्टा बनने में समर्थ होने पर अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान-लाभ सिद्ध

होने पर उनकी आवश्यकता नहीं रहती। तब बाहर की कोई वस्तु भी आवश्यक नहीं होती। वस्तुतः कर्त्तव्य-बुद्धि से ही साधना का प्रयोजन है। किन्तु जब तक भाव का विकास नहीं होता तब तक कर्त्तव्य-बुद्धि लुप्त नहीं हो सकती, इसी कारण कर्त्तव्य-निरूपक बाह्य उपायों का सहारा लेना होता है।

कर्मपथ में गुरु का स्थान अत्यन्त अधिक है। किन्तु गुरु शिष्य के अधिकार के अनुसार उसे कर्म के लिए प्रेरणा दिया करते हैं। यह प्रेरणा प्रकृति-भेद से भिन्न प्रकार की हो सकती है। किसी के भीतर यह 'मेरा कर्त्तव्य है' इस प्रकार की अन्तःप्रेरणा के रूप में उदित होती है। अवश्य ही, यह साक्षात् रूप से भी हो सकती है अथवा गुरु, साधु, महाजन, शास्त्र प्रभृति के निर्देश के अनुसार भी हो सकती है। किन्तु अन्य प्रकृति के व्यक्तियों में यह प्रेरणा आती है—इष्टसाधनता-ज्ञान से। अर्थात् कोई कर्म-विशेष करने से उसके फल-स्वरूप इष्ट वस्तु प्राप्त हो सकेगी, ऐसे विश्वास से उस कर्म को करने में प्रवृत्ति होती है। इसलिए, यद्यपि दोनों मार्गों में कर्म का प्राधान्य समान ही है, तथापि यह मानने योग्य है कि एक स्थान में विधि ही प्रवर्तक है, एवं दूसरे स्थान पर आनन्दप्राप्ति के साधनरूप में कर्म-विषयक ज्ञान प्रवर्त्तक है। पूर्वोक्त मार्ग में साक्षात् बाह्य कर्म आवश्यक होता है, जिसका मूल गुरु अथवा शास्त्र का वाक्य है। किन्तु द्वितीय मार्ग में केवल स्मरण अथवा भावना से ही फल-लाभ होता है। प्रथम विधिमार्ग है, द्वितीय रागमार्ग। हृदय में राग का आभास उदित न होने पर्यन्त विधिपूर्वक कर्म करना ही होगा।

किन्तु रागरञ्जित हृदय में वैधकर्म की प्रयोजनीयता नहीं

रहती। राग-विद्ध हृदय अपने राग के अनुसार मनन आदि क्रिया करता है। भावना ही उसके लिए मूल साधन है। बाह्यकर्म न होने पर भी उसका काम चलता है। किन्तु जिसका हृदय सर्वथा शुद्ध व रागाभास-शून्य है, उसको बाह्य कर्म करने ही होंगे। इसके अतिरिक्त लोकसंरक्षण के लिए अनावश्यक स्थल में भी बाह्य कर्म की आवश्यकता है ही।

वास्तव में बात ऐसी है कि, जब तक कर्म द्वारा चित्तशुद्धि के फलस्वरूप स्वभाव का उदय न हो, तब तक अहङ्कार का मूल नष्ट न होने के कारण कर्म करना ही होगा। इसके बाद सिद्धा-वस्था में स्वभाव के स्रोत में कर्म बह जाता है। तब करने या न करने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। क्योंकि जिस अवस्था में कर्तृत्व का ही बोध नहीं रहता उस अवस्था में करने या न करने में कोई पार्थक्य नहीं रहता। वस्तुतः इस अवस्था में करना या न करना कुछ भी न रहने के कारण क्रिया ही नहीं रहती। जो पहले क्रिया-रूप से परिगणित था वह भूति या स्वभाव के खेल के रूप से आत्मप्रकाश करता है। भगवान् की नित्यलीला मे योगदान का रहस्य इससे स्पष्ट समझा जा सकेगा।

स्वभाव के स्रोत में पड़ जाने,पर जागतिक बन्धन व नियन्त्रण की सीमा से मुक्ति मिल जाती है। "निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।" त्रिगुणात्मिका प्रकृति के परे अप्राकृत धाम में अर्थात् भावराज्य में विधि अथवा निषेध का कोई स्थान ही नहीं है। स्वभाव की क्रीड़ा अथवा लीलातत्त्व की सूक्ष्म रूप से धारणा करनी हो तो प्रासङ्गिक रूप से स्वभाव के सम्बन्ध मे

भी स्पष्ट धारणा रहना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में संक्षेप में दो-एक बातें कहते हैं।

भाव एवं स्वभाव इनमें परस्पर सम्बन्ध है। खण्ड-भाव मे देखें तो किसी वस्तु की अनादिकाल से स्थिति ही भाव है। जब यह स्थिति भङ्ग होती है तब अभाव का उदय होता है, यही दुःख है। भाव किन्तु दुःख नहीं है, दुःखनिवृत्ति भी नहीं है, आनन्द भी नहीं। भाव अवस्था में आत्म-परिचय नहीं रहता। इसीलिए यह अनादि अविद्या की अवस्था है। इस अवस्था में दुःख नही रहता, सुख भी नहीं रहता। यही कुण्डलिनी की सुप्तता अथवा अनादि माया है। जीव जब तक इस अनादि निद्रा में निद्रित रहता है, तब तक उसे अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं रहता। दुःख-सुख की अनुभूति तो दूर की बात है। किन्तु जब इस अवस्था से स्खलित होकर जीव निःसृत होता है, तब वह दुःख का ही अनुभव करता है। क्योंकि यह भाव-च्युति के कारण प्राप्त हुई अभाव की अवस्था है। इसी का नामान्तर है संसार। इस अभाव की अवस्था में भाव का परिचय प्राप्त होता है। भाव स्वरूपतः स्वयं अपने को पहचान नहीं सकता। किन्तु स्वरूप-च्युति अर्थात् सामयिक आत्मविस्मृति उदित होने पर इस विस्मृति के अन्धकार के बीच अस्फुट क्षीण आलोक की भांति स्वयं को स्वयं स्मरण किया करता है। अभाव में भाव क्रमशः स्मृतिरूप मे आत्मप्रकाश करता है। यही उपासना का रहस्य है। इस अवस्था का उदय होने पर जीव का लक्ष्य स्थिर हो जाता है एवं उसकी अन्तर्मुख गति आरम्भ होती है। जिस प्रकार कोई

सुन्दरी रमणी स्वयं में सौन्दर्य रहने पर भी स्वयं उसे देख नहीं पाती, दूसरे की दृष्टि के अनुसार अपने सौन्दर्य की बात स्वीकार करती है, अथवा स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बरूप में अपना मुख स्वयं ही देख कर विमुग्ध होती है, यह भी ठीक उसी प्रकार है। प्रतिबिम्बहीन बिम्ब ही भाव है। अभाव के बीच स्मृति-रूप से प्रतिभासमान भाव ही मूल भाव का प्रतिबिम्ब है। इस अवस्था में अर्थात् अभाव का उदय एवं प्रतिबिम्ब रूप से भाव-दर्शन सम्पन्न होने पर, इस प्रतिबिम्ब को बिम्बरूप में प्राप्त करने के लिए इच्छा उत्पन्न होती है एवं तब निवृत्तिमुखी गति का सूत्रपात होता है। इस गति की परिसमाप्ति के पहले ही अभाव-निवृत्ति का अनुभव होता है। अथच तब भी भावराज्य मे पुनः प्रवेश नहीं हुआ। यह जो अभावनिवृत्ति है, इसी को आत्यन्तिक दुःखाभाव अथवा मुक्ति कहकर वर्णन किया जाता है। यह संसार के अतीत अवस्था है। अन्तर्मुख गति के और भी अग्रसर होने पर भावराज्य में पुनः प्रवेश होता है। तब फिर भाव भाव नहीं रहता, स्वभाव-रूप में परिणत होता है। यह मुक्ति की भी परावस्था है। यही परमानन्द है, जिसकी हिल्लोल की कीर्ति का नित्यलीला के रूप मे भक्तगण गान किया करते हैं। भाव एव स्वभाव एक ही वस्तु है, किन्तु भाव जड़ है, स्वभाव चैतन्य है। इस जड़ अथवा अचित् अवस्था को पूर्ण चिन्मय अवस्था मे परिणत करना ही सृष्टिलीला का एवं आध्यात्मिक साधना का एकमात्र उद्देश्य है। दुःख में पतित न होने से आनन्द का आस्वादन नहीं पाया जाता। दुःख में पतित होने से पहले की अवस्था एवं दुःख भोग के पश्चात् प्रत्यावर्तन की उत्तरावस्था

ठीक एकरूप नहीं है। एक अखण्ड आनन्द से अतिरिक्त द्वितीय कोई वस्तु नहीं है। यही अखण्ड भाव है। इसमें से निकला न जाय तो अभाव अथवा दुःख की अनुभूति नहीं होती, किन्तु दुःख स्थायी वस्तु नहीं है। क्योंकि शक्ति का जो प्रवाह भाव में से अभाव की सृष्टि करता है, वह प्रवाह ही लौटते समय अभाव को स्वभाव में परिणत करता है। तब भाव को पहचाना जा सकता है—अभाव अथवा दुःख या संसार की प्रकृत सार्थकता क्या है इसे तभी समझा जा सकता है। यह जो स्वभाव की बात कही गई यह यद्यपि भाव से अलग कुछ नहीं है, तथापि यह अपने भावरूप में उपलब्धि-गोचर हुई है, इसी कारण इससे जीव को फिर पुनरावृत्त नहीं होना होता। इसकी भी अतीतावस्था है। वही महाचैतन्य है। भाव से अभाव, अभाव से स्वभाव, उसके बाद महाचैतन्य। स्वभाव का खेल है आनन्द अथवा रस का अनन्त प्रस्रवण। इसका सम्यक् आस्वादन न पाने से संसार-ताप से शुष्क व शीर्ण जीव पुष्टिलाभ नहीं कर सकता। यही आनन्द-रूपी अमृत पीकर मुक्त शिशु जब क्षुधा-तृष्णा से रहित एवं चिन्ताशून्य अवस्था पायेगा तब आनन्द के अतीत परम चैतन्य को अपने में धारण करने की योग्यता प्राप्त करेगा।

अतएव आनन्दमय भावराज्य प्राप्त होने पर संसार के समस्त ताप उपशान्त हो जाते हैं, एवं स्निग्ध अमृताभिषेक के कारण वह सुशीतल माधुर्य रस में मग्न हो जाता है।

भाव से अभाव में लौट आना, यही अवरोहण है एवं अभाव से पुनः स्वभाव में लौट जाना यही आरोहण है। इसी प्रकार

एक आवर्तन पूर्ण होता है। इसका उद्देश्य जड़ सत्ता को क्रमशः चैतन्य सत्ता में परिणत करना है। वस्तुतः उपलब्धि का प्राक्-कालीन आनन्द ही जड़-पद-वाच्य है एवं उपलब्धि के पश्चात् यह आनन्द ही चैतन्यरूप से वर्णित हुआ करता है। एक ही अखण्ड वस्तु सदा एवं सर्वत्र विद्यमान है। अधिकार एवं सामर्थ्य के अनुसार वह नाना रूपों में प्रतिभात होती है।

अभाव के राज्य में विधि-निषेध का शासन स्वाभाविक है। किन्तु स्वभाव को प्राप्त होने पर विधि-निषेध की कोई सार्थकता नहीं रहती। इसीलिए स्वभाव की क्रीड़ा वेद-विधि के अगोचर है। स्वभाव को प्राप्त होने से ही स्वभाव हो गया ऐसा नहीं है। तब आनन्द की धारा बहने लगी एवं उस धारा में जीव स्नान होकर निरन्तर पान करने लगा, यह सत्य है। किन्तु उसकी एक परावस्था भी है। वह आनन्द के भी अतीत है। वही प्रकृत जागरण अथवा महाचैतन्य है।

भावराज्य की अनन्त लीला नित्यानन्दमय है। इस लीला का अवसान होने पर महाभाव की लीला स्पष्टतः स्फुट हो उठती है। महाभाव ही घनीभूत आनन्दसत्ता है, जिसका अपर नाम है—ह्लादिनी शक्ति। भाव की लीला के फलस्वरूप जिस प्रकार आनन्द घनीभूत होकर महाभावरूप परमानन्द में पर्यवसित होता है—ठीक उसी प्रकार लीला का अवसान होने पर महाभाव इस परमानन्द परमचैतन्य में स्थिति-लाभ करता है। तब यह चैतन्य क्षणभर के लिए उसको जगा देता है। इस क्षणिक जागरण को कालबन्धन द्वारा नित्य जागरण-रूप में परिणत कर पाने से ही

लीलातीत एवं भावातीत नित्य-प्रबुद्ध स्वयंप्रकाश चैतन्य का स्फुरण होता है।

भाव से अभाव एवं अभाव से स्वभाव—यही निर्दिष्ट नियम है यह बात पहले ही कही गई है। किन्तु इसके रहस्य का अभी भी भेद नहीं हुआ है। भाव से अभाव के संक्रमण की जो बात कही गई उसका अर्थ क्या है? वस्तुतः अवरोह एवं आरोह दोनों क्रमों में समझना हो तो कलाज्ञान आवश्यक है। जिसको भावा-वस्था कहा गया है—वह साम्यावस्था है, उसमें अनन्त कलाओं का सन्निवेश है यह समझा जा सकता है। सुतरां अनन्त की ह्रास-वृद्धि न होने से वास्तव में भाव से अभाव का उदय युक्ति द्वारा समझाया नहीं जा सकता। किन्तु, तथापि सृष्टि-प्रक्रिया एवं संहार-प्रक्रिया को विशद रूप से विचार द्वारा बोधगम्य करना आवश्यक है। जिस अनन्त कला की बात कही गई वह अनन्त होने पर भी समष्टिरूप से देखने पर एक ही है—बिन्दु वा मण्डल। स्वातन्त्र्य-शक्ति इसी मण्डल का स्वरूपगत धर्म है। यह मण्डल के साथ अभिन्नसत्ता वाला होकर विद्यमान है। स्वातन्त्र्य के प्रभाव से जब अनन्त कलाओं से एक कला तिरोहित होती है तभी महासाम्य के ऊपर विराट् क्षोभ का उदय होता है, एवं साम्यावस्था वैषम्यमयी सृष्टि की सूचना देती है। इस एक कला का तिरोधान ही मूल अविद्या है—वस्तुतः यह एक नहीं, अर्द्धमात्रा है। जो भी हो, उस रहस्य का उत्थापन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। अनन्त कलाओं में से एक कला का तिरोभाव मूल अविद्या के रूप में अथवा महामाया की स्वरूप-भूता

आवरण-शक्ति के रूप में प्रसिद्ध है। इस अवस्था का ही पहले आंशिक सुषुप्ति कहकर वर्णन किया गया है। यह जिस साम्यमयी भावसत्ता की बात कही गई यह सुख-दुःख के अतीत है। ये अनन्त कला अनन्त हैं अवश्य, किन्तु बिन्दु-रूप में ये एक ही हैं। सुतरा एक ही अनन्त है एवं अनन्त ही एक है। जब मूल साम्य भङ्ग होता है तब इस बोधहीन जड़-पदवाच्य भाव नामक महासत्ता में ही क्षोभ होता है यह समझना चाहिए। इस क्षोभ से ही आनन्दकी सृष्टि होती है। अर्थात् जो चैतन्य था वह आनन्द द्वारा सीमाबद्ध होता है। चैतन्य आनन्दयुक्त होकर युगल-रूप में प्रकाश पाता है। एक-एक कला के क्रमिक तिरोभाव के अनुसार आनन्द-सत्ता भी क्रमशः सीमाबद्ध होकर स्फुरित होती रहती है। एक कला कम अनन्त कलाओं के स्तर से एक कला पर्यन्त भावराज्य का विकास है। एक कला में रेणु-रेणु-क्रम से अमृत रश्मियों के विकिरण के फल-स्वरूप प्राकृतिक सत्ता-सम्पन्न मायिक जगत् में एक कला विकीर्ण हुई है।

आरोहण के समय इन छिटकी हुई अमृत-किरणों को एकत्र करके एक कला पूर्ण कर पाने से मायिक जगत् का अतिक्रम करने में उपयोगी साधना समाप्त होती है। इस एक कला को लेकर ही भाव-जगत् में प्रवेश होता है। भाव के विकास के फलस्वरूप क्रमशः एक के बाद दूसरा कला-राज्य अतिक्रान्त होता रहता है। एक कला कम अनन्त कला पर्यन्त विकास सिद्ध होने पर ही श्रीराधाकृष्ण-युगल-तत्त्व श्रीराधा के पूर्ण आत्मसमर्पण के फल-स्वरूप एकल श्रीकृष्ण के रूप में परिणत होता है। यही

आनन्द की परिसमाप्ति है। किन्तु पूर्ण जागरण यह भी नहीं है। क्योंकि एक कला अभी भी तिरोहित अवस्था में है। इस एक कला का पूर्ण उन्मेष न होने तक आनन्द चैतन्य-रूप में परिणत नहीं होता।

आनन्द चैतन्य नहीं है अथवा चैतन्य आनन्द नहीं है, यह बात नहीं कही जा रही है। जिसको आनन्द कहा जा रहा है, वह भी चैतन्य ही है; किन्तु उसमें एक कला सुषुप्ति का आवेश विद्यमान है। इसी कारण इस आनन्द-तत्त्व के मध्य ही शक्ति-शक्तिमान् के युगल-भाव का विकास होता है। चैतन्य भी वास्तव में आनन्द-तत्त्व ही है—हाँ, इस आनन्द में सुषुप्ति नहीं है, युगल नहीं है—यहाँ तक कि अन्तर्लीन भाव से भी शक्ति-शक्तिमान् में भेद नहीं है। वह एक ही अनन्त सत्ता है। अनन्त होकर भी वह एक है। सुतरां चैतन्य स्वरूप के बिना प्रकृत अद्वैत अवस्था की प्रतिष्ठा होना सम्भव नहीं है। इस अवस्था में अनन्त कलाओं का ही विकास रहता है।

अनन्त कला चैतन्य है। एक-कम अनन्त से आरम्भ करके एक कला पहले पर्यन्त आनन्द अथवा भावराज्य की कला है। एक कला चित्कला या ब्रह्मज्योतिः है। एक कला की किरण-राशि अथवा अंश-प्रत्यंश अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-विशिष्ट समग्र मायिक जगत् है।

इस विवरण से समझा जा सकेगा कि समग्र अभाव का जगत् महाचैतन्य की एक कला पर प्रतिष्ठित है 'एकांशेन स्थितो जगत्।'

अन्य पक्ष से कहें तो समग्र चैतन्य जगत् या भावजगत् आनन्द-साम्राज्य के बाद केवल मात्र एक कला का आश्रय लिए हुए है। कला का क्रमिक क्षय एवं क्रमिक विकास, यही अवरोह एवं आरोह-प्रणाली के मर्म की बात है। जिसका भाव कहकर पहले उल्लेख किया गया है, वह वस्तुतः अनन्त कला-सम्पन्न अद्वैत व अखण्ड परम तत्त्व है। किन्तु वह बोधहीन है, सुतरां आनन्दहीन एवं दुःखहीन है। जब स्वातन्त्र्य के कारण अथवा महाकरुणा के उच्छ्वास से यह भावसत्ता विक्षुब्ध होती है एवं सत्तालीन जीव भाव से विकीर्ण होकर बाहर अभाव की ओर धावमान होते हैं, तब सबसे पहले क्रमशः आनन्द के राज्य अर्थात् भावमय जगत् के उद्घाटित होने पर चरमावस्था में दुःखबहुल अभाव का जगत् स्फुट हो उठता है।

जीव अन्तरालवर्ती आनन्दराज्यों का भेद करके माया के जगत् में अवतीर्ण होने के समय किसी भी स्तर की उपलब्धि नहीं कर सकता। निद्रितावस्था में यान में आरूढ़ होकर लम्बे पथ का अतिक्रमण करने से जैसे पथ के अन्तर्गत सब दृश्य नहीं दिखाई देते, किन्तु पथ बीत ही जाता है—सृष्टि-धारा में भी ऐसा ही हुआ करता है। जीव अवरोहण के समय जिन-जिन स्तरों का भेद करता हुआ उतरता है, उनका कोई सन्धान नहीं रख पाता, सुप्तवत् चला आता है। किन्तु पृथ्वी पर आरूढ़ होकर अर्थात् स्थूल देह में अभिनिविष्ट होकर चैतन्य-प्राप्त होने पर दुःख के साथ-साथ अर्थात् अभाव की उपलब्धि के प्रभाव से पूर्वस्मृति अस्फुट रूप से जागती रहती है। तब सद्गुरु की कृपा से विक्षिप्त

परमाणुओं को संहृत करके चित्कला का उन्मेष कर पाने पर सिद्धावस्था में भावराज्य में प्रवेश होता है एवं भाव का विकास चलता रहता है। भाव का विकास ही कला का विकास है, इसमें सन्देह नहीं है। तब जीव समझ पाता है कि भावजगत् में वह नवागत नहीं है—भावराज्य के प्रत्येक स्तर में ही उसकी पूर्व-स्मृति जाग उठती है, एवं वह अनुभव कर पाता है कि वह उसका अपना ही राज्य है—इतने दिन वह उसे भूल गया था, अब पुनः लौटकर उसे पा रहा है। इस प्रकार एक के बाद एक प्रत्येक स्तर में ही हुआ करता है। तब देखा जाता है कि जीव किसी भी स्तर में अपरिचित नहीं है। इसलिए यद्यपि स्तर-'संख्या' असङ्ख्य है एवं यद्यपि एक स्तर के साथ दूसरे स्तर का भावगत पार्थक्य है, तथापि लौटने के समय प्रत्येक स्तर का ही अपने राज्य की भाँति ही अनुभव करता है। केवल अनुभव ही नहीं करता, उसकी पूर्वस्मृति भी जाग उठती है। अपने धाम की अनुभूति न होने पर्यन्त एवं अपने गणों द्वारा अपने को घिरा हुआ न पाने पर्यन्त जीव आनन्द का आस्वादन नहीं पा सकता। संसार-कानन जीव का विदेश है, भावराज्य उसका स्वदेश है। इस प्रकार भावराज्य की समग्र आनन्द-सम्पद् पर अधिकार करके महाचैतन्य की अन्तिम कला के लिए उसे प्रतीक्षा करनी होती है। क्योंकि उसका विकास न होने पर्यन्त आनन्द के अतीत शुद्ध चैतन्य सत्ता स्वयम्प्रकाश रूप से उपलब्धि-गोचर नहीं होती।

साधारणतः जीवों में प्रकृतिगत पार्थक्य दिखाई देता है। क्योंकि भावराज्य के जिस स्तर से अंशों के निकलने पर जिस जीव

की कारण-सत्ता रचित होती है, उस जीव के लिए आपाततः यह स्तर ही स्व-धाम है। यह भाव ही उसका स्व-भाव है। इस प्रकार से देखें तो प्रत्येक जीव का ही एक वैशिष्ट्य लक्षित होगा। यह भावगत वैशिष्ट्य है।

किन्तु स्मरण रखना होगा कि सभी जीवों के मूल में एक ही जीव है, एवं यह एक ही जीव अवतरण के समय एक के बाद एक सभी स्तरों का भेद करता हुआ आया है। इसीलिए लौटने के समय पूर्ण चैतन्य की ओर लक्ष्य रखकर क्रम-विकास का मार्ग पकड़ना हो तो उसे समग्र भावराज्य का ही क्रमशः अति-क्रम करना आवश्यक है। एवं स्वभाव के नियम में वही हुआ करता है। किसी निर्दिष्ट भाव को वह स्वभाव के रूप में मानकर पकड़ कर नहीं रह सकता। क्योंकि उसके लिए क्रम-विकास के पथ पर कभी न कभी प्रत्येक भाव ही स्वभाव-रूप में उपलब्धि-गोचर हुआ करता है। केवल प्रत्येक भाव नहीं, महाभाव भी ऐसा ही है। केवल महाभाव नहीं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण वा रसराज भी इसी प्रकार कभी न कभी स्वभाव-रूप में उपलब्धि-गोचर होते हैं। वस्तुतः महाचैतन्य प्रत्येक जीव का ही आत्म-स्वरूप है।

अतएव रागानुगा भक्ति की साधना करके नित्यसखी-जन के अनुगत होकर जीव जब भावजगत् की व्यापक लीला में योगदान करता है, तब वह एक निर्दिष्ट कोटि का ही आश्रयण किए रहता है। उसका स्थान वैशिष्ट्य-सम्पन्न है। अनन्त जीवों में से अन्य कोई जीव उस स्थान पर अधिकार नहीं कर सकता। जब

तक वह अपना रिक्त स्थान ग्रहण नहीं करता तब तक वह स्थान वा आसन रिक्त ही रहता है। इस प्रकार प्रत्येक जीव की एक विशेष भावमयी स्थिति है यह समझना होगा। नित्य लीला के आस्वादन के पक्ष में यह सत्य अकाट्य एवं अभ्रान्त है। दूसरे पक्ष में प्रत्येक जीव ही जब मूल में एक है एवं वह जीव ही जब बहिर्मुख होकर अनन्त जीवरूप में परिणत हुआ है, तब जीव अपने स्वरूप में लौटने के समय प्रत्येक स्तर, केवल प्रत्येक स्तर नहीं, प्रत्येक स्तर के अन्तर्गत प्रत्येक जीवभाव आत्मस्वरूप में आस्वादन करते-करते ही क्रमशः महासत्ता में परिणत होता है। इस कारण प्रत्येक जीव ही अनन्त जीवों का प्रतिनिधि है। सुतरां प्रत्येक जीव के लिए भावराज्य का अनन्त प्रकार का आस्वादन ही भोग की सामग्री है। किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। इन अनन्त रूपों एवं अनन्त भावों में अभिव्यक्त अनन्त प्रकार के रसका आस्वादन करने की योग्यता प्रत्येक जीव में ही है। केवल वही नहीं, माया-जगत् में जो अनन्त दुःख है, जो अनन्त जीवों में विभक्त रूप से अनुभूत हो रहा है उसे यह भाग्यवान् · जीव एकाकी अनुभव व वहन करता है। समग्र मायिक जगत् के अन्तर्गत विभिन्न जीवों का समस्त दुःखभार जो स्वयं ग्रहण करने को प्रस्तुत नहीं है, उसके लिए भावराज्य की अनन्त संम्पद् का, एक भाव होते हुए भी अनन्त भावों के प्रतिनिधि-रूप से, अनन्त रसमय व्यापक आनन्द-सम्भोग सम्भव नहीं है, एवं इस व्यापक आनन्द के अतीत महाचैतन्य में प्रवेश भी सम्भव नहीं है।

सुतरां समझना चाहिए कि तत्त्व की दृष्टि से दोनों ही

सिद्धान्त सत्य हैं । प्रत्येक जीव ही अकेला है, उसके समान द्वितीय कोई नहीं है। दूसरे पक्ष के अनुसार प्रत्येक जीव अनन्त है। एकाधार में अनन्त जीवों का अनन्त भाव अभिव्यक्त होता है। नित्यलीला प्रत्येक जीव के लिए नित्यलीला है, इसमें सन्देह नहीं है। दूसरी ओर नित्यलीला होने पर भी जीव इसका अतिक्रम करके लीलातीत महाचैतन्य में स्थिति लाभ करने में समर्थ है। यह जो महाचैतन्य की बात कही गई, यह स्वभाव की परिसमाप्ति है। युगल-लीला ही स्वभाव है। लौटते समय अभावनिवृत्ति एवं स्वभावप्राप्ति इन दोनों की मध्यवर्त्तिनी एक अवस्था है, उसे मुक्ति कहते हैं। यही आत्यन्तिक दुःखनिरोध है। यह संसार के अवगम की अवस्था है, किन्तु भावराज्य की अभिव्यक्ति की पूर्व्वावस्था है। इस अवस्था में दुःख तो रहता ही नहीं, दुःख का बीज भी नहीं रहता। सुतरां यह अवस्था प्राप्त होने पर जन्म-मृत्यु का चक्र चिरदिन के लिए निवृत्त हो जाता है। चित्कला की अर्थात् निर्विशेष ज्ञान की अभिव्यक्ति से ही अवस्था प्राप्त होती है। किन्तु यह भी परम अवस्था नहीं है। इसके बाद ही प्रकृत भक्ति अर्थात् भावमयी भक्ति की सूचना होती है, जिस भक्ति का आधार मुक्त पुरुष के सिवा कोई नहीं हो सकता। इस भक्ति के विकास के साथ-साथ ही सूर्योदय होने पर कमल के उन्मीलन के समान लीलामय भावराज्य स्फुट हो उठता है। इसके बाद पूर्ण आनन्द में लीला का उपसंहार होने पर विशुद्ध भगवत्तत्त्व में स्थिति होती है, जिस में महाभाव अथवा पराभक्ति भी स्वरूप-धर्म के रूप में निहित रहती है। इसके पश्चात् महाचैतन्य की अवस्था है।

महाचैतन्य की अवस्था अखण्डमण्डलाकार महाबिन्दुस्वरूप है। इस अवस्था में अनन्त कला विकास-प्राप्त हैं, सुतरां चैतन्य ही चैतन्य है; सुषुप्ति का लेशमात्र भी विद्यमान नहीं, इस चैतन्य-प्राप्ति के बाद फिर अवसाद नहीं होता। जिस भावसत्ता से सृष्टि का सूत्र-पात होता है, एवं जीवराशि का निर्गम होता है, यह भी वही है, अथच ठीक वही नहीं। नित्य दुख:मय अभाव का राज्य एवं नित्यानन्दमय स्वभाव का राज्य--दोनों के अतीत यह महाचैतन्य है। आपाततः इसको ही परमपद कह कर समझा जा सकता है।

पहले ही कहा गया है कि भगवान् की अन्तरङ्ग व स्वरूप-शक्ति एवं बहिरङ्ग व मायाशक्ति की भाँति तटस्थ शक्ति अथवा जीव-शक्ति भी है। इस तटस्थ शक्ति से ही जीव आविर्भूत होता है। जीव नित्य व अणुपरिमाण है, किन्तु नित्य होने पर भी उसका आविर्भाव है। जिस शक्ति से ये अणु या चिदणु निरन्तर आविर्भूत हो रहे हैं, वही तटस्थ शक्ति है। स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति अनन्त वृत्ति-संपन्न है। ह्लादिनी की मुख्यवृत्ति महाभाव है। यह आनन्द की सारभूत है। यह होने पर भी इसके स्वरूपभूत अनन्त अंश हैं। इनको भाव कहते हैं। स्वरूपशक्ति का प्रतिबिम्ब तटस्थशक्ति धारण करती है। इस कारण अनन्त भावराशि अनन्त चिदणुओं में अभिव्यक्त अवस्था में प्रतिफलित होकर पड़ी हुई है। मुख्यभाव से एक-एक भाव एक-एक अणु में प्रतिफलित होता है एवं गौणभाव से प्रत्येक अणु में प्रतिफलित होता है। जो मुख्य भाव जिस अणु में प्रतिफलित होता है, वही इस अणु का स्वभाव है। अभाव के राज्य में आकर इस अन्तःस्थित अपने-अपने भाव को ही अर्थात् चिदानन्द के प्रतिबिम्ब-स्वरूप भाव के

विम्बस्वरूप भावरूप नित्यमआदर्श को ही प्रत्येक जीव खोजता रहता है। इसका किञ्चित् आभास बहुत पहले दिया गया है।

आपाततः जिस भाव, अभाव व स्वभाव के परस्पर सम्बन्ध की आलोचना की गई उससे यह तत्त्व और भी परिस्फुट होगा। भाव समुद्र में अणुरूपी जीव अनादिकाल से निद्रितावस्था में लीन होकर वर्तमान है। यही जीवगन तटस्थ शक्ति की निष्क्रिय अवस्था है। जब स्वातन्त्र्यवशतः महासत्ता में क्षोभ उत्पन्न होता है, तब यह क्षोभ एक ओर जैसे स्वरूपशक्ति को विचलित करता है, दूसरी ओर उसी प्रकार तटस्थ शक्ति को भी विचलित करता है। कहना न होगा, माया-शक्ति का चलन भी इसी के अनुरूप है। स्वरूपशक्ति के क्षुब्ध न होने पर्यन्त जैसे ह्लादिनी वा महाभाव को प्राप्त नहीं हुआ जाता, उसी प्रकार तटस्थ शक्ति के क्षुब्ध न होने तक जीवाणु को भी नहीं पाया जाता। सुतरां अणुरूपी जीव अनादि सुषुप्ति से उत्थित होने के साथ-साथ ही अपने हृदय में प्रतिबिम्बित रूप से स्वानुरूप भावसत्ता की उपलब्धि करता है। यही भाव-क्षोभ की अवस्था है। कहना न होगा, यह अभाव के ही अन्तर्गत है। इसके पश्चात् अभाव-निवृत्ति या मुक्तावस्था है। स्वभाव में प्रवेश मुक्ति के उत्तर-काल में होता है। स्वभाव का पूर्ण विकास होने पर महाचैतन्य वा अनन्त जागरण अवश्यम्भावी है।

भावराज्य की मुख्य साधना मधुर रस का अनुशीलन है। किन्तु अन्यान्य रस भी यथावस्थित रूप से आस्वादित होते रहते हैं। एक दृष्टि से प्रत्येक जीव की ही एक आत्मभूता प्रकृति है जिसका

अनुसरण कर पाने पर उसका स्वेच्छाचार एवं स्वाधीनता सिद्ध होती है। नित्य लीला में सभी अवान्तर रस मुख्य रस के ही सहायक रूप में एवं अङ्गरूप में आस्वादित हुआ करते है। वस्तुतः किसी भी जीव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अवश्य ही योग्यता की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक्षा करनी होती है। जब सु-अवसर आता है, तब जीव महाभाव के भीतर से ही पूर्ण रस-तत्त्व का आस्वादन करने में समर्थ होता है। रासलीला का रहस्य समझ पाने पर महातत्त्व कुछ अंश तक हृदयङ्गम हो सकता है।

भावराज्य की महालीला किसी भाव की उपेक्षा करके नहीं सम्पन्न होती, क्योंकि विश्व जगत् में एक परमाणु का गौरवमय स्थान है। यहाँ क्षुद्र व बृहत् दोनों का ही समान मूल्य है। जिनका स्वभाव है वह नित्यलीला में योग देने का एवं योगदान करके आनन्द का आस्वादन करने का सौभाग्य पाते हैं। स्वभाव की भजन-प्रणाली अर्थात् रागमार्ग की उपासना, इसी भावजगत् की महामूल्य सम्पत् है। यह सम्पत् प्राप्त करने के लिए अभाव के राज्य से स्वभाव का गठन करने की चेष्टा करनी होती है। इस गठनप्रणाली का मूलमन्त्र है हृदय-स्थित भाव का प्रतिबिम्ब; क्योंकि उसका आश्रय लेकर ही स्वभाव गठित होगा। स्वभाव पूर्णाङ्गरूप से प्रस्फुटित न होने से अखण्ड आनन्द का आस्वादन सम्भव नहीं होता। विक्षिप्त चित्त से विक्षिप्त इन्द्रियों से आनन्द की नित्य-नवायमान लीला की धारणा नहीं की जा सकती। वस्तुतः यह लीला तब प्रतिभासमान भी नहीं होती। इस कारण

ही प्रवर्तक अवस्था में स्वभाव का गठन करने का उपयोगी कर्म अर्जित करना होता है। नहीं तो स्वभाव गठित नहीं होता एवं भाव का भी विकास नहीं होता अर्थात् सिद्धिलाभ नहीं होता। भाव की साधना ही प्रकृत साधना है, यहाँ वक्रगति की आशङ्का नहीं है, स्खलन की सम्भावना नहीं है, पूर्वस्मृति का ताप नहीं है, भावी आशा की आकुलता नहीं है, स्वार्थपरता नहीं है, मोह नहीं है, फलाकांक्षा नहीं है, एवं नैराश्य की आविलता भी नहीं है। यह प्रकृति की साधना है, पुरुष की नहीं। पुरुषकार (पुरुषार्थ) का अवलम्बन करके प्रकृति को प्राप्त न होने से भाव-राज्य में प्रवेश भी नहीं होता, स्वभाव की साधना भी नहीं चलती।

पशुभाव से योग्यता-लाभ करके वीरभाव में पहुँचने पर प्रकृति के साथ खेल करने का अधिकार उत्पन्न होता है। ब्रह्मचारी अवस्था में ज्ञान व वीर्य सम्पादन करके जिस प्रकार गृहस्थाश्रम में भोगास्वादन का अधिकार उत्पन्न होता है, ठीक उसी प्रकार प्रवर्त्तक अवस्था में सिद्धि-लाभ होने पर स्वभाव की साधना का अधिकार आता है, उससे पहले नहीं। भाव की साधना अत्यन्त कठिन है, अथच मूल में अहङ्कार न होने के कारण एव यह पुरुषकार का खेल न होने के कारण यह (भावसाधना) अत्यन्त सरल है। क्योंकि जब होती है तब यह स्वयं ही हो जाती है। स्वभाव की साधना किसी को भी करनी नहीं होती। व्रजलीला स्वभाव की साधना का ही नामान्तर है। यह बात क्रमशः और भी परिस्फुट होगी।

अभाव के जगत् के पार होकर भाव-जगत् में प्रवेश करना

होता है। जागतिक अभाव दूर न होने से भावराज्य के आनन्द मे योगदान नहीं किया जा सकता। यह सब ही सत्य है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि भावराज्य में भी एक प्रकार से अभाव का ही राज्य है। क्योंकि यदि भाव के साथ अभाव का योग न रहता तो स्वभाव के रूप में परमानन्द की धारा न बहती। स्वभाव ही योगमाया है। लीलारस का विकास इस के ही अधीन है। स्वभाव के राज्य में जागतिक अभाव नहीं है, यह सत्य है, किन्तु वास्तव में अभाव ही नहीं है यह सत्य नहीं। क्योंकि प्रकृत अभाव जो है वह इसी समय में ही अनुभव-गोचर होता है। जागतिक अवस्था के बीच खण्ड अभाव की अनुभूति होती है एव खण्ड भाव के द्वारा ही उसकी तृप्ति होती है। किन्तु जागतिक सत्ता के ऊपर स्वभाव के आत्म-प्रकाश में जिस अभाव का हाहाकार ध्वनित हो उठता है, वह अत्यन्त करुण है।

मायिक जगत् का अभाव खण्ड भाव के द्वारा तृप्त हो सकता है, किन्तु मायातीत जगत् का अभाव महाभाव के बिना तृप्त नहीं हो सकता। यह अभाव अनन्त है, किन्तु अभाव के बने रहते हुए भी यह जगत् दुःख का जगत् नहीं है, आनन्द का जगत् है। इसका कारण यह है कि इस जगत् की अधिष्ठात्री शक्ति योगमाया है—मायामात्र नहीं। इस जगत् में अभाव-बोध के साथ-साथ भाव फूट उठता है। इसीलिए तृप्ति अथवा आनन्द के रूप में चैतन्य की स्फूर्ति होती है। यदि अभाव यहाँ न रहता, तो स्वभाव आनन्दमय न होता। सुतरां समझना होगा कि अभाव-बोध में ही दुःख व सुख दोनों का ही आविर्भाव होता

है। हाँ, पार्थक्य यही है कि मायाजगत् में अभाव-बोध होने पर भी भाव के द्वारा साथ ही साथ उसकी तृप्ति नहीं होती। जब तक यह नहीं होता तब तक दुःख-बोध अनिवार्य है। किन्तु शुद्ध नित्य जगत् में अभाव बोध के साथ-साथ ही तदनुरूप भाव आत्मप्रकाश किया करता है। सुतरां तब यह अभाव-बोध ही आनन्द का हेतु बनकर स्थित होता है। इस प्रकार भाव-जगत् में क्रमशः एक-के-बाद एक तरङ्ग उठती ही रहती है। इच्छा व प्राप्ति के बीच व्यवधान का अन्तराल न रहने से इच्छा कुछ क्षण अपूर्ण रहकर दुःख की सृष्टि नहीं कर पाती।

इस भावराज्य में प्रवेश करने का मुख्य उपाय है महा इच्छा के स्रोत में अपनी इच्छा का विसर्जन कर देना। प्रतिदान में कुछ भी पाने की आशा न रखकर अपनी व्यक्तिगत इच्छा व शुभाशुभ बोध को चिरदिन के लिए अर्पण कर देना है। जो महा इच्छा भाव-जगत् में अव्याहत गति से क्रीड़ा करती है, वही मनुष्य-चित्त में खण्ड-इच्छा के रूप में आविर्भूत होती है। किन्तु मनुष्य कर्तव्याभिमानविशिष्ट है, इसी कारण स्वीय इच्छा व विचार-शक्ति का विसर्जन नहीं कर देना चाहता। गुरु-आज्ञा अथवा शास्त्र का आदेश महा इच्छा का ही प्रतिनिधि मात्र है। इसी कारण विचार किए बिना ही गुरु-आज्ञा पालन न कर पाने से नित्य-धाम में स्वीय भावानुरूप स्थिति-लाभ नहीं किया जा सकता। वस्तुतः बिना विचार के अपनी इच्छा का विसर्जन कर देना, फलाकाङ्क्षा न रख कर, अतीत की चिन्ता न करके, वर्तमान के गुण-दोषों की ओर लक्ष्य न रख कर गुरु की आज्ञा का प्रति-

पालन करते हुए उनकी इच्छा के साथ अपनी इच्छा को युक्त करना—इसमें बड़ी सरलता से कर्म-बन्धन कट जाते हैं एवं भाव-राज्य में प्रवेश का द्वार खुल जाता है।

जीव स्वाधीन है या पराधीन इस विचार को उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है। हाँ, यह सत्य है कि वह एक ओर स्वाधीन है एवं दूसरी ओर पूरी तरह दूसरे के अधीन। जागतिक घटना-परम्परा कार्यकारणभाव से विन्यस्त शक्तिवर्ग के पारस्परिक संघर्ष का फल है। कारणानुरूप कार्य का उद्भव इसी नियम से हुआ करता है। यही नियति एवं कालशक्ति है। समग्र जड़ जगत् इस नियति के अधीन है। साधक जीव गुरूपदिष्ट साधना के द्वारा इसी नियति अथवा कालशक्ति पर ही जय करता है। तब वह भावराज्य में प्रवेश करने में समर्थ होता है। मनुष्य चैतन्यस्वरूप में स्वाधीन है, किन्तु देह-सम्बन्धवशतः देह की ओर से पराधीन है। भगवत्शक्ति के प्रतिनिधि के रूप में गुरु की इच्छा साधकजीवन में कार्य करती है। यही आज्ञा या विधि-निषेध के रूप में प्रकाशित होती है। जीव अपनी इच्छा को इस व्यापक इच्छा के साथ सज्ञान अवस्था में ही युक्त कर पाये तो समस्त क्लेशों से मुक्त हो सकता है। जीव क्योंकि स्वाधीन है, अतः उसका इच्छार्पण भी पूरी तरह उसी के अधीन है। वह बिना विचार किए गुरु के आदेश का ग्रहण कर भी सकता है अथवा नहीं भी कर सकता। इस क्षेत्र में उसे पूरी स्वाधीनता है। यहाँ उसे फलाफल देखने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी इच्छा को बिना विचार किए गुरु-आज्ञा के

सम्मुख प्रसन्न चित्त से बलिदान कर पाये तो गुरु की अहैतुक कृपा प्राप्त की जा सकती है। अहैतुक कृपा-लाभ करना हो तो अपना आत्मविसर्जन भी अहैतुक होना आवश्यक है। यही महा-विश्वास और निर्भरता का रहस्य है। इसके फलस्वरूप क्षण-भर के लिए साधक इच्छाहीन होकर उसके बाद भावराज्य में प्रविष्ट होता है। तब भगवदिच्छा ही अपनी इच्छा के रूप में कार्य करती है। इस भाव के राज्य में एकमात्र इच्छा सर्वत्र अनन्त रूप में क्रीड़ा कर रही है। यह इच्छा वस्तुतः किसी की भी इच्छा नहीं है—यह अनिच्छा की इच्छा अथवा स्वभाव का खेल है। यह इच्छा ही मायातीत अभाव है, जिससे अनन्त लीला-विलास अनन्तरूपों में प्रकाशित हो रहा है। जब इस अनन्त अभाव का उपशम होगा उसी दिन जीव नित्यलीला के बीच भी लीलातीत-भाव में विश्राम पायेगा।

(६)

भावराज्य व लीलारहस्य (क)

श्रीकृष्णतत्त्व कामतत्त्व है। कामबीज व कामगायत्री इसका स्वरूप है। प्रसङ्गतः यह बात पहले भी कुछ कही गई है। श्री राधा-कृष्ण एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। दोनों में भेद नहीं है एवं आत्यन्तिक अभेद भी नहीं कहा जा सकता। इसी कारण इसे युगलतत्त्व कह कर वर्णन किया जाता है। एक व बहु, इसकी मध्यवर्त्ती अवस्था ही दो हैं। दोनों का आश्रय न कर के एक बहुरूप में प्रकाशित नहीं हो सकता। बहु अवस्था में भेद परिस्फुट रहता है। किन्तु जब यह परिस्फुट भेद अतिक्रान्त होता है तब अभेद के बीच ही समस्त भेद उपसंहृत हो जाते हैं। यह अवस्था युगल अवस्था है। एक ही तत्त्व के अर्द्धाङ्ग पुरुष व अर्द्धाङ्ग प्रकृति के रूप में प्रकाशित होने पर उसको एक अवश्य कहा जाता है, तथापि वह एक होकर भी दो है। अन्य प्रकार से कहे तो वह ठीक दो भी नहीं है, दो होकर भी एक है। जहाँ केवल एक सत्ता है, जहाँ एक के बीच द्वितीय का आभास जागरूक नहीं रहता, वहाँ एक स्वयं को भी स्वयं देख नहीं पाता। यह बोधहीन जड़त्व की अवस्था है। यह एक सत्ता प्रकाशात्मक चित्स्वरूप होने पर भी उसको चेतन नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्वयं के स्वरूप की स्वयं उपलब्धि नहीं कर सकती

जहाँ उपलब्धि नहीं वहाँ आनन्द का आस्वादन कहाँ ? इसी कारण महाचैतन्य में एक कला सुषुप्ति का अविर्भाव होने पर परिच्छिन्नतावशतः अविभक्त एक सत्ता दो सत्ताओं में परिणत होती है। अर्थात् एक सत्ता के बीच ही द्वितीय सत्ता का स्फुरण होता है। इसी अवस्था में आनन्द का आस्वादन संभव है।

उपनिषद् में है---'स एकाकी नारमत स आत्मानं द्विधाऽकरोत् अर्द्धेन पुरुषोऽभवदर्द्धेन नारी'—इत्यादि। इससे प्रतीत होता है कि एकाकी अर्थात् एक रहने की अवस्था में आनन्द की अनुभूति प्रकट नहीं रहती। आनन्द के आस्वादन के लिए मूल एक सत्ता स्वयं को विभक्त करके दो सत्ताओं के रूप में परिणत होती है। इन दो सत्ताओं में एक पुरुष = परमपुरुष और द्वितीय प्रकृति अर्थात् परमा प्रकृति हैं। इन पुरुष व प्रकृति के बीच आत्यन्तिक विच्छेद नहीं है। वस्तुतः पुरुष व प्रकृति एक ही स्वरूप के दो अंगमात्र हैं। किन्तु ये दोनों अंग परस्पर विरुद्ध हैं। किन्तु विरुद्ध होने पर भी एक दूसरे के लिए प्रतीक्षा किया करता है। नहीं तो कोई भी पूर्ण नहीं हो सकता। पुरुष अपनी पूर्णता के लिए ही प्रकृति से प्रार्थना करता है एवं प्रकृति अपनी पूर्णता के लिए पुरुष से। पुरुष से पृथक् या रहित प्रकृति अपूर्ण है एवं प्रकृति से विलग पुरुष भी अपूर्ण है। इसी कारण ये दोनों वस्तुतः दो नहीं, दोनों मिलकर एक हैं। एक अर्द्धाङ्ग है एवं दूसरा उसका अवशिष्ट अर्द्धाङ्ग है।

यह जो पुरुष का अपनी तृप्ति या पूर्णता के लिए प्रकृति की ओर ईक्षण अथवा प्रकृति की अपनी तृप्ति के लिए पुरुष की ओर

ईक्षण है उसी को काम कहते हैं। यही सृष्टि का मूल है। यह काम त्रिगुणातीत मायातीत अत्यन्त शुद्ध दिव्य प्रेम स्वरूप है।

शास्त्र कहते हैं कि प्राकृत जगत् में काम की शक्ति रति है। अप्राकृत भावजगत् में भी वास्तव में ऐसा ही है। क्योंकि यहाँ भी काम की शक्ति रति है। भेद केवल इसी अंश में है कि एक प्राकृत एवं त्रिगुणात्मक है, किन्तु दूसरा अप्राकृत एवं त्रिगुणातीत एवं विशुद्ध सत्त्वात्मक है। प्राकृतिक काम व अप्राकृत काम मूलतः एक होने पर भी कार्यतः विभिन्न हैं। प्राकृतिक काम का वर्जन न कर पाने पर अप्राकृत काम का कोई सन्धान नहीं पाया जाता। अप्राकृत काम स्वच्छ होने पर भी प्राकृत काम जैसी ही समस्त वृत्तियाँ उसमें प्रकाशित होती हैं। प्राकृत काम का विरोधी ज्ञान है। सुतरां ज्ञान का उदय होने पर अर्थात् ज्ञानरूप अग्नि के प्रदीप्त होने पर प्राकृत काम एवं उसका कार्य कुछ भी वर्तमान नहीं रहता। इसी कारण शिव के तृतीय नेत्र से उत्पन्न वह्नि के द्वारा प्राकृत काम दग्ध हुआ था। किन्तु अप्राकृत काम व ज्ञान इन दोनों में ऐसा सम्बन्ध नहीं लक्षित होता। क्योंकि ज्ञान की सविशेष घनीभूत अवस्था ही आनन्द है, उस का नामान्तर है अप्राकृत काम। ज्ञान निर्विशेष है। किन्तु अप्राकृत काम सविशेष है। ज्ञान में सामर्थ्य नहीं है कि अप्राकृत काम को दग्ध कर सके। अन्य प्रकार से कहें तो अप्राकृत काम का उदय होने पर ज्ञान निष्प्रभ हो जाता है। अप्राकृत काम ही भावराज्य की सारवस्तु है। यही भगवान् की आनन्दमयी नित्यलीला का मूल उपादान काम भस्म हो कर आनन्द अवस्था को प्राप्त होता

है। यह केवल पौराणिक बात नहीं है, अध्यात्म-जगत् का एक निगूढ़ सत्य है। भगवती ललिता की अपाङ्गदृष्टि से मन्मथ उज्जीवित हो कर पुनः आकार धारण करता है। यह आकार प्राकृतिक उपादान से रचित नहीं होता, इसलिए यह फिर ज्ञानाग्नि का दाह्य नहीं रहता। यह जो साकार काम है, यही अप्राकृत नवीन मदन है जिसकी बात तत्त्वज्ञ मर्मग्राही भक्तगण कहा करते हैं। श्रीकृष्णतत्त्व का यही स्वरूप है। सुतरां एक प्रकार से ललिता की अपाङ्गदृष्टि से क्योंकि अनङ्ग अप्राकृत देह प्राप्त करता है, इसमें कार्य व कारण की अभेद-विवक्षा में श्रीकृष्ण को भी ललितातत्त्व के साथ अभिन्न समझा जा सकता है। 'कदाचिद् आद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा' इत्यादि वाक्य से भी ललिता व कृष्ण का अभेद सिद्ध होता है। ललिता कामेश्वरी तत्त्व हैं। सुतरां यह कहना न होगा कि श्रीकृष्णतत्त्व के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण अप्राकृत काम एवं श्रीराधा अप्राकृत रति हैं।

कामतत्त्व के स्फुरण के साथ-साथ ही एक अद्वैत बिन्दु दो रूपों में परिणत हुआ एवं इस एक के साथ दो का आकृष्य-आकर्षक सम्बन्ध स्थापित हुआ। एकबार एक बिन्दु से दो बिन्दुओं का निर्गम होने लगा और फिर बिन्दु-द्वय सङ्कुचित हो कर एक में लीन होने लगे। यही बिन्दु-विसर्ग का खेल है। बिन्दु ज्ञान है, विसर्ग कर्म है। बिन्दु चित् है, विसर्ग आनन्द है। बिन्दु शिव या प्रकाश है, विसर्ग शक्ति या विमर्श है। बिन्दु-विसर्ग की क्रीड़ा ही काम-कला-विलास है। शास्त्र कहता है—

'अहं च ललितादेवी राधिका या च लीयते ।
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मकः ।।
सत्ययोपित्स्वरूपोऽहं योषिच्चाहं सनातनी ।
अहं च ललितादेवी पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।।

इस से जाना जाता है कि कामकला का जो विलास है वही श्रीराधाकृष्ण की शृङ्गारक्रीड़ा है । इस क्रीड़ा से ही प्रतिनियत बाष्पोद्गम (प्रश्वास) की भाँति आनन्द-रस निर्गत हो रहा है । एवं वह योग्य आधार को प्लावित कर के समग्र विश्व में विस्तीर्ण हो रहा है । यह जो कामकला है इस में तीन बिन्दु हैं । कारण-बिन्दु दो, कार्य-बिन्दु एक । वस्तुतः यह कार्य-बिन्दु ही कारण-बिन्दु-द्वय के संघर्ष-जनित आनन्द का उदय या प्रादुर्भाव है । वस्तुतः यही नन्द का नन्दन है ।

काम-कला का विलास वस्तुतः अग्नि, सोम एवं रवि इन तीन बिन्दुओं की क्रीडा है । अग्नि ऊर्ध्व शक्ति है, किन्तु सोम अधः शक्ति है । अग्नि-शिखा के उद्गत हो कर चन्द्र-बिन्दु पर आघात करने से यह बिन्दु द्रवीभूत होता है । चन्द्रबिन्दु अत्यन्त कठिन है । अग्नि के आघात के बिना उस में द्रुति नहीं आती । किन्तु जब वह गल जाता है तब उस से अमृत का क्षरण होता है व पृथ्वी या धरा निर्गत होती है । अग्नि व सोम की जो साम्यावस्था है; उसी का नाम काम अथवा रवि है । सुतरां कामरूपी सविता के एक ओर अग्निरूपी ताप है और दूसरी ओर चन्द्ररूपी सुशीतलता । चन्द्र षोडशी कला का नामान्तर है । इसे निष्कलङ्क शुद्ध चन्द्रबिन्दु समझना होगा । पञ्चदश कलायें प्रतिबिम्बरूप में अग्नि मण्डल के आकार में चक्कर काटती रहती हैं । षोडशीकल

रूप अमृत-बिन्दु पर अग्निशिखा के आघात करने से जो अमृत-धारा निकलती है कामरूपी रवि उसका सर्वप्रथम ऊर्ध्व रश्मि द्वारा आहरण करता है। बाद में वह निर्गत हो कर अग्निमण्डलस्थ पञ्चदशकलात्मक चन्द्र में सञ्चारित होती है। इन पञ्चदश कलाओं से अनित्य जगत् की सृष्टि होती है। नित्यधाम की सृष्टि षोडशीरूपा अमृत कला से होती है। अमृत कला क्षुब्ध हो कर आनन्दमय भावराज्य का गठन करती है। षोडशीकला कालचक्र के अधीन नहीं है, इसलिए स्वभावतः अग्नि या काल या मृत्यु के अधीन नहीं है। किन्तु पञ्चदश कला स्वरूपतः चन्द्रकला होने पर भी कालराज्य के अन्तर्गत है एवं अग्नि वा मृत्यु के अधीन है। अत-एव पञ्चदश कला से अनित्य राज्य में जो देह रचित होते हैं, मृत्यु ही उनका पर्यवसान है। क्योंकि यद्यपि इन सब देहों का भी उपादान सोलह कला हैं तथापि वे सोम की अमृत कला नहीं है। इसी कारण मृत्युरूप अग्नि द्वारा उनका पर्यवसान होता है।

अग्नि दो प्रकार का है, एक कालाग्नि, दूसरा ज्ञानाग्नि। प्राकृत देह दोनों ही प्रकार के अग्नि से दग्ध हो जाता है। अवश्य ही कालाग्नि द्वारा दग्ध होने पर उसका पुनरुत्थान होता है। इसी कारण संसार की निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि काल बीज का नाश नहीं कर पाता, इसी से इस अवशिष्ट बीज से अभिनव देह की उत्पत्ति होती है। किन्तु यह देह ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध होने पर निर्बीज होता है, क्योंकि ज्ञानरूपी अग्नि बीज को भी दग्धकर देता है। इसी कारण ज्ञान के फलस्वरूप विदेह अवस्था प्राप्त करने पर पुनः संसार में लौटना नहीं होता।

किन्तु जो देह सोम की अमृत-कला द्वारा रचित है, उसका कोई भी अग्नि स्पर्श नहीं कर सकता—कालाग्नि भी नहीं, ज्ञानाग्नि भी नहीं। यह देह भागवती तनु के नाम से प्रसिद्ध है। भगवान्, उनके पार्षद भक्तगण, नित्य-मण्डल—ये सब ही इस प्रकार के देह-युक्त हैं। जो भक्ति-साधना के फलस्वरूप भावराज्य मे प्रवेश करते हैं वे भी इसी प्रकार का देह प्राप्त करते हैं। इस देह मे अग्नि-स्पर्श न होने से वह नित्य निर्विकार है। वह मृत्यु के अतीत एवं जरा से रहित है।

पहले जिस अग्नि एवं सोम के मिलन-जनित अमृतस्रोत की बात कही गई है, वही श्रीराधा-कृष्ण के मिलन-जनित रस-प्रवाह का नामान्तर है। भावराज्य में प्रविष्ट भक्तगण इस रसमय देह को ही प्राप्त करते हैं, जो नित्य अमृतकलामय है। इस देह की सोमकला का कभी क्षय नहीं होता, (क्योंकि वह कालरूप अग्नि के अधिकार के बाहर है) यौवन के बाद की कोई अवस्था उसको स्पर्श नहीं करती। अभिनय के प्रयोजन के अनुरोध से किसी भी प्रकार के रूप का आविर्भाव हो सकता है, तथापि ये सब रूप आवरणमात्र हैं। मूल रूप जरा-विकार-रहित है। भाव-जगत् में विभिन्न प्रकार के भावों का सन्निवेश है, सुतरां भावानु-रूप देह भी विद्यमान है। किन्तु सभी भावों की परिसमाप्ति मधुर भाव में है। इस मधुर-भाव की लीला ही व्रजलीला है। वस्तुतः मधुर-भाव को केन्द्र में रखकर अन्यान्य समस्त भाव उसके चारों ओर स्थित होते हैं। साधक किसी भी भाव मे अवस्थित क्यों न हो, उसे चरम अवस्था में मधुर-भाव का आश्रय लेना ही होगा। क्योंकि प्रकृति हुए बिना प्रकृति की

लीला का आस्वादन नहीं किया जा सकता; यद्यपि भाव-मात्र ही स्वभाव होने के कारण प्रकृति के ही अन्तर्गत हैं, तथापि मधुर से अतिरिक्त अन्यान्य भावों में पुरुषकार के किञ्चित् आभास की गन्ध वर्तमान है। इसी कारण मधुर भाव ही वस्तुतः चरम भाव है। यह मधुर भाव प्राप्त कर लेने पर भगवान् की भाँति सिद्ध-भक्त की भी कैशोर-पर्यन्त आयु अभिव्यक्त होती है। स्थूल दृष्टि से आयु का निरूपण काल के अधीन होने से सर्वत्र प्रसिद्ध है। किन्तु नित्य-धाम में काल की क्रिया न होने के कारण वहाँ की आयु कालाधीन नहीं है। वह काल के विकास के अधीन है। बाल्य, पौगण्ड, कैशोर प्रभृति अवस्थायें कला के ही विभिन्न प्रकार के विकास की अवस्थायें हैं। कला का पूर्ण विकास होने पर षोडशी की अभिव्यक्ति होती है। यही ललिता हैं। यही राधा हैं। वस्तुतः यही कृष्ण-तत्त्व है।

युगल तत्त्व को उपलक्ष्य बनाकर कामकला का किञ्चित् विश्लेषण यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा। इस विश्लेषण में अग्नि, सोम व रवि इन तीन बिन्दुओं की ही स्वरूपगत व क्रियागत मीमांसा है। तीन बिन्दुओं में एक अग्निस्वरूप है, दूसरा सोमस्वरूप एवं तृतीय बिन्दु रविस्वरूप है—इसका नाम काम या संयुक्त बिन्दु है। इसके दो अंश अग्निरूप से एवं सोमरूप से प्रकाशित रहते हैं। कोई-कोई इन दोनों बिन्दुओं को चन्द्र व सूर्य के रूप में भी ग्रहण किया करते हैं। ये दोनों शुक्ल व रक्त बिन्दुओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस दृष्टि के अनुसार तृतीय बिन्दु अग्नि-स्थानीय है। इस प्रकार विभिन्न धाराओं में तत्त्व-विन्यास हो सकता है। हाँ, यह अवश्य स्मरण रखना होगा कि चन्द्र की सोलह कला हैं—ये कला

का वैशिष्ट्य षोडशी में भी विद्यमान रहता है। अर्थात् जो पंचमी है, जो दशमी है वह दशमी होकर भी षोडशी एवं षोडशी होकर भी दशमी है। यह भेद या पञ्चदश कलाओं का अनन्त वैचित्र्य षोडशी की अद्वैत सत्ता में विद्यमान रहता है।

देहमात्र ही चन्द्रकला से उद्भूत है। यह चन्द्रकला पञ्चदश-कला-रूप हो या षोडशी-कलारूप हो उससे कुछ आता-जाता नहीं। पञ्चदश-कला से जो स्वरूप प्रकट होता है, उसकी नित्यता आपेक्षिक है। क्योंकि यह देह मृत्यु पर जय नहीं पा सकता। चरमावस्था में मृत्युरूपी अग्नि जब समग्र रस का शोषण कर लेता है तब देहपात होता है। तैल के अभाव में जैसे दीप बुझ जाता है, ठीक उसी प्रकार सोमकला के अभाव में देहस्थिति खण्डित हो जाती है। यही मृत्यु की जय है। इस अवस्था की पूर्ण-परिणति महामृत्यु अथवा विदेह-कैवल्य है।

किन्तु स्मरण रखना होगा कि यह देह प्राकृत देह है। यह कितना ही शुद्ध हो इसका प्राकृतत्व नहीं छूटता। इस कारण महामृत्यु में इसका पर्यवसान हो जाता है। किन्तु जो देह षोडशी कला से उद्भूत होता है, वह बैन्दव देह है। यह देह स्वभाव के अनुसार कितनी भी कलाओं का प्रतीत क्यों न हो, वह वस्तुतः षोडशी है। अग्नि इस देह का जय नहीं कर सकता। अर्थात् इसका शोषण करके इसे रसहीन नहीं बना सकता। इस प्रसङ्ग में यह स्मरण रखना होगा कि प्रथम आविर्भाव के बाद यह विशुद्ध देह भी अग्नि द्वारा आक्रान्त हो जाता है। पुनः पुनः अग्नि के आक्रमण के फलस्वरूप एक ओर जैसे परिमित शोषण-कारिणी

अग्निशक्ति क्षीण हो जाती है, दूसरी ओर उसी प्रकार रसमय देह का क्रमविकास सिद्ध होता रहता है। इस क्रमविकास के फलस्वरूप कालाग्नि के क्षीण हो जाने के बाद अमृत कला ही शुद्ध विद्यमान रहती है। यही साकार सिद्धि अथवा भागवती तनु का पूर्णतालाभ है। इस अवस्था के बाद फिर क्रमविकास नहीं है, क्योंकि यह षोडशी कला का ही आत्मस्फुरण है, यद्यपि यह स्फुरण कहीं एक कला के रूप से, कहीं पाँच कला के रूप से, कहीं दस या बारह कलाओं के रूप से आत्मप्रकाश करता है। प्राकृत देह में सोमांश का क्षय होने पर ही अग्नि की पूर्णक्रिया उपलब्ध होती है, एवं उसके फलस्वरूप देह व देहबीज के विनष्ट होने पर निराकार स्थिति का उदय होता है। दूसरी ओर अप्राकृत देह में अग्नि के अंश का क्षय हो जाने पर अनन्त अमिश्र सोमकला ही विद्यमान रहती है। इस अवस्था में नित्य-सिद्ध साकार भाव का स्फुरण हुआ करता है।

कहना न होगा, समग्र भावराज्य इस प्रकार अनन्त नित्य आकार के द्वारा गठित है। ये सोमकलायें पूर्ण साकारपिण्ड हैं, अग्निजयी हैं, अतः महाप्रलय में भी ये विनष्ट नही होतीं।

काम कला-तत्त्व के प्रसङ्ग में अग्नि, सोम एवं रवि ये तीन बिन्दु एवं चित्कला या हार्द कला विशेषरूप से आलोच्य हैं।

रवि अथवा ऊर्ध्वबिन्दु अधःस्थित चन्द्र व अग्निरूप अर्थात् शुक्ल व रक्तरूप बिन्दुद्वय की नित्ययुक्त अवस्था है। कामिनीतत्त्व में ऊर्ध्व बिन्दु मुखरूप से एवं अधः-बिन्दुद्वय स्तनयुगलरूप से कल्पित होते हैं। कहना न होगा, ऊर्ध्वबिन्दु से ही समग्र मस्तक

की रचना होती है। उसी प्रकार अधःबिन्दु-द्वयमें कण्ठ से नाभि-पर्यन्त देह-अंश निर्मित होता है। जिसका हार्द्-कला या चित्कला कह कर उल्लेख किया गया, वह त्रिकोणात्मक योनि का प्रतिरूपक है। उससे नाभि का निम्नांश रचित हुआ करता है। इस प्रकार कामिनी तत्त्व अथवा कुण्डलिनी शक्ति साकार भाव से योगी के ध्यान-गोचर हुआ करती है। इस कामिनी तत्त्व के अभिनिवेश-वशतः साधक प्रकृति-भावापन्न होकर कामतत्त्व को आयत्त करने में समर्थ होता है।

'अ' एवं 'ह्' इन दोनों के समाहार से बिन्दु के सहयोग से अहंभाव का स्फुरण हुआ करता है। यह अहंभाव ही मूलीभूत कामतत्त्व है। यही अप्राकृत नवीन मदन है। 'अ' वर्णमाला का का आदि है और 'ह्' वर्णमाला के अन्त में है, दोनों के समाहार से समग्र वर्णमाला ही द्योतित हो रही है। 'अ' प्रकाशात्मक परम शिव है एवं 'ह्' विमर्शरूपा पराशक्ति है, दोनों का भाव अथवा नित्ययुक्त भाव सिद्ध हो रहा है। इसी को युगलमिलन कहते हैं। सुतरां जिसको अहंभाव कहा जाता है, वही नित्यसिद्ध श्रीराधा-कृष्ण का युगल स्वरूप है। स्मरण रखना होगा कि 'अ' जिस प्रकार शुद्ध चित् स्वरूप है, 'ह्' उसी प्रकार शुद्ध चित्कला वा हार्द् कला है। 'ह्' आधा है एवं यह आधा ही राधा है, जो 'अ' को आश्रय करके बिन्दु के साथ अभिन्न-रूप से या मिलितरूप से प्रकाशित हो रही हैं।

सुतरां 'अ' व 'ह्' अर्थात् बिन्दु व विसर्ग, यही सृष्टि की आदिम रसलीला का अन्तरङ्ग स्वरूप है। अव्यक्तावस्था से जब

अचिन्त्य रूप से कला का उन्मेष होता है, तब सर्वप्रथम चिद्भाव का स्फुरण होता है। अन्यान्य भाव उस के परवर्ती हैं। इस चित् भाव का द्योतक अनुत्तर या 'अ' है। इस के पश्चात् क्रमशः अर्थात् उत्तरोत्तर सब कलाओं की स्फूर्त्ति होते-होते बाद में अन्त-र्मुख प्रवाह उपस्थित होता है। इस के फलस्वरूप समस्त मातृका-वर्ग की अभिव्यक्ति के पश्चात् सम्प्रसारण का अवसान होने पर, सङ्कोचभाव के निष्पन्न होनेपर बिन्दु में स्थितिलाभ होता है। बिन्दु से विसर्ग एवं विसर्ग से पुनः बिन्दु। इसी का नाम 'अहं' है। यही काम-तत्त्व है। जिसे काम कहते हैं, उसी को प्रेम या आनन्द कहा जाता है। इस का रहस्य क्रमशः समझा जा सकेगा।

पशुभाव, वीरभाव व दिव्यभाव—आध्यात्मिक क्रमविकास में इन भावों का परिचय आगमशास्त्र में प्राप्त होता है। पशुभाव अतिक्रान्त न होने तक वीरभाव का उदय नहीं होता। वीरभाव का भेद न होने तक दिव्यभाव का आविर्भाव नहीं हो सकता। पशु कृत्रिम नियम के अधीन है, किन्तु जिस का पशुत्व दूर हो गया है उस के लिए किसी नियम का बन्धन आवश्यक नहीं होता। वह स्वभाव के प्रवाह में आत्मसमर्पण कर देता है। अभिमान-मूलक कोई भी कर्म उस के द्वारा अनुष्ठित नहीं होता। पशु अवस्था में शक्ति का विकास नहीं रहता, अर्थात् शक्ति निद्रित रहती है। वस्तुतः कुण्डलिनी शक्ति की निद्रितावस्था ही पशुत्व है। कुण्डलिनी शक्ति का पूर्ण जागरण दिव्यभाव या भावातीत है। इसी का दूसरा नाम महाचैतन्य या शिवत्व है। पशु को शिव होने के लिए वीर या मनुष्य भाव का ग्रहण करना ही होगा

इसी कारण जब तक वीरभाव का खेल पूरा न हो तब तक शिवत्व की अभिव्यक्ति बहुत दूर की बात है। शक्ति का विकास सिद्ध होने पर पशु फिर नहीं रह सकता, उसे दूसरा रूप ग्रहण करना ही होगा। शक्ति के जागरण से हुआ यह रूपान्तर ही मनुष्यभाव या वीरभाव है। पशुभाव में शक्ति का विकास नहीं होता, अतः वह जड़त्व का ही नामान्तर है। दिव्य या शिवभाव में शक्ति का विकास पूर्णतया सिद्ध होता है, इसी कारण यह अवस्था विशुद्ध रूप में वर्णित होती है। इस की मध्यवर्त्ती जो अवस्था है वह सुप्ति व जागरण की अन्तराल-दशा है। पशु अवस्था में चैतन्य-शक्ति का विकास न रहने से कर्म में अधिकार रहता है। यथाविधि कर्म करते-करते पशुत्व कट जाता है। यह वस्तुतः शक्ति के उन्मेष के फलस्वरूप होता है। वीरभाव में जाग्रत् शक्ति के साथ अन्तरङ्ग रूप से संघर्ष चलता रहता है। इस संघर्ष के फलस्वरूप क्रमशः वीरभाव दिव्यभाव में परिणत होता है। जाग्रत् चैतन्य-शक्ति के साथ-साथ चैतन्य के साथ अविनाभूत आनन्द-शक्ति भी जाग उठती है एवं क्रीड़ा करती रहती है। यह खेल मनुष्य के साथ उस के भाव की क्रीड़ा है—यही भावजगत् का वैशिष्ट्य है। यह स्वभाव की क्रीड़ा ही वीरभाव की उपासना है। इस उपासना में अग्रसर होने पर आभासमय द्वैतभाव व युगलभाव भी परम अद्वैत भाव में पर्यवसित होता है।

बिन्दु की ऊर्ध्व गति सिद्ध न होने पर्यन्त पशुभाव सम्पूर्ण प्रकार से अस्तमित नहीं होता। सुतरां समझना होगा कि एक-मात्र ऊर्ध्वरेता ही प्रकृत वीर है। वीरभाव में जाग्रत् शक्ति का सङ्गलाभ हुआ करता है अन्तिम अवस्था में यही युगल लीला मे

पर्यवसित होता है। किन्तु भावराज्य का संघर्षण जितना अधिक होता रहता है, उतना ही साधक का अन्तःसत्त्व अभिव्यक्त होकर किसी न किसी भाव के रंग में रंजित होता रहता है। वीरभाव का क्रमविकास होते-होते युगलभाव के कट जाने पर एक अद्वैत सत्ता ही रह जाती है। जब तक यह अद्वैत सत्ता पूर्णपुरुष के रूप में परिणत नहीं होती तब तक यह असम्पूर्ण है, एवं अपूर्ण होने से यह नियति के अधीन रहती है। यह अवस्था अद्वैत होने होने पर भी इसमें स्वातन्त्र्य का विकास नहीं रहता। किन्तु स्वातन्त्र्य का विकास न होने पर्यन्त इसे पूर्णत्व एवं महाचैतन्य नहीं कहा जा सकता। प्रथम अवस्था दिव्यभाव है, द्वितीय भावातीत है।

सुतरां यह कहना न होगा कि भावराज्य की एवं महाभाव की लीला मायिक जगत् की पाशविक लीला नहीं है। क्योंकि पशुत्व निवृत्त न होने तक अर्थात् चित्शक्ति का विकास न होने पर्यन्त स्वभाव के राज्य में प्रवेश-लाभ नहीं होता। भावराज्य की लीला चित्शक्ति की जाग्रत् अवस्था में होती है, चित्शक्ति की अनुन्मेष अवस्था में नहीं, एवं लीलातीत पूर्ण चैतन्य अवस्था मे भी नहीं। विसर्गशक्ति विभिन्न है, अतः इस लीला में चैतन्य निहित रहता है। किन्तु विसर्गशक्ति के कितने भी भेद हों, वे चरम अवस्था में बिन्दु में लीन हो जाते हैं। तब लीला का उपसंहार होता है। इस लीला के उपसंहार के साथ-साथ ही लीलातीत आत्मचैतन्य स्वयं को प्रकट करता है। यह चैतन्य प्रकाश के द्वारा ही 'अहं' रूप होता है।

लीला का चरम उत्कर्ष शृंगार-लीला में है, उसका पूर्ण-विकास रासलीला में होता है। रासलीला में एक बहिरंग व एक अन्तरङ्ग भाग है। जो रासलीला का बहिरंग है, उसमें प्रत्येक प्रकृति के साथ इस प्रकृति के भोक्ता व अधिष्ठाता रूपी पुरुष का युगल-मिलन हुआ करता है। किन्तु रासलीला का जो आभ्यन्तरीण भाग है, उसमें अनन्त प्रकृतियों में से प्रत्येक एक-परमा प्रकृति के रूप में स्फुट होती है एवं प्रकृति से जागरण के साथ ही साथ परम पुरुष भी तदनुरूप भाव से उससे मिलित होते हैं। वीर की अनादिकाल की तृष्णा इसी एक महामिलन में परम तृप्ति पाती है। युग-युगान्तर में एवं अनन्त रूपों में से होकर जो मिलनाकाङ्क्षा वीर के हृदय में ज्ञात या अज्ञात रूप से सञ्चित हो रही थी, रास-मिलन में उसकी पूर्ण निवृत्ति सिद्ध होती है। इस महामिलन के द्वारा ही अद्वैत ब्रह्म में प्रवेश होता है।

प्राकृत जीव पशुत्व का परिहार करके भावराज्य में प्रविष्ट होकर एवं भाव का विकास करते-करते प्रेम एवं प्रेम की विभिन्न विलास-मयी अवस्था को प्राप्त होकर सिद्धि के पहले क्षण में भगवान् के साथ मिलन में आहूत होता है। कहना न होगा, माधुर्य में प्रवेश न होने तक यह सम्भव नहीं होता। यह बहिरंग लीला तभी अन्तरंग निकुञ्जलीला का आकार धारण करती है, जब खण्ड-प्रकृति महाप्रकृतिरूपिणी होकर परम पुरुष के साथ मिलित होने को उद्यत होती है।

इस महामिलन के अनेक रहस्य हैं। क्योंकि एक ओर जैसे प्रकृति आत्मसमर्पण करते-करते क्रमशः क्षीण होती रहती है एवं

पुरुष को पुष्ट करती है, दूसरी ओर ठीक उसी प्रकार पुरुष आत्मसमर्पण के फलस्वरूप क्रमशः अव्यक्त होकर प्रकृति को पुष्ट किया करता है।

एक अवस्था में प्रकृति क्रमशः पुरुषरूप में परिणत होती है एवं अन्त में एकमात्र पुरुष ही वर्तमान रहता है। यह पुरुष-रूप मे साकार अद्वैत स्थिति है। दूसरी ओर पुरुष क्रमशः प्रकृति-रूप मे परिणत होकर अन्त में एकमात्र प्रकृति की स्थापना करता है। तब प्रकृति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। यह प्रकृति-रूप मे साकार अद्वैत स्थिति है। इस प्रकार का अद्वैतभाव युगपत् अथवा क्रमशः सम्पन्न हो सकता है। इसके सिद्ध हो जाने पर पुरुष व प्रकृति का महासामरस्य संघटित होता है। वही यथार्थ अद्वैतावस्था है। युगल अवस्था से अद्वैत आत्मस्वरूप में स्थिति होने पर्यन्त आत्मरमण की विभिन्न प्रकार की अवस्थायें वर्तमान है। ये सब ही निकुञ्ज-लीला के अन्तर्गत हैं। इनके बीच भी समरत, विषमरत प्रभृति विभिन्न प्रकार की अवस्थाएँ हैं, एवं तदनुसार रसाभिव्यक्ति में सूक्ष्म क्रमभेद भी है। यहाँ वह आलोच्य नहीं है।

प्राकृत काम के विगलित न होने तक रासलीला में योगदान नहीं किया जाता। रासलीला तो दूर की बात है, भावजगत् की किसी लीला में ही प्रवेश नहीं पाया जाता, यहाँ तक कि वास्तविक रूप से भाव-जगत् में भी प्रवेश नहीं किया जा सकता क्योंकि प्राकृत काम पाशविक अवस्था है एवं स्वभाव का खेल पशुत्व के अतीत है। शक्ति अर्थात् चित्शक्ति के उन्मेष प्राप्त न

होने तक काम का प्रभाव विद्यमान रहता है। ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत किसी स्थान पर चित्शक्ति का उन्मेष नहीं है—जो है वह मायाशक्ति का विकास है। मायाशक्ति के राज्य में काम का सर्वथा परिहार नहीं किया जा सकता। इस कारण ऊर्ध्वतम लोक एवं सम्प्रज्ञात समाधि की ऊर्ध्वतम अवस्था में बीज रूप से काम सत्ता विद्यमान रहती है। किन्तु अप्राकृत जगत् का विकास भावमय है। अप्राकृत जगत् में काम, कर्म, अविद्या व अहङ्कार सब ही विलुप्त हैं। वहाँ एकमात्र स्वभाव ही क्रीड़ा किया करता है। यदि श्रीराधा को चित्शक्ति का प्रतीक कहें तो राधा के संग के कारण श्रीकृष्ण में प्राकृत काम नहीं आ सकता, यह स्पष्ट ही समझा जा सकता है। इसी कारण श्रीराधा-युक्त कृष्ण ही मदन-मोहन कहलाते हैं। राधा-रहित कृष्ण विश्वविमोहन होते हुए भी प्राकृत काम के अधीन हैं। इससे समझा जा सकेगा कि राधा-वर्जित कृष्ण भावराज्य की वस्तु नहीं हैं। वे प्राकृतिक देवविशेष हैं। राधा या महाभाव के क्रमशः कृष्ण में आत्मविसर्जन करने पर अन्त में जो अकेला कृष्णभाव अवशिष्ट रहता है वह राधा-रहित अवस्था नहीं है। क्योंकि राधा उस समय श्रीकृष्ण के स्वरूप के ही अन्तर्गत है। वस्तुतः ये कृष्ण ही अप्राकृत काम-स्वरूप हैं। इनका बीज ही कामबीज है।

(७)

भावराज्य व लीलारहस्य (ख)

नित्यलीला में देशकाल एवं कार्य-कारण-भाव लोकोत्तर रूप से गृहीत हुआ करता है। वस्तुतः यह देश हमारे परिचित देश से विलक्षण है। इस अवस्था में काल भी स्तम्भित हो जाता है। तब जिस काल का अनुभव होता है वह भगवान् की नित्य-क्रीड़ा में सहचर है, प्राकृतिक जगत् में परिणाम लानेवाला काल नहीं है। कार्यकारणभाव के विषय में भी यही एक बात है।

दर्पण में कोई वस्तु प्रतिबिम्बित होने पर जैसे ठीक उसी वस्तु का प्रतिरूपक देखने में आता है अथच दर्पण इन वस्तुओं के द्वारा बिन्दु-मात्र भी विचलित नहीं होता, ठीक उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य के निर्लिप्त होने के कारण उसमें जागतिक सत्ता का ठीक ठीक प्रतिबिम्ब पड़ता है। किन्तु इन सब प्रतिबिम्बों के द्वारा चैतन्य की शुद्धता रञ्चमात्र भी न्यून नहीं होती। आकाश जैसे अचल होते हुए भी निखिल वस्तुओं में अनुप्रविष्ट है—केवल यही नहीं, प्रत्येक वस्तु के साथ तादात्म्य-सम्पन्न है—शुद्ध चैतन्य भी ठीक ऐसा ही है। शुद्ध चैतन्य एक होने पर भी उसमें अनन्त भावों की स्वरूपयोग्यता वर्तमान है। वस्तुतः क्रियाशक्ति के उन्मेष के समय देखा जाता है कि एक अखण्ड शुद्ध चैतन्य ही विभिन्न आकारों व विभिन्न वर्णों से अनुरञ्जित होकर शोभायमान है। तादात्म्य-सम्बन्ध के कारण जब व जहाँ जिस किसी भी रूप

का आविर्भाव क्यों न हो, वह वस्तुतः शुद्ध चैतन्यसत्ता में नित्यो-दित भाव से वर्तमान है। जो पूर्णस्थिति से वञ्चित होकर इतस्ततः सञ्चरण कर रहा है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य की महिमा का आख्यान विसदृश प्रतीत होता है। किन्तु चिद् दृष्टि का अवलम्बन करने पर समझ में आता है कि एक अनवच्छिन्न शुद्ध चैतन्य ही अनन्त आकारों में स्फुरित हो रहा है। ये सब आकार—जिन्हें जीव को नित्यलीला के राज्य में जाकर वास्तविक वेशभूषा की भाँति ग्रहण करना होता है—रसके उद्बोध में सहायता देते हैं। अभिनय की आवश्यकता रस की अभिव्यक्ति के लिए ही है। किन्तु अभिनय करने के लिए अभिनेता की भूमिका ग्रहण करनी होती है। ये भूमिकायें अनादिकाल से ही नित्यसिद्ध रूप से वर्त-मान हैं। सुतरां भूमिका के बिना रसोद्बोध नहीं हो सकता।

कार्यकारणभाव कल्पित होने पर भी उसमें एक सत्य है, जो अकल्पित महासत्य के ही अन्तर्गत है। नित्यलीला का निके-तन चन्द्र व सूर्य के आलोक से आलोकित नहीं होता। उसमे दिन-रात्रि का कोई भेद नहीं है। वह स्वयंप्रकाश चैतन्यस्वरूप ज्योतिर्मय राज्य है।

नित्यलीला के अन्तर्गत वैचित्र्य मायिक भेद नहीं है। माया अथवा जड़-शक्ति के प्रभाव से जो भेद व भेदज्ञान उत्पन्न होता है वह सच ही भेद है, किन्तु मायातीत स्वरूप-चैतन्य में भेद भी नहीं रहता एवं भेदज्ञान भी नहीं रहता। यह अद्वैतावस्था है। किन्तु जब इस शुद्ध चैतन्य में चित् शक्ति के प्रभाव से रसास्वादन के अनुरूप अनन्त लीलामय वैचित्र्य आविर्भूत

होता है तब वर्णन में यह सब वैचित्र्य भेदरूप से प्रतिपादित होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से भेद में नहीं गिना जा सकता, क्योंकि मायातीत अवस्था में जड़त्व न रहने से वास्तव में भेद भी नहीं रहता। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि जहाँ भेद नहीं है, वहाँ वैचित्र्य कैसे सिद्ध होगा ? वैचित्र्य भेद की भाँति प्रतीय-मान होने पर भी भेदात्मक नहीं है। भगवत्-स्वरूप में जो अचिन्त्यशक्ति नित्यसिद्ध रूप से स्वीकृत है एवं जो उनके स्वरूप से अभिन्न है, उसी के प्रभाव से वैचित्र्य का उदय होता है। इस अचिन्त्यशक्ति को कोई-कोई 'विशेष' नाम देते हैं। इस शक्ति का ऐसा ही माहात्म्य है कि वस्तु अपने स्वरूप में अक्षुण्ण रहती हुई भी इस शक्ति के प्रभाव से क्षुण्णवत् प्रतीत होती है, एवं एक रहती हुई भी अनेक के समान प्रतीति-गोचर होती है। स्वरूपगत एकत्व के आवृत हुए बिना जिस वैचित्र्य का उद्भव होता है उसे भेद नहीं कहा जा सकता। इस वैचित्र्य का निर्देश करने के लिए वैष्णवों ने 'विशेष' नाम से एक पारिभाषिक संज्ञा बनाई है।

'भेदाभावेऽपि भेदकार्यनिर्वाहको विशेषः।"

वस्तुतः यह भगवान् की अचिन्त्य शक्ति का ही नामान्तर है। भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने एक स्तोत्र में लिखा है— 'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।' इसका तात्पर्य यही है कि जीवात्मा व परमात्मा का पारस्परिक भेद दूर हो जाने पर भी दोनों के बीच वैशिष्ट्य विद्यमान रहता है जिसके प्रभाव से परमात्मा को लक्ष्य करके आत्मा 'मैं तुम्हार

हूँ' यह बात कह सकता है, किन्तु 'तुम मेरे हो' यह बात नहीं कह सकता। भेदापगम के बाद भी यह विलक्षणता वस्तुतः माया अथवा अविद्या के कारण से नहीं है, किन्तु अन्य किसी अचिन्त्य कारण से है। इससे यह प्रकट होता है कि भेदातीत अवस्था में भी वैचित्र्य रह सकता है। वस्तुतः एक अखण्ड अद्वैत सत्ता के बीच वैचित्र्य है। यह सर्वादिसिद्ध है। यह वैचित्र्य सजातीय, विजातीय अथवा स्वगत भेद के अन्तर्गत नहीं—यह कहना न होगा।

अनुत्तर प्रकाशमय परमेश्वर की स्वरूपभूता एक परमा शक्ति है; इसी का नाम स्वातन्त्र्य है। यह स्वरूप से अभिन्न अथच क्रिया-निर्वाहक होने से शक्ति-पद-वाच्य है। यह वस्तुतः इच्छा नहीं है, तब भी लौकिक भाषा में समझने के लिए इसे 'इच्छा' के सिवाय अन्य किसी नाम से कहा भी नहीं जा सकता। इस अनुत्तर प्रकाश का नाम बिन्दु है, एवं यह स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा अव्यक्तावस्था में विषयहीन एवं आश्रयभूत स्वरूप के साथ अभिन्न होने पर भी अभिव्यक्तावस्था में सविषयक प्रतीत होती है। इस इच्छा का जो विषय है वही विसर्ग है। इस इच्छा की दो अवस्थायें हैं;—एक विसर्गहीन शुद्ध बिन्दु अवस्था है—यही इच्छा की अव्यक्तावस्था है। दूसरी विसर्गो-न्मुख अथवा विसर्गात्मक अवस्था है।

विसर्गहीन इच्छा—प्रसुप्त भुजगाकार शक्ति कुण्डलिनी के नाम से वर्णित होती है। यह इच्छा ही पराशक्ति है। किसी-किसी स्थान पर इसे सप्तदशी कला भी कहा जाता है। यह

सप्तदशी कला नित्योदित एवं स्वयंप्रकाश है। षोडश कलायें निरन्तर इसी के द्वारा आप्यायित हो रही हैं, क्योंकि सूर्यरश्मि के द्वारा निरन्तर पञ्चदश कलाएं शोषित होने के कारण क्षयप्राप्त होती हैं, इसीलिए षोडशी कला निरन्तर अमृतवर्षण के द्वारा इस क्षय का आपूरण किया करती है। सप्तदशी अनन्त के भाण्डार से सर्वदा ही षोडशी को पूर्ण बनाये रखती है। इस कारण एक प्रकार से षोडशी व सप्तदशी दोनों ही अमा कला हैं, इसमें सन्देह नहीं है। इच्छाशक्ति अव्यक्तावस्था से व्यक्त अवस्था में अवतीर्ण होते ही विसर्ग-पदवाच्य हो जाती है। अर्थात् इच्छा की क्षुब्ध अवस्था ही विसर्ग है अथवा विसर्ग का क्षोभ दूर हटने पर उसीका नाम बिन्दु है। पर व अपर भेद से विसर्ग दो प्रकार का है। पर विसर्ग आनन्दात्मक है एवं अपर विसर्ग क्रियात्मक है। पहला वाला अनुत्तर की परावस्था अर्थात् 'अ' कार है एवं दूसरा वाला स्थूलता की पराकाष्ठा अर्थात् 'ह' कार है। आचार्य-गण जिसका 'विसर्जनीय' कह कर निर्देश करते हैं, उसका स्वरूप इसी कारण दो बिन्दुओं द्वारा गठित होता है। ये दो बिन्दु परविसर्ग एवं अपरविसर्ग इन दोनों के द्योतक हैं। महाबिन्दु की स्वरूपभूता स्वातन्त्र्यशक्ति बहिरुन्मुख अवस्था में इन दोनों बिन्दुओं को प्रकाशित करके प्रसृत होती है। इसी क्रम से विभिन्न प्रकार के रूप अवभासित होते हैं। वस्तुतः ये सब विचित्र रूप आभासमय हैं एवं ये सब आभास विसर्ग के कार्य नहीं हैं; किन्तु विसर्ग का ही आत्म-प्रकाश हैं। अर्थात् नित्यलीला-मण्डल विसर्ग-मण्डल का ही

नामान्तर है। इसमें जो कुछ आविर्भूत व तिरोहित हुआ करता है, वह सब ही साक्षात् रूप से विसर्ग का ही स्वरूप है—विसर्ग का कार्य नहीं। क्योंकि जहाँ भेद नहीं है वहाँ कार्य-कारण-भाव नहीं रह सकता। आद्यालीन विसर्ग-मण्डल में वैचित्र्य रहने पर भी वास्तव भेद न होने से कार्यकारणभाव का अस्तित्व ही नहीं है। अर्थात् एक अखण्ड अद्वैत सत्ता के बीच ही अनन्त वैचित्र्य का उल्लास - यही विसर्ग का खेल है। यही श्रीभगवान् की ह्लादिनी शक्ति का लीलातरङ्ग है। यही महाभाव की क्रीड़ा या निकुञ्जलीला है एवं महाभाव से निःसृत लीलामय भावराज्य का आत्मप्रकाश है।

स्वातन्त्र्यशक्ति के प्रभाव से एक ही सत्ता प्रमाता एवं प्रमेय तथा इन दोनों के अन्तराल में स्थित प्रमाण—इन तीन भागों में विभक्त होती है। इन्हीं का नामान्तर है चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि। प्रमाता वेदक है, प्रमेय वेद्य, दोनों के बीच का सम्बन्ध है वेद्य-वेदकसम्बन्ध। प्रमाता मूलतः एक होने पर भी वेद्यांश के अवस्थागत तारतम्य के अनुसार पृथक्-पृथक् कल्पित होते हैं।

जब वेद्य क्षुब्ध होता है उस समय की अवस्था से जब वेद्य क्षुब्ध नहीं होता तब की अवस्था को पृथक् कहना ही होगा। वेद्य के क्षुब्ध होने पर प्रमाण-व्यापार में प्रमाता की स्वात्मविश्रान्ति कम होती है। उसकी तुलना में वेद्य-विश्रान्ति अधिक होती है। दूसरी ओर वेद्य के अक्षुब्ध रहने पर प्रमाता की स्वात्मविश्रान्ति अधिक होती है एवं वेद्यविश्रान्ति

कम होती है। जिस अवस्था में स्वात्मविश्रान्ति होती है, उसे योगिगण रात्रि कहते हैं एवं जिस अवस्था में वेद्यविश्रान्ति होती है, उसे वे दिन कहते हैं। दिन का दूसरा नाम जाग्रत् और रात्रि का दूसरा नाम सुषुप्ति है। इन दोनों अवस्थाओं की मध्यवर्त्ती एक अवस्था है, उसका नाम स्वप्न है। इस अवस्था में प्रमाता की विमर्शप्रधान दशा अभिव्यक्त रहती है। यह आनन्दास्वादन की अवस्था है। जिस को जाग्रत् अवस्था कहा गया है वह चैतन्यावस्था है एवं सुषुप्ति अवस्था शुद्ध स्वरूपनिष्ठा का नामान्तर है। यह सत्ता में स्थिति की अवस्था है। इससे प्रतीत होगा कि सत्ता, चैतन्य व आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द—यही अहोरात्र में निरन्तर शक्तिरूप से आवर्तित हो रहा है। दिन व रात्रि का क्षय कर पाने से तुरीयावस्था का सन्धान पाया जा सकता है। क्योंकि तुरीयावस्था में दिन व रात्रि का भेद नहीं रहता। अहोरात्र में जो नित्यलीला चल रही है वह अनन्त प्रकार के वैशिष्ट्य से युक्त होने पर भी एक प्रकार से जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति के अन्तर्गत है। वैष्णवों की अष्टकालीन लीला इस अहोरात्र-विज्ञान के ही अन्तर्गत है। यह लीला काल को आश्रय कर के होती है। यही भावराज्य की लीला है। किन्तु जो तुरीय लीला है वह काल के अन्तर्गत नहीं है। सुतरां वह अष्टकालीन लीला नहीं है। वह क्षण की लीला—महाभाव की लीला है।

इस लीला में कभी दिन बड़ा होता है रात्रि छोटी होती है. कभी रात्रि लम्बी होती है दिन छोटा होता है, एवं कभी

दिन व रात्रि दोनों समान होते हैं। विमर्श के प्रसार के समय जब ग्राह्यभाव प्रबल होता है तब दिन बड़ा होता है, यही ग्रीष्मकाल है। जब ग्राहकभाव प्रबल होता है तब रात्रि बड़ी होती है, यही शीतकाल है। दिन व रात्रि समान होने पर विषुवत् भाव का उदय होता है। यह अवस्था ही तुरीय अवस्था में जाने की सहायिका है।

नित्य नव-नव उन्मेष न होने से लीला सिद्ध नहीं होती। यह जो प्रतिक्षण में नव उन्मेष है यह शक्ति की जाग्रत् अवस्था के बिना सम्भव नहीं। जैसे जीव, शक्ति व शिव—ये तीन मूल तत्त्व हैं, वैसे ही व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त एवं अव्यक्त ये तीन लिङ्ग हैं। अव्यक्त लिङ्ग के पश्चात् आनन्दमय लिङ्ग है—वहाँ से नित्य नव-नव उन्मेष उठा करते हैं, जो नित्यलीला के प्राण हैं। व्यक्त लिङ्ग में जीव अथवा नरभाव प्रधान है, इस अवस्था में दृश्य रूप में विश्व का दर्शन हुआ करता है। इस दृश्यरूपी विश्व का अपलाप कर पाने पर व्यक्त लिङ्ग में ही अव्यक्त लिङ्ग का आभास फूट उठता है। यह अवस्था व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग नाम से परिचित है। वह विशुद्ध शक्ति की स्फुरणात्मक अवस्था है। व्यक्ताव्यक्त लिंग इसी कारण शक्तिभावप्रधान है। इस लिंग से जब शक्ति का अपलाप होता तब फिर व्यक्तभाव नहीं रहता। केवल अव्यक्त लिंग ही वर्तमान रहता है। अव्यक्त लिंग शिव-भावमय है। किन्तु यहाँ से भी नित्यलीला का स्फुरण नहीं होता। जब अव्यक्त लिंग से शिवभाव का भी अपलाप हो जाता है, तब अव्यक्त लिंग भी नहीं रहता। इस अवस्था में व्यक्त, व्यक्ता-

व्यक्त एवं अव्यक्त—कोई भी लिंग नहीं रहता। इस अवस्था में नरभाव, शक्तिभाव एवं शिवभाव सब ही अस्तमित हो जाते हैं। किन्तु लिंगत्रय का तिरोधान होने पर भी अव्यक्त लिंग की उत्तरकालीन अवस्था अलिंग अवस्था नहीं है। वह आनन्दमय लिंग की अवस्था है। इस आनन्दमय लिंग से ही अनन्त प्रकार के नव-नव उन्मेष वाली नित्य लीला का आविर्भाव हुआ करता है। यह अवस्था स्पन्द की अवस्था है। यही अप्राकृत कामतत्त्व का खेल है।

वस्तुतः विसर्ग जब प्रसृत होता है तब दोनों प्रान्त-भूमियों को स्पर्श करता हुआ आन्दोलित होता रहता है। घड़ी का पेण्डुलम जैसे आन्दोलित होने के समय एक प्रान्त से अपर प्रान्त तक निरन्तर चलता रहता है, विसर्ग की भी वैसी ही अवस्था होती है। जिन दो प्रान्तों का आश्रय लेकर यह आन्दोलन-व्यापार निष्पन्न होता है उनमें से एक परा या शक्ति कुण्डलिनी है एवं दूसरा प्राण-कुण्डलिनी है। इन दोनों प्रान्त-बिन्दुओं के मध्यक्षेत्र में आन्दोलन चलता रहता है। परा कुण्डलिनी अथवा शक्तिकुण्डलिनी वस्तुतः चैतन्य के ही नामान्तर हैं। इसको चित्शक्ति कहने से भी अत्युक्ति नहीं है। प्राणकुण्डलिनी शुद्ध संवित्-तत्त्व के प्रथम परिणाम की पराकाष्ठा है। विसर्ग प्राण-कुण्डलिनी का भेद नहीं कर सकता।

अभाव का जगत् या मायिक जगत्, भाव का जगत्, एवं सर्वोपरि स्वरूप का जगत् ये तीन एक के बाद एक सुश्रृङ्खल रूप से विन्यस्त हैं। द्रष्टा आत्मा अनादि अविवेकवशतः चित्त के

साथ अभिन्न रूप से प्रतीत हो रहा है। इस प्रकार तादात्म्य-सम्पन्न आत्मा चित्त के साथ अभिन्न रूप से ज्ञाता बनकर ज्ञेय रूप जगत् का अन्वेषण कर रहा है। जब तक द्रष्टा आत्मा चित्त द्वारा आवृत है, तब तक यह मायिक जगत् बाह्यरूप से प्रतीत होने को बाध्य है। किन्तु जब आत्मा द्रष्टा-रूप से चित्त से विविक्त होकर साक्षात्कार-लाभ करता है, तब बाह्य जगत् या बहिरङ्ग शक्तिस्वरूप माया-जगत् लीन हो जाता है। एक-मात्र भावजगत् ही प्रकाशित रहता है। यह भाव अप्राकृत सत्त्व की तरङ्ग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। एक ही जलराशि जैसे हल्की वायु से उत्पन्न हिल्लोलों से विभिन्न प्रकार के तरङ्गादि परिणामों के रूप में आत्मप्रकाश करती है एवं उस अवस्था में इन सब विभिन्न परिणामों का मूलतत्त्व जल रूप में प्रतीत हुआ करता है, ठीक उसी प्रकार एक ही अप्राकृत सत्त्वरूपी भावसमष्टि विक्षुब्ध होकर अनन्त भाव-रूप में परिणत होती है। यही भावराज्य की विकास-प्रणाली है। इसके पश्चात् द्रष्टा पुरुष जब महाचैतन्य के निकट अपने स्वरूप का विसर्जन करता है अर्थात् द्रष्टा फिर द्रष्टा रूप से स्थित नहीं होता, तब भावराज्य या महाभाव राज्य तिरोहित हो जाता है। यही शून्यावस्था है। प्रथम में ज्ञान के विषय ज्ञेयजगत् की सत्ता स्थूल दृष्टि से प्रतीत होती है उसके पश्चात् ज्ञान निर्विषयक व साकार होने पर ज्ञेय सत्ता उसमें अस्तमित हो जाती है। यही विज्ञानात्मक जगत् की अवस्था अथवा शुद्ध विकल्प की अवस्था है। इस अवस्था में बाह्य जगत् के नाम से किसी वस्तु की सत्ता

नहीं रहती। यह अनन्त जगत् तब अपने चित्त के ही विलास-रूप से प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में द्रष्टा-द्रष्टा-रूप से अपनी सत्ता का ही दर्शन किया करता है, किन्तु अन्य आकारों में। इस दर्शन में बाह्य पदार्थ की अनुभूति नहीं रहती, समस्त जगत् अपने ही बीच में वर्तमान है ऐसा प्रतीत होता है, तब विश्व, भगवान् शङ्कराचार्य की भाषा में—दर्पण में दृश्यमान नगरी के समान अपने स्वरूप में या अपने आत्मामें प्रतीत होता है। यहाँ तक कि अतीत, अनागत व वर्त्तमान ये त्रिविध काल भी अपने मध्य ही प्रकाश पाते हैं। अपने बाहर द्वितीय किसी वस्तु का अवसर नहीं रहता। इसके पश्चात् द्रष्टा फिर मनोमय दृश्य का द्रष्टा न रह कर परमपद में आत्मसमर्पण कर देता है। साथ ही विज्ञानमय जगत् भी अन्तर्हित हो जाता है। उसके स्थान पर एकमात्र शून्य ही रहता है। तब द्रष्टा न रहने से दृश्य भी नहीं रहता। यही महाचैतन्य को अवस्था है।

सुतरां बाह्य सत्ता से महाचैतन्य में उठने का क्रम यही है—(क) बाह्य जगत् का अनुभव। इस समय बाह्य जगत् सत्यरूप ही प्रतीत होता है। इस अनुभव में भेद-भाव का प्राधान्य रहता है। यही संसार अवस्था है। साधारण जीव-मात्र ही इस अवस्था में वर्त्तमान है। (ख) इस अवस्था में बाह्य जगत् का अनुभव नहीं रहता। दृश्यमान समग्र जगत् का ही अनुभव होता है अवश्य, किन्तु वह मेरे बाहर है—ऐसी प्रतीति नहीं होती। वह चित्त का विजृम्भण है—चित्त से अतिरिक्त कोई

पदार्थ नहीं है। सुतरां समस्त जगत् ही इस अवस्था में अपने देह के एक देश में अनुभूत होता है। जो इस अवस्था को प्राप्त होते हैं वे महापुरुष पद-वाच्य हैं। जिनके अपने देह के एकदेश में समग्र विश्वरूप भासित हो उठता है, यह विश्व उसके लिये भौतिक नहीं है। यह विज्ञानात्मक या शुद्ध विकल्पमय है। (ग) इसके बाद चित्त का उपशम होता है। तब फिर जगत् का भान नहीं होता। ज्ञेयरूप जगत् पहले ही निवृत्त हो चुका था, ज्ञानरूप जगत् अब निवृत्त हो गया। इस चित्तनिवृत्ति के साथ ही द्रष्टा फिर द्रष्टा नही रहता। क्योंकि दृश्य के अभाव में द्रष्टृत्व सम्भव नही है। इस अवस्था में विशुद्ध विकल्प भी नहीं रहता। यह निर्विकल्प अवस्था है—जिसका पहले महा-चैतन्य नाम से उल्लेख किया गया है। यह शून्यावस्था है। इस अवस्था में प्रपञ्च का पूर्ण उपशम हो जाता है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से समझा जा सकेगा कि महाभाव एवं भावराज्य की लीला द्वितीय अवस्था के अनुरूप अवस्था-विशेष है। वह संसार अवस्था के अतीत है, अथच यथार्थ निर्विकल्प अवस्था के पूर्ववर्त्ती है। पहले ही कहा गया है कि निर्विकल्पक अवस्था में जाने के लिए शुद्ध विकल्प-राज्य का भेद करना आवश्यक होता है। नित्यलीला स्वभाव की लीला है इसमें सन्देह नहीं, यह भाव का खेल है, आनन्द का अभिनय है। किन्तु वस्तुतः प्रकृत अभाव का विराट् क्रन्दन है। जब तक जीव संसारावस्था में बद्ध रह कर त्रिताप की ज्वाला में जलता रहता है तब तक इस महान् अभाव का अनुभव नहीं कर पाता।

संसार का अतिक्रमण करके मुक्त न होने तक यह अभाव या विरह धारणा में ही नहीं आता। सुतरां जो आनन्द की लीला है, वही अन्य प्रकार से देखें तो महाविरह की अनुभूति मात्र है। इस विरह का अवसान अस्थायिरूप से पुनः पुनः होने पर भी स्थायी रूप से तभी हो सकता है जब चैतन्य-कला के विकास के साथ-साथ यह विरह क्रमशः महामिलन की अद्वैत सत्ता की ओर अग्रसर होता रहे। अतएव यह नित्यलीला नित्यलीला होने पर भी वास्तव में नित्यलीला-पदवाच्य नहीं है। क्योंकि यह अवस्था अपूर्ण है। इसके पश्चात् महाचैतन्य में प्रविष्ट होने पर भाव एवं महाभाव सब अतिक्रान्त हो जाते हैं एवं मिलन या विरह किसी की भी सार्थकता नहीं रहती। आत्मा की तृप्ति सिद्ध करने के लिए ही इनकी व्यवस्था है।

किन्तु यह प्रकृत नित्यलीला न होने पर भी उसके आभास के रूप से अवश्य ही वर्णित होने योग्य है। यथार्थ लीला पूर्वावस्था में ही सम्भव है। वहाँ क्रमविकास की आवश्यकता नही रहती एवं प्रकृत अतृप्ति व अभाव आदि किसी की सत्ता नही रहती। इसका विशेष विवरण बाद में दिया जायेगा।

जिस आनन्दमय लिङ्ग की बात कही गई है, इसको प्राप्त होने पर ही नित्यलीला का सूत्रपात होता है, यह बात पहले भी कही गई है। यह आनन्दमय लिंग बीज व योनि इन दोनों का मिलनात्मक है। बीज व योनि का मिलन ही वस्तुतः युगल-मिलन है। एक ही शुद्ध चैतन्य—बीज व योनि के आकार में प्रकाशमान होकर, दोनों के तादात्म्य की अवस्था में नित्यलील

के अंकुर-रूप में परिणत होता है। जब मूल चैतन्य स्वातन्त्र्य के प्रभाव से दो भागों में विभक्त होता है तब परस्पर पृथक्कृत होकर ये दो भाग परस्पर मिलित होकर नई-नई लीला-स्फूर्ति के कारण बनते हैं। एक ही चैतन्य एक अंश से क्षुब्ध करता है एवं दूसरे अंश से स्वयं ही क्षुब्ध होता है। निमित्त व उपादान की अभिन्नता इसी प्रकार सिद्ध होती है। निमित्त व उपादान के पार्थक्य के साथ-साथ मायिक स्तर आविर्भूत होता है एवं सब पदार्थों के बीच परस्पर भेदज्ञान प्रकट होता है।

चैतन्य के बीच एक ओर क्षुब्ध होने की स्वाभाविक प्रवणता जाग उठती है। बाह्य क्षोभक न रहने पर भी चैतन्य के स्वरूप से स्वयं क्षोभ का आविर्भाव होता है। यह क्षणिक व्यापार है।

[illegible] में लिखा है कि षोडश गोपी पारमार्थिक दृष्टि से षोडश स्वरों की मूर्त्ति है। मूलतः नित्यलीला की मूलीभूत षोडश शक्तियाँ ही वस्तुतः स्वरतत्त्व से भिन्न और कुछ नहीं हैं। यह स्वरतत्त्व किस प्रकार आविर्भूत होता है एवं आविर्भूत होकर किस प्रकार एक स्वर अन्य स्वर में परिणत होता है इसके विशेष ज्ञान के साथ क्षोभ के रहस्य के उद्घाटन की प्रणाली जुड़ी हुई है। इस कारण लीला के मर्म-ग्रहण के उद्देश्य से क्षोभ के स्वरूप, सार्थकता, प्रकार-भेद व फलगत वैशिष्ट्य की आलोचना करना आवश्यक है। पहले जिस त्रिविध लिंग की बात कही गई है। उसमें से अव्यक्त लिंग में अहंभाव का प्राधान्य है एवं व्यक्त लिंग में इदंभाव का प्राधान्य रहता है। दोनों लिंगों के मध्यवर्त्ती व्यक्ताव्यक्त लिंग में अहंभाव एवं इदंभाव इन दोनों का

ही साम्यभाव लक्षित होता है। चैतन्य के जिस अंश में अहंभाव का स्फुरण होता है वह जीव-भाव है। दोनों का मध्यवर्ती भाव शक्तिभाव है। इस शक्ति-भावकी भी दो अवस्था हैं— जब आरोह-क्रम में चैतन्य जीवभाव को शिवभाव की ओर अग्रसर कर लेता है एवं जब अवरोहक्रम में चैतन्य शिवभाव को क्रमशः जीवभाव की ओर परिवर्त्तनसम्पन्न करता है। ये दोनों अवस्था ठीक एक नहीं हैं। पहली अवस्था में अहंभाव के द्वारा आच्छन्न हो कर जीवभाव विद्यमान रहता है। द्वितीय अवस्था में इदंभाव के द्वारा आवृत होकर अहंभाव विद्यमान रहता है। जो अव्यक्त लिंग है उससे ही इदंभाव के स्फुरण के साथ-साथ बाह्यलीला का सूत्रपात होता है। किन्तु अव्यक्त लिंग के पश्चात् अनुत्तर धामरूप जो महालिंग स्वयंप्रकाश रूप से उदित होता है, उस आनन्दमय लिंग से ही अहंबोधमय अव्यक्त लिंग के आविर्भाव का सूत्रपात होता है। इस कारण आनन्दमय लिंग से अव्यक्त लिंग के आविर्भाव पर्यन्त जो चैतन्यशक्ति की क्रीड़ा है, वही रहस्य-लीला के नाम से वर्णित होने योग्य है। हमने पहले जिस भाव व महाभाव के किञ्चित् पार्थक्य का उल्लेख किया है, यहाँ उसी के अनुरूप पार्थक्य का मूल दिखाई पड़ता है।

क्षोभ किसे कहते हैं ? क्षोभ का रहस्य क्या है ? लीलातत्त्व के साथ उसका सम्बन्ध क्या है ? इन सब प्रश्नों की मीमांसा के लिए अभी कुछ एक बातों का दिग्दर्शन के रूप में उल्लेख किया जा रहा है। जो महाचैतन्य पर-प्रमाता या महासाक्षिरूप से स्वयंप्रतिष्ठभाव से विद्यमान हैं उनमें अनन्त ज्ञेयराशि अर्थात् बाह्य

व आभ्यन्तर समस्त भावसत्ता अभिन्नरूप में विद्यमान रहती है। यह मूल चैतन्य सीमाहीन, उपाधिरहित एवं अनवच्छिन्न है। वह निर्विशेषरूप में ही वर्णित होने योग्य है। किन्तु उसमें एक इच्छा नाम की स्वातन्त्र्यशक्ति विद्यमान है। यह चैतन्य के स्वरूप से अभिन्न है। जब इसके प्रभाव से यह अन्यान्य भाव-राशि चैतन्य के साथ अभिन्न रहती हुई भी भिन्न के समान प्रतिभासमान होती है, तभी कहा जाता है कि चैतन्य में क्षोभ उत्पन्न हुआ है। यह क्षोभ उत्पन्न होना व विसर्ग का उद्भव होना एक ही बात है। चैतन्य स्वयं क्षुब्ध होकर स्वयं को ही क्षुब्ध किया करता है। जब चैतन्य स्वयं क्षुब्ध होता है तब इसे स्वरूप-निष्ठ स्वातन्त्र्यशक्ति की ही क्रीड़ा समझना चाहिए। उपादान को क्षुब्ध करना हो तो निमित्त को भी क्षुब्ध होना पड़ता है। निमित्त द्वारा क्षुब्ध-भाव-ग्रहण स्वातन्त्र्यवशतः होता है, किन्तु उपादान की क्षुब्धता निमित्त के प्रभाववशतः घटित होती है। क्षोभ उत्पन्न होते ही उसका एक आधार होना आवश्यक होता है। क्योंकि निराधार क्षोभ हो ही नहीं सकता। यह जिस आधार की बात कही गई इसी का नामान्तर है योनि। क्षोभ विसर्ग की ही अवस्था-विशेष है। विसर्ग के मूल में बीजसत्ता आवश्यक है, क्योंकि बीज का ही विसर्ग होता है। यह बीज चैतन्य से अति-रिक्त और कुछ नहीं है। चैतन्यस्वरूप में अनन्त ज्ञेय भावराशि अव्यक्त रूपसे मग्न रहती है। ये भाव अपना-अपना विशेषरूप लिये हुए उसमें प्रकाशमान नहीं रहते। यह निर्विशेष शुद्ध चैतन्य ही बीजरूप में अर्थात् विश्व के बीजरूप में परिचित है।

चैतन्यनिष्ठ अनन्त भावराशि समष्टि-रूप से विश्व नाम से अभिहित होती है। विश्व का बीज-चैतन्य ही कारण-चैतन्य है, उससे अतिरिक्त विश्व नाम से कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। किन्तु न रहने पर भी अतिरिक्तवत् विश्व का आविर्भाव चैतन्य से ही हुआ करता है।

यह कैसे होता है? चैतन्य में जो स्वातन्त्र्यशक्ति है, जिसका कि मूल इच्छा अथवा महा इच्छा के नाम से वर्णन किया जाता है, उसी के प्रभाव से विसर्ग का उदय होता है। अर्थात् अभिन्न सत्ता भिन्नवत् प्रतीयमान होती है। इसीका नाम है बीज व योनि का परस्पर संघटन। योनि के साथ इच्छा का सामरस्य होने पर तृप्तिरूप से सृष्टि का पूर्ण विकास हुआ करता है।

क्षोभ कार्य्यतः दो प्रकार का है—स्वयं क्षुब्ध होना एवं दूसरे को क्षुब्ध करना। पुरुष क्षुब्ध होकर प्रकृति को क्षुब्ध करता है। क्योंकि प्रकृति के क्षुब्ध न होने पर पुरुष की इच्छानुरूप उसके गर्भ से अनन्त भावराशि बहिरुन्मुख होकर प्रकट नहीं हो सकती। किन्तु स्मरण रखना होगा कि पुरुष वा प्रकृति एक अखण्ड चैतन्य के ही दो पहलू हैं। चैतन्य में इन दोनों पहलुओं के परस्पर संघर्ष को निकुञ्जलीला कहते हैं। जिस क्षोभाधार की बात पहले कही गई है, वह बाह्यसृष्टि के लिये अपरिहार्य अवलम्बन है, क्योंकि इस आधार की उपेक्षा करके अन्तःस्थित भाव बाह्य रूप से प्रकाशित नहीं हो सकता, एवं सृष्टि की इच्छा भी पूर्ण नहीं हो सकती। यह जो इच्छा की पूर्णता की बात कही गई, यह सम्यक् सिद्धि है और तृप्ति का ही दूसरा नाम है। तृप्ति का आविर्भाव

अर्थात् बाह्य सृष्टि के उन्मीलन में अथवा भावराज्य के प्राकट्य के लिये चित्शक्ति से क्रियाशक्ति पर्यन्त पञ्चविध शक्ति का क्रमिक स्फुरण आवश्यक होता है। चित्शक्ति, आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति इन पञ्चविध शक्तियों का आविर्भाव ही बिन्दु से विसर्ग का आविर्भाव है। चित्शक्ति अनुत्तर है, यही 'अ' कार है, आनन्दशक्ति 'आ'कार है, दोनों ही स्वरूपतः अभिन्न हैं। इसके पश्चात् इच्छाशक्ति 'इ' कार (ई अथवा ईश्वरत्व इच्छा की ही मात्रागत वृद्धि का नामान्तर है), उन्मेषशक्ति 'उ' कार--अर्थात् ज्ञानशक्ति है (ऊनता या ज्ञेयभाव उन्मेष की ही मात्रा-वृद्धि का फलमात्र है) ; क्रियाशक्ति के अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर एवं स्फुटतम ये चार भेद क्रमशः 'ए ओ ऐ औ' के रूप से प्रसिद्ध हैं। 'ऋ ॠ ऌ ॡ' ये पूर्वोक्त पञ्चशक्तियों के अन्तर्गत नहीं हैं। ये अमृतकला रूप एवं नपुंसक हैं। बिन्दु व विसर्ग की सहायता से ये परामर्श अर्थात् रश्मियाँ स्वरवर्णों के रूप में परिचित हैं। नपुंसक वर्ण-चतुष्टय को छोड़ देने पर ये सभी एक प्रकार से बीजरूपी हैं। जब अनुत्तर चैतन्य अथवा आनन्द के साथ इच्छाशक्ति का मिलन होता है, तब 'ए'-कार रूपी योनि आविर्भूत होती है, जिसका अस्फुट क्रियाशक्ति के नाम से पहले वर्णन किया गया है। यंत्र त्रिकोणात्मक है। इसके तीन कोणों के नाम हैं— इच्छा, ज्ञान व क्रिया। कहना न होगा, अनुत्तर व आनन्द मध्यबिन्दु रूप से वर्तमान हैं। किन्तु सूक्ष्म रूप से देखने जायें तो यह एक त्रिकोण नहीं है—इसके बीच दो त्रिकोण हैं। क्योंकि जिसका अनुत्तर परामर्श के नाम से उल्लेख किया गया है, वह अथवा आनन्दशक्ति त्रिकोणात्मक है क्योंकि अनुत्तर का विश्लेषण करने

पर उसके बीच वामा, ज्येष्ठा व रौद्री ये तीन शक्तियाँ प्राप्त होती हैं—आनन्द के विषय में भी ठीक ऐसा ही है। अतएव एक अधोमुख त्रिकोण, एवं दूसरा ऊर्द्ध्वमुख त्रिकोण, इन दोनों त्रिकोणों के मिलित होने पर जो षट्कोण उत्पन्न होता है वही अत्यन्त गुह्य एवं रहस्यमय पीठ के रूप में 'ऐ'-कार का रूप धारण करके आत्म-प्रकाश करता है। पुरुष व प्रकृति का युगलभाव अथवा मिथुनीभाव ही 'ऐ'-कार का रहस्य है। श्रीकृष्ण के बीजयन्त्र व पीठ को समझने के लिए इस षट्-कोण-रहस्य का भेद करना अनिवार्यतः आवश्यक है।

ब्रह्मसंहिता में जो गोकुल-यन्त्र का संक्षिप्त विवरण है, जिसके साथ गोलोक या श्वेतद्वीप एवं महावृन्दावन का सम्बन्ध जड़ित है उसमें भी मूल में इस षट्कोण का आश्रय लिए बिना युगल-तत्त्व श्रीराधाकृष्ण के आविर्भूत होने के उपयोगी द्वितीय कोई यन्त्र या पीठ वर्त्तमान नहीं है। क्षणभेद से अर्थात् विभिन्न क्षणों के अनुसार विभिन्न प्रकार का आनन्द प्रस्फुटित करने के लिए षट्कोण अथवा षट्मुद्रा की आवश्यकता बौद्धों ने भी स्वीकार की है। अनुत्तर अथवा आनन्द के साथ ज्ञान का सहयोग प्राप्त होने पर 'ओ' कार का उद्भव होता है। पूर्वोक्त अनुत्तर आनन्द के साथ इस ओकार का पुनः योग होने पर स्थूल बीज रूपी 'औ'कार का आविर्भाव होता है। वस्तुतः इस स्थूल के ऊपर ही यन्त्र निबद्ध है। चित्शक्ति से क्रमशः आनन्दादि के क्रम से इच्छा, ज्ञान व क्रियाशक्ति आविर्भूत होकर एवं क्रियाशक्ति क्रमशः स्थूलतम अवस्था को प्राप्त होकर अन्त में प्रत्याहार का अवलम्बन

करके बिन्दु में लौट आती है। यह प्रक्रिया स्वभाव में निम्न-स्तर में आवर्त्तित हो रही है। इसको ही अहंभाव का विकास व चैतन्यशक्ति का उद्दीपन कहते हैं। अन्यान्य वर्णराशि इन सब मूलशक्तियों के स्फुरण की ओर ही क्रमशः प्रकाशित होती है। आदि वर्ण 'अ' है—यही प्रकाश-स्वरूप परमशिव है। अन्त्य-वर्ण—'ह' कार के अर्धभाग के रूप में यही विमर्शरूपा पराशक्ति है। दोनों मिलित होकर अ—ह रूप से प्रत्याहार की भाँति समस्त वर्णों को अर्थात् पञ्चाशत् मातृकाओं को गर्भ में धारण किए हुए हैं। बिन्दु रूप में अखण्डमण्डल के बीच अद्वैत सत्ता धारण किए हुए यह शिवशक्ति-युगलमूर्त्ति विराजमान हैं। इसी का नाम 'अहं' वा आत्मा है। यही त्रिपुरसुन्दरी है। यही राधाकृष्ण के युगलतत्त्व का रहस्य है।

त्रिपुरसुन्दरी के रहस्य का पूर्ण अभिज्ञान प्राप्त किये बिना श्रीराधाकृष्ण-तत्त्व में प्रवेश करने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस सम्बन्ध में विशेष आलोचना बाद में की जायेगी।

पहले ही कहा गया है कि भावराज्य के क्रम-विकास के पथ में पहले पशुभाव हट जाता है। अर्थात् समस्त दृश्यपदार्थ-मात्र में जो इदंरूप भान था वह अपगत हो जाता है। अर्थात् चारों तरफ के पदार्थ की तब 'यह' रूप से प्रतीति नहीं होती। उसमें 'मैं' रूप से प्रतीति क्रमशः उत्पन्न होकर 'मैं' भाव के अतीत अनुत्तर सत्ता में स्थिति लब्ध होती है। मध्यावस्था में 'मैं' भाव अवश्य नहीं रहता, किन्तु उसका आभास रहता है। तब सब पदार्थों का ज्ञान 'इदं' रूप से उदित होता है, एव पूर्वस्तर के

अहंभाव का आभास इस विशुद्ध ज्ञान को ढके रखता है। इस अवस्था में शक्ति-भाव का उन्मेष विद्यमान रहता है। अर्थात् सभी वस्तुयें शक्ति-रूप में अर्थात् आत्मा के धर्म-रूप में प्रतीति-गोचर होती हैं। यह अवस्था अतिक्रान्त होने पर विशुद्ध अहंभाव का सूत्रपात होकर क्रमशः उसकी पूर्णता सिद्ध होती है। यह अव्यक्त लिङ्ग अवस्था में सिद्ध होती है। सर्वात्म-भाव के नाम से वैष्णव आचार्यों ने इसी अवस्था को लक्षित किया है। जो इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं वे सर्वत्र स्वयं की ही स्फूर्ति उपलब्ध करते हैं। किन्तु यह आत्मस्फूर्ति यथार्थ आत्म-स्वरूप नहीं है—यह स्मरण रखना होगा। इसके पश्चात् आनन्द लिङ्गमय अनुत्तर धाम में प्रविष्ट होने पर सर्वात्मभाव के अतीत आत्मा के परम स्वरूप में स्थिति-लाभ होता है। सर्वत्र 'मैं' रूप से प्रकाश होना ही सर्वात्म-भाव है। इस अवस्था में भक्त की दृष्टि में सर्वत्र ही आत्मभाव की अनुभूति हुआ करती है। अर्थात् स्वयं को ही अनन्त 'अहं' के रूप में उपलब्ध किया जाता है। बाह्य उपलब्धि की यही चरम सीमा है। इस अवस्था का अवसान होने पर बहु 'अहं' एक 'अहं' में परिणत होता है। उसके पश्चात् यह 'मैं' अहंत्व-हीन होकर विचित्र अनन्त भावों में आत्म-प्रकाश करता है। इस आत्म-प्रसारण के बीच प्रथम पुरुष मध्यम पुरुष व उत्तम पुरुष इन तीन रूपों में ही चैतन्य स्वयं को प्रकाशित करता है। इस अचिन्त्य माधुर्यमय अवस्था में 'मैं-तुम' भाव सदा के लिए स्वाभाविक नियम में अस्तमित होता है। उसके पश्चात् केवल रसास्वादन के लिए कृत्रिम अभिनय की भाँति अनन्त लीला-वैचित्र्य स्फुट हो उठता है। जीव के ऊर्ध्वारोहण

के रूप में जो नित्य-लीला भावराज्य में अनुष्ठित होती है, वह इस अनादि अनन्त लीला का प्रतिबिम्ब मात्र है।

यह जो सर्वात्मभाव की बात कही गई, उसका आविर्भाव होने पर सर्वत्र ही पुरुषोत्तम-स्वरूप का दर्शन होने से, पुरुषोत्तम रूप में परिदृष्ट समस्त वस्तु में ही एक अपूर्व स्नेह का विकास लक्षित होता है। उसके बाद ही भीतर एवं बाहर सम-रूप से अखण्डभाव से पुरुषोत्तमभाव प्रकट होता है। जिसका फल है अलौकिक सामर्थ्य अथवा नित्य लीला में प्रवेश।

सुतरां यह समझ लेना होगा कि नित्यलीला में प्रविष्ट होने से पहले सर्वत्र आत्मभाव की स्फूर्ति होना आवश्यक है। क्योंकि वह हुए बिना स्नेह का उदय नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति का मूल कारण क्या है? इस सम्बन्ध में कोई-कोई विशेषज्ञ आचार्य कहते हैं कि प्रेमभक्ति की पराकाष्ठा से ही सर्वात्मभाव का उदय हुआ करता है। प्रेमभक्ति की परिपक्वता के अनुसार तीन अवस्थायें प्रकाशित होती हैं। उनमें से प्रथम का नाम है प्रेम— द्वितीय का नाम आसक्ति एवं तृतीय का व्यसन है। इसके पश्चात् ही साधना की समाप्ति होने पर सर्वात्मभाव रूप में फल का उदय होता है। प्रेम रुचि से उत्पन्न होता है। जब किसी विशिष्ट मनुष्य में भगवान् के प्रति वास्तविक रुचि उत्पन्न होती है तब उसका मनुष्य में भगवान् के प्रति वास्तविक रुचि उत्पन्न होती है, तब उसका श्रवणादि साधन-भक्ति द्वारा परिशीलन करने पर वह (रुचि) चरम अवस्था में प्रेमरूप में परिणत होती है। किन्तु जिसके चित्त में

रुचि उत्पन्न नहीं हुई है, उसका श्रवणादि द्वारा प्रेमभक्ति का विकास सम्भव नहीं है। इससे समझा जा सकता है कि जीवमात्र ही आपाततः प्रेमभक्ति के योग्य है, यह नहीं कहा जा सकता। किसी-किसी विशिष्ट जीव में भगवदिच्छा से ही भाव का बीज निहित रहता है। कहना न होगा कि ये सब जीव आसुरिक जीवों से विलक्षण देव जीवों के अन्तर्गत हैं। सत्सङ्ग प्रभृति विभिन्न कारणों के प्रभाव से यह सूक्ष्म बीज शक्ति रुचि के रूप में फूट उठती है। इसके पश्चात् साधनभक्ति के द्वारा प्रेम का आविर्भाव होता है। प्रेम परिष्कृत होकर पहले आसक्ति एवं उसके पश्चात् व्यसन रूप में अभिव्यक्त होता है। इसके पश्चात् सर्वत्र आत्म-भाव की स्फूर्त्ति होती है। तब सर्वत्र समरूप से भगवत्-स्फूर्त्ति होने के कारण नित्यलीला में प्रवेश होता है।

नित्यलीला में जिन जीवों का प्रवेशाधिकार उत्पन्न होता है, वे सभी एक ही प्रकार की अवस्था प्राप्त करते हैं ऐसा नहीं है। क्योंकि भावराज्य के अनन्त वैचित्र्य में जिसकी जो अपनी प्रकृति है उसे वही प्राप्त हो जाती है।

सभी जीवों में जैसे एक मौलिक साम्य है, वैसे ही प्रत्येक जीव का एक वैशिष्ट्य भी है। यह वैशिष्ट्य सांसारिक अवस्था में स्फुटित नहीं होता। यह जीव का स्वभावसिद्ध है अतः संसार का कृत्रिम आवरण कट जाने पर यह स्वयं जाग उठता है। इस प्रकार से प्रत्येक जीव की ही व्यक्तिगत विलक्षणता है। इस कारण ही दार्शनिकों ने मुक्त आत्मा में भी 'विशेष' माना है। यह 'विशेष' स्वरूपगत, आकृतिगत, गुणगत, धर्मगत, क्रिया-

गत एवं सम्बन्धगत है। सुतरां एक जीव के साथ अन्य एक जीव की किसी अंश में भी समानता नहीं दिखाई देती (यद्यपि सभी जीव मूलतः एक व अभिन्न हैं)।

इस जीवगत 'विशेष' की सार्थकता भावराज्य में उपलब्धि-गोचर होती है। क्योंकि भावराज्य में विधि-निषेध की प्रेरणा नहीं रहती, अत एव अन्तर्निहित भाव अथवा स्वभाव ही लीला-गत वैशिष्ट्य एवं रसास्वादन का नियामक हुआ करता है। भाव के आस्वादन में जिस प्रकार 'विशेष' अनुभूत होता है उसी प्रकार अभाव की अनुभूति में भी विशेष का परिचय प्राप्त होता है।

यहाँ पर प्रसङ्गतः नित्यलीला के सम्बन्ध में एक महासत्य का इङ्गित देना आवश्यक प्रतीत हो रहा है, यद्यपि इसका आभास पहले बहुत बार कुछ-कुछ दिया गया है। नित्यलीला के दो पहलू हैं। एक पक्ष से देखें तो नित्यलीला प्रकृत प्रस्ताव में ऊर्ध्वगामी जीव के लिए नित्यलीला नहीं है, वह एक विश्रामशाला मात्र है। जब कोई जीव भावराज्य में प्रविष्ट होकर क्रमशः नित्यलीला में योगदान करता है, तब वह क्रमशः इस लीलारस के आस्वादन में अधिकतर पुष्टिलाभ करते-करते कला का विकास सम्पादन करके यथासमय लीलाचक्र का भेद कर लेता है। यहाँ पर नित्यलीला नित्यसिद्ध एवं अविनाशी होने पर भी उक्त जीव के लिए वह चिरस्थायी नहीं होता। क्योंकि मुक्त होने पर भी उक्त जीव अपूर्ण ही होने से एवं भावराज्य में से होकर ही उसे पूर्णता लाभ करना होगा इस कारण एक

बार उसे लीलाचक्र का अतिक्रमण करना ही होगा। किन्तु उसके लिए लीलाचक्र का स्थायित्व न होने पर भी लीला को अनित्य नहीं कहा जा सकता। अनादि काल से अनन्त काल पर्यन्त लीलाचक्र का अभिनय इसी प्रकार होता आ रहा है एवं इसी प्रकार होता रहेगा। किन्तु नित्यलीला का और एक पहलू है, जिससे विचार करने पर समझा जा सकेगा कि पूर्वोक्त लीलामण्डल प्रकृत लीलामण्डल नहीं है। लीला का प्रकृत स्थान विश्राम की परावस्था में अवस्थित है, अर्थात् क्रमविकास की समाप्ति के पश्चात् है। कार्य करना, विश्राम करना एवं खेल करना ये तीन मूल व्यापार हैं। उनमें से समग्र मायिक जगत् कार्यक्षेत्र होने से कर्म-अर्जन एवं उसका फल-भोग यहीं यहाँ हुआ करता है। अतः यह कार्य करने का स्थान है। इसके पश्चात् एक विश्रामागार है। वहाँ पर विश्राम करके विश्राम-सुख का आस्वादन पाया जाता है। इसके पश्चात् खेल करने की भी एक दिशा है। यह खेल कार्य करने के अन्तर्गत नहीं है और यह विश्राम की परावस्था है। यही खेल करने की दिशा है। कार्य करने का जैसे कोई अन्त नहीं है, वैसे ही खेल का भी अन्त नहीं है। इस महाक्रीडा के पीठ में, विश्राम के पश्चात्, कोई-कोई महाभाग्यवान् पहुँचते हैं। यह खेल या लीला का उपयोगी धाम एवं परिवार व परिकरवर्ग सभी साकार हैं। सुतरां ये सब चरम-विश्राम की अवस्था में अभिव्यक्त रचनाशक्ति के द्वारा प्रकट होते हैं। अर्थात् शुद्ध चैतन्य-अवस्था में प्रतिष्ठित होकर पूर्ण अहं-भाव में स्थिति-लाभ करने पर नित्यलीला में प्रवेश का प्राथमिक स्तर समाप्त होता है। पहले ही कहा गया है कि पूर्ण वस्तु

किसी की भी सृष्टि नहीं कर सकती। सृष्टिकर्ता होना हो तो उसको इच्छापूर्वक अभाव की सृष्टि कर के अभिनय के द्वारा रसास्वादन की व्यवस्था करनी होती है; इसी कारण परिपूर्ण आत्मस्वरूप में अर्थात् पूर्णाहंता में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् अपने स्वातन्त्र्य-वशतः अपने चारों ओर महाशून्य की सृष्टि कर के इस महाशून्य के बीच इच्छानुरूप लीलामण्डल की रचना करनी होती है।

श्रीवृन्दावन प्रभृति भगवान् की समस्त नित्यविहारभूमियाँ इसी प्रकार से वर्तमान हैं – पूर्ण स्वरूप के बीच अचिन्त्यशक्ति द्वारा वे रचित हुई हैं एवं अब भी हो रही हैं। केवल यही नहीं, योगी की विशिष्ट प्रकृति के अनुसार रचना में भी वैशिष्ट्य प्रकाशित हुआ है। इस कारण एक श्रीवृन्दावन की ही रचना-प्रणाली शिल्पी के शिल्प-कौशल के प्रभाव से नाना प्रकार की परिदृष्ट हुआ करती है। अन्यान्य लीलाधामों के सम्बन्ध में भी यह एक ही बात जाननी होगी।

पूर्ण आत्म स्वरूप में अभिनय के लिए अपूर्णता उत्पन्न करके पुनः तृप्ति की सिद्धि करने के लिए रसाभिव्यक्ति की प्रणाली के अनुसार विभिन्न प्रकार की रचना आवश्यक हुआ करती है। अतएव सब लीला-धाम नित्य होने पर भी रचित हैं एवं महाशून्य में गुप्त रूप से अवस्थित हैं। जगन्माता के विशेष अनुग्रह के बिना ये सब गुप्त स्थान देखे नहीं जा सकते।

इन सब लीलाओं के साथ अत्यन्त गुप्त रूप से कर्म-जगत् का सम्बन्ध है लीलाजगत् की दृष्टि से जो लीलामात्र है कर्म-जगत्

की दृष्टि से वह लीला होने पर भी कर्मशक्ति की प्रेरणादायिनी है—केवल लीला नहीं। किन्तु खेल व काम के बीच ऐसा परस्पर सम्बन्ध प्रयोजनानुसार ऐसे सुकौशल से स्थापित हुआ है कि उसके द्वारा लीला का लीलात्व क्षुण्ण नहीं होता, अथच उसके अभाव से कर्म की यथायथ व्यवस्था सम्पन्न होती है। अवश्य ही लीला का ऐसा भी एक पहलू है जो केवल लीला-मात्र है। उसके साथ कर्म का व्यवहित सम्बन्ध भी नहीं देखा जाता।

कर्म, लीला व विश्राम जिन-तीन अवस्थाओं की बात कही गई है, पूर्णत्व के पथ में इनमें से प्रत्येक का ही अनुभव हुआ करता है। अवश्य ही अपनी-अपनी विशिष्ट प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार कोई कर्म से अवसर ग्रहण करके विश्राम पाने के पश्चात् नित्यलीला में प्रवेश करते हैं। उसके पश्चात् लीलातीत अवस्था मे चिरविश्राम प्राप्त करते हैं। एवं ऐसे भी कोई-कोई हैं जो विश्राम व लीला दोनों का आस्वाद लेकर पुनः नए रूप से कर्म राज्य में प्रवेश करते हैं। तीनों अवस्थायें नित्य हैं। किन्तु अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार जो जिस में प्रधानतः स्थिति पाने की इच्छा करते हैं, उन्हें उससे इतर अन्य दोनों का अनुभव करके अभीप्सित अवस्था में प्रवेश करना होता है। किन्तु किसी की कैसी भी प्रकृति क्यों न हो, पूर्णत्व लाभ करने के लिए उसे तीनों अवस्थाओं से परिचित होना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि ये तीन अवस्थायें कर्म, भक्ति व ज्ञान इन तीन महापथों की पूर्णता की परिसमाप्ति के नामान्तर हैं। अद्वैतावस्था में जाकर कर्म नित्यकर्म के रूप में परि-

किसी की भी सृष्टि नहीं कर सकती। सृष्टिकर्ता होना हो तो उसको इच्छापूर्वक अभाव की सृष्टि कर के अभिनय के द्वारा रसास्वादन की व्यवस्था करनी होती है; इसी कारण परिपूर्ण आत्मस्वरूप में अर्थात् पूर्णाहंता में प्रतिष्ठित होने के पश्चात् अपने स्वातन्त्र्य-वशतः अपने चारों ओर महाशून्य की सृष्टि कर के इस महाशून्य के बीच इच्छानुरूप लीलामण्डल की रचना करनी होती है।

श्रीवृन्दावन प्रभृति भगवान् की समस्त नित्यविहारभूमियाँ इसी प्रकार से वर्तमान हैं—पूर्ण स्वरूप के बीच अचिन्त्यशक्ति द्वारा वे रचित हुई हैं एवं अब भी हो रही हैं। केवल यही नहीं, योगी की विशिष्ट प्रकृति के अनुसार रचना में भी वैशिष्ट्य प्रकाशित हुआ है। इस कारण एक श्रीवृन्दावन की ही रचना-प्रणाली शिल्पी के शिल्प-कौशल के प्रभाव से नाना प्रकार की परिदृष्ट हुआ करती है। अन्यान्य लीलाधामों के सम्बन्ध में भी यह एक ही बात जाननी होगी।

पूर्ण आत्मस्वरूप में अभिनय के लिए अपूर्णता उत्पन्न करके पुनः तृप्ति की सिद्धि करने के लिए रसाभिव्यक्ति की प्रणाली के अनुसार विभिन्न प्रकार की रचना आवश्यक हुआ करती है। अतएव सब लीला-धाम नित्य होने पर भी रचित हैं एवं महाशून्य में गुप्त रूप से अवस्थित हैं। जगन्माता के विशेष अनुग्रह के बिना ये सब गुप्त स्थान देखे नहीं जा सकते।

इन सब लीलाओं के साथ अत्यन्त गुप्त रूप से कर्म-जगत् का सम्बन्ध है। लीलाजगत् की दृष्टि से जो लीलामात्र है, कर्म-जगत्

णत होता है—उसी प्रकार भक्ति नित्यलीला में पर्यवसित होती है एवं ज्ञान का चरमफल नित्यविश्राम अथवा चिरशान्ति है। अद्वैतावस्था ही पूर्णत्व है। सुतरां पूर्णत्व में प्रतिष्ठित होने पर नित्यकर्म, नित्यलीला व नित्यविश्राम ये तीन वास्तव में अविभक्त रूप से ही प्रकाशित होते हैं। किन्तु तब भी व्यक्तिगत प्रकृति के वैशिष्ट्यानुसार कोई अन्य दोनों को अङ्ग रूप से अनुभव करते हुए अङ्गीरूप से अपनी इष्ट अवस्था में अवस्थित होते हैं।

यह पूर्णत्व होने पर भी परिपूर्णावस्था के रूप में परिगणित होने योग्य नहीं है। क्योंकि अङ्गाङ्गिभाव रहने पर्यन्त एक अलौकिक वैषम्य स्वीकार करना ही होता है। यथार्थ सामरस्य की अवस्था में गुण-प्रधान भाव नहीं रहता। इस कारण पूर्णावस्था में जाकर भी परिपूर्णत्व प्राप्त करने का प्रयोजन है। परिपूर्णावस्था ही यथार्थ योगावस्था है। इस अवस्था में सभी विरोधों का समन्वय हो जाता है। सुतरां विश्राम के साथ खेल का, खेल के साथ काम का एवं काम के साथ विश्राम का किसी प्रकार का विरोध नहीं रहता। इस कारण ही योगी परिपूर्ण अवस्था के अधिकारी होने पर किसी का परिहार नहीं करते। अथच बाह्य दृष्टि में परिहार स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। कर्म जब पूर्ण हो जाता है तब खण्ड दृष्टि से देखने पर कर्म अतिक्रान्त हो जाता है और विश्राम के राज्य में प्रवेश होता है, किन्तु यह विश्रान्ति कर्मरहित जड़त्व नहीं है। इसमें अनन्त कर्म विद्यमान रहते हैं। सीमा-

बद्ध कर्म न रहने से कर्मगत चाञ्चल्य नहीं रहता। क्योंकि अनन्त कर्मों के साथ विश्रान्ति का कोई विरोध नहीं है। इसी कारण योगी एक स्थान पर चिरदिन के लिए स्थिति लाभ करके अचल अवस्था प्राप्त कर के भी दूसरी ओर अनन्त रूपों में अनन्त देशों में अनन्त प्रकार के कर्मों का निरन्तर सम्पादन करते रहते हैं। जो निष्क्रिय, कूटस्थ, अविचल द्रष्टा के रूप में अथवा परमतत्त्व के उपासक के रूप में नित्य एकासन में समासीन हैं, वे ही एक ही समय में विभिन्न रूपों में विभिन्न देशों में विभिन्न कार्यों का सम्पादन करते हुए जगच्चक्र चलाते हैं। वे निष्क्रिय हैं, यह जितना सत्य है, वैसे ही वे कर्म कर रहे हैं यह भी संपूर्ण सत्य है। यहाँ पर निष्क्रिय भाव एवं सक्रिय भाव परस्पर विरुद्ध नहीं हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे क्रिया का त्याग करके निष्क्रिय नहीं हुए हैं। क्रिया की पूर्णता के फलस्वरूप उन्हें यह अवस्था प्राप्त हुई है। ठीक उसी प्रकार विश्राम की भी एक पूर्णता है। जब विश्राम पूर्णत्व-लाभ करता है, तब विश्राम के अतिक्रान्त होने पर लीलाराज्य में प्रवेश होता है। यह जो लीला है, यह विश्राम की विरोधी नहीं है। विश्राम को छोड़कर लीला में प्रवेश नहीं हुआ है। विश्राम की पूर्णता के फलस्वरूप ही यह प्रवेश हुआ है। सुतरां कर्म, विश्राम एवं लीला—यही जहाँ क्रम है, वहाँ नित्यलीला में अधिकार प्राप्त करने पर कर्म वैं विश्राम किसी का भी परिहार नहीं होता। विश्राम के एक प्रान्त में कर्म है एवं दूसरे प्रान्त पर लीला है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण के एक ओर सङ्कर्षण हैं एवं दूसरी ओर

श्रीराधा हैं, यह भी उसी प्रकार है। सुतरां इस क्रम के अनुसार नित्यलीला में किसी के प्रविष्ट होने से समझना होगा कि वह एक ओर संसार में प्रतिनियत कर्म में निरत है, वह जैसे सत्य है, उसी प्रकार वह संसार के अतीत शान्तिधाम में अविचलित रूप से विश्राम प्राप्त कर रहा है, यह भी उसी प्रकार सत्य है। अथच, यह भी स्वीकार करना होगा कि वह कर्म भी कर रहा है एवं विश्राम भी कर रहा है, इसके साथ ही वह नित्यलीला में भी अपने भावानुसार योग दे रहा है। प्रत्येक व्यापार के लिए ही उसे पृथक् स्वरूप की आवश्यकता है। जो एक स्वरूप में सर्वदा अपने आसन में अचल-भाव से बैठा है, वही दूसरे स्वरूप में अनन्त जगत् में अपनी योग्यतानुसार परिभ्रमण कर रहा है।

किन्तु ये दोनों स्थितियाँ ही चरम नहीं हैं। इनके ऊपर एक नित्यलीला रूप लोकोत्तर दशा विराजमान है। कार्य करना शान्तिलाभ करना एवं खेल करना सब ही अनन्त भाव से हुआ करता है। अथच यह अनन्त भी प्रकृत अनन्त नहीं है। क्योंकि एक ही अखण्ड सत्ता स्वातन्त्र्यशक्ति के प्रभाव से अनन्त रूपों में प्रकाशमान होती है।

परिपूर्ण अवस्था का अनुभव करना अत्यन्त कठिन है। इसे भाव की ओर या अभाव की ओर अनुभव नहीं करना होता। यह एक साथ दोनों ही प्रकार से अनुभूत होती है। अथच इसमें भाव व अभाव किसी प्रकार की भी छाया का स्पर्श नहीं होता।

श्रीभगवान् जीव के कल्याण के लिए विभिन्न स्तरों में विद्य-मान रहते हैं। किन्तु भाव का आलोक प्रकाशित होने पर यह सब बहिरङ्ग धारा अन्तरङ्ग धारा के रूप में प्रकाशित होकर धरा पर परिपूर्ण महासत्य के अवतरण का आभास दिया करती है। योगी कायव्यूह करके आकाश मण्डल की विभिन्न सीमाओं के बीच विभिन्न रूप धारण करके आत्मप्रकाश किया करते हैं। यह कायव्यूह का बहुत्व उसकी मूल अद्वैत सत्ता को क्षुण्ण नहीं कर सकता।

सूक्ष्म सत्ता में अभिमान के प्रविष्ट होने पर यहाँ से कारण सत्ता में उसका अनुसन्धान करके उसमें समस्त स्थूल आवर्जना-राशि का आहुतिरूप में अर्पण करना होता है। तब स्वाभाविक नियम से कारणसत्ता में ही अभिमान का उदय होता है। कारण से महाकारण में प्रवेश भी इसी प्रकार हुआ करता है।

❀ ❀ ❀ ❀

पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक धाम में ही एक-एक निर्माणगत वैचित्र्य है। जो योगी पूर्ण में अधिष्ठित होकर किसी निर्दिष्ट धाम की रचना करते हैं, उनके लिए यह निर्दिष्ट धाम स्वधाम के ही अन्तर्गत है। श्रीवृन्दावन अथवा गोलोक इस कारण से ही नाना प्रकार से कल्पित हुआ है। अन्यान्य धामों के सम्बन्ध में भी वही एक बात है।

धामतत्त्व अत्यन्त गम्भीर है। इसके सम्बन्ध में स्थूलभाव से ज्ञातव्य सब विषय प्रसङ्गतः कुछ-कुछ पहले कहे गये हैं। किन्तु धाम का जो परम रहस्य है वह अभी भी आलोचित नहीं हुआ है।

धाम एक यन्त्र विशेष है। गीता में श्रीभगवान् ने परम धाम के सम्बन्ध में कहा है कि वह अग्नि सोम एवं सूर्य्य इस त्रिविध ज्योति के अतीत, स्वयं ज्योतिःस्वरूप एवं पुनरावृत्तिरहित है। किन्तु केवल इसी वर्णन से परमधाम का स्वरूप हृदयगंम नहीं होता।

जो लोग तान्त्रिक यन्त्र-विज्ञान से परिचित हैं, वे जानते हैं कि प्रत्येक यन्त्र ही मूल में एक बिन्दु से उद्भूत होता है। एक ही महाबिन्दु से क्रमशः त्रिकोण प्रभृति चक्रों का आविर्भाव होने पर नाना प्रकार के यन्त्र रचित होते हैं। एक-एक यन्त्र बिन्दु में अधिष्ठित भगवान् के एक-एक रूप का आत्म-प्रसारण मात्र है। बिन्दु समग्र यन्त्र का मध्यस्थ है। मकड़ी जैसे स्वय को केन्द्र में रखती हुई चारों ओर जाल बनाती है, चैतन्य भी उसी प्रकार स्वयं मध्यस्थ रहकर चारों ओर भावानुसार चक्र-विस्तार करता है। जब तक शक्ति की यह आत्म-प्रसारण क्रिया निवृत्त नहीं होती तब तक रचना-प्रणाली चलती ही रहती है। यन्त्रमात्र ही उस-उस नाम व रूप-विशिष्ट भगवान् का धाम स्वरूप है। बिन्दु से त्रिकोण अथवा चतुष्कोण आविर्भूत होने पर उत्तरोत्तर विभिन्न चक्रों का स्फुरण हुआ करता है। सबके मूल में जो शब्द सृष्टि के प्रथम स्पन्दन के साथ ही प्रकट होता है, वही महात्रिकोण है। इस त्रिकोण से समग्र विश्व का उद्भव हुआ करता है एवं समग्र विश्व का उपसंहार भी इसी त्रिकोण में ही सम्पन्न होता है। त्रिकोण शक्ति-यन्त्र है। त्रिकोण का मध्यस्थित बिन्दु क्षुब्ध होकर त्रिकोण एवं क्रमशः अन्यान्य चक्रों का निर्माण करता है। नगर में प्रविष्ट होकर

एक के बाद एक विभिन्न स्तरों का भेद करते-करते त्रिकोण के समीप आ उपस्थित होना होता है। क्योंकि यह त्रिकोण मातृ-राज्य है। सृष्टि का मूल खोजना हो तो साधकमात्र को ही इसके समीप आना होगा। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर त्रिकोण की उत्पत्ति की भी एक प्रणाली लक्षित होगी। क्योंकि बिन्दु का स्पन्दन न होने पर त्रिकोण का आविर्भाव हो ही नहीं सकता। जिस बिन्दु के स्पन्दन से यह त्रिकोणराज्य आविर्भूत होता है—वही महाबिन्दु है। यह महाबिन्दु कामतत्त्व अथवा महासविता के नाम से प्रसिद्ध है। इसके क्षुब्ध होने पर श्वेत व रक्त जो दो बिन्दु आविर्भूत होते हैं, उनमें पहला चन्द्रस्वरूप एवं दूसरा अग्निस्वरूप है। जब अग्नि की शिखा ऊर्ध्वगति को प्राप्त होकर सोम बिन्दु को स्पर्श करती है तब यह बिन्दु द्रुत होता है, एवं उससे अमृतस्राव हुआ करता है। यह अमृत निर-न्तर क्षरित होते-होते अमृतराज्य अथवा उपकरणसहित नित्य-धाम रचित हुआ करता है। इस अमृतकला का मूलीभूत त्रिकोण कामकला के नाम से प्रसिद्ध है। उससे सृष्टि का उपकरणस्वरूप तत्त्वसमूह आविर्भूत हुआ करता है। इन सब तत्त्वों का परस्पर सयोग होने पर ये विश्व की रचना करते हैं। श्रीवृन्दावनधाम अथवा गोलोकधाम या श्वेतद्वीप ये एक ही अवस्थाओं में आविर्भूत विभिन्न दृश्यों के नामान्तर हैं।

कुण्डली मुख्य यन्त्र है। इस यन्त्र का निर्म्माण अत्यन्त रहस्यमय है। आदिनाद से महानाद का भेद करके जो नाद-धारा बीज के कार्यभूत खण्ड नाद पर्यन्त अवतीर्ण होती है, उसी का परिणाम कुण्डलिनी के रूप से रचित हुआ करता है। मूल

धाम में अनन्त शक्ति प्रस्फुट रूप से विराजित रहती है। इन सब शक्तियों से विश्व की उपादानस्वरूप तत्त्वराशि प्रकट होती है।

स्वयं भगवान परमपुरुष श्रीकृष्ण के आविर्भाव व विलास का यन्त्र श्रीकृष्ण का स्वकीय धाम है। इस धाम की रचनाप्रणाली अन्यान्य धामों की भाँति वासना-भेद से विभिन्न प्रकार की है। श्रीकृष्णतत्त्व की आलोचना करते समय उनके धाम के स्वरूप का विवरण आवश्यक है। इस कारण दृष्टान्तस्वरूप विभिन्न दृष्टि-केन्द्रों से उनके धाम का विश्लेषण करने की चेष्टा की जा रही है। लघु ब्रह्मसंहिता में श्रीकृष्ण के धाम के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त होता है, उससे यह जाना जा सकता है कि सहस्रदल कमल गोकुल नाम से प्रसिद्ध है। यह अति-विशाल राज्य है। इस कमल का जो मध्य बिन्दु या कर्णिका है, वही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का स्व-धाम है। यह बिन्दु अनन्त के अंश से सम्भूत कहा जाता है। अथवा अनन्त जिनके अंश हैं, वे बलदेव उसमें अवस्थान करते हैं।

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत् पदम्।
तत् कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥

यह जो मध्यबिन्दु रूपी कर्णिका की बात कही गई थी वह एक विशिष्ट यन्त्र है; इसमें षट्कोण विराजमान है। यह षट्कोण दो त्रिकोणों के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। उसके मध्य में एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण है जो तन्त्रशास्त्र में शिव-त्रिकोण के नाम से प्रसिद्ध है, एवं शक्तित्रिकोण नामका एक और त्रिकोण है, जो अधोमुख अवस्थित है। इन दो त्रिकोणों के परस्पर संघटन से

अनेक उपवन हैं। वे श्री कृष्ण की विभिन्न प्रकार की लीलाओं के साथ संश्लिष्ट हैं। इन सब लीला-भूमियों में से कदम्बवन, खण्डिकवन, अशोकवन, केतकवन, अमृतवन आदि प्रसिद्ध हैं। उपवनों की संख्या तीस है। प्रधान वन पूर्वोक्त बारह हैं। सहस्रदल-कमल की कर्णिका पर सुवर्णपीठ व मणिमण्डप अवस्थित हैं। इसकी आठ दिशाओं में आठ दल विद्यमान हैं। उनमें से दक्षिण दल में महापीठ विराजित है। अग्निकोण के दल में दो भाग हैं, एक में निकुञ्ज कुटीर है और दूसरे में वीर कुटीर। पूर्व दिशा का दल पवित्रता-सम्पादक के रूप से प्रसिद्ध है। ईशान दिशा का दल सिद्धपीठ है, जहाँ गोपियों ने कात्यायनी-पूजा करके श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था। वस्त्रहरण व अलङ्कार हरण यहीं पर हुआ था। उत्तर दिशा के दल में द्वादश आदित्य अवस्थित हैं। वायुकोण के दल में कालियह्लद प्रतिष्ठित है। पश्चिम दिशा का दल यज्ञपत्नियों को अत्यन्त प्रिय था। अघासुर की मोक्ष-प्राप्ति एवं ब्रह्ममोहन इसी दल में हुआ था। नैऋत् कोण के दल में व्योम-वध होना प्रसिद्ध है। शङ्खचूड़-वध इस दल की प्रधान लीला है। इस अष्टदल कमल को लेकर ही वृन्दावन की प्रधान क्रीड़ा है। गोपीश्वर-शिवलिङ्ग अष्टदल कमल के अधिष्ठाता हैं। अष्टदल को घेरे हुए षोडशदल वर्तमान है। इसके प्रत्येक दल में ही कोई न कोई लीलास्थल अवस्थित है। दक्षिण दिशा के प्रथम दल में मधुवन की स्थिति है। वहीं चतुर्भुज महाविष्णु प्रकट हुए थे। द्वितीय दल खदिरवन है। यहाँ गोवर्धन पर्वत पर महालीला हुई थी। प्रसिद्धि है कि यहीं पर श्री कृष्ण नित्य-

धाम में अनन्त शक्ति प्रस्फुट रूप से विराजित रहती है। इन सब शक्तियों से विशुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्वराशि प्रकट होती है।

इस प्रकार पूर्णपुरुष श्रीकृष्ण के आविर्भाव व विलास का यन्त्र श्रीकृष्ण का स्वकीय धाम है। इस धाम की रचनाप्रणाली अन्यान्य धामों की भांति वासना-भेद से विभिन्न प्रकार की है। श्रीकृष्णतत्त्व की आलोचना करते समय उनके धाम के स्वरूप का विवरण आवश्यक है। इस कारण दृष्टान्तस्वरूप विभिन्न दृष्टि-केन्द्रों से उनके धाम का विश्लेषण करने की चेष्टा की जा रही है। लघु ब्रह्मसंहिता में श्रीकृष्ण के धाम के सम्बन्ध में जो विव-रण प्राप्त होता है, उससे यह जाना जा सकता है कि सहस्रदल कमल गोकुल नाम से प्रसिद्ध है। यह अति-विशाल राज्य है। इस कमल का जो मध्य बिन्दु या कर्णिका है, वही स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण का स्व-धाम है। यह बिन्दु अनन्त के अंश से सम्भूत कहा जाता है। अथवा अनन्त जिनके अंश हैं, वे बलदेव उसमें अवस्थान करते हैं।

सहस्रपत्रं कमलं गोकुलाख्यं महत पदम्।
तत कर्णिकारं तद्धाम तदनन्तांशसम्भवम्॥

यह जो मध्यबिन्दु रूपी कर्णिका की बात कही गई थी वह एक विशिष्ट यन्त्र है; इसमें षट्कोण विराजमान है। यह षट्कोण दो त्रिकोणों के समन्वय से उत्पन्न हुआ है। उसके मध्य में एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण है जो तन्त्रशास्त्र में शिव-त्रिकोण के नाम से प्रसिद्ध है, एवं शक्तित्रिकोण नामका एक और त्रिकोण है, जो अधोमुख अवस्थित है। इन दो त्रिकोणों के परस्पर संघटन से

षट्कोण नामक यन्त्र का आविष्कार हुआ है। परमपुरुष व परमा प्रकृति के परस्पर मिलित भाव का प्रतीक है यह षट्कोण। तान्त्रिकों एवं बौद्धाचार्यों ने 'एवं' कार रूप इस षट्कोण का ही यथोचित समादर किया है। इस षट्कोण के मध्य में ही क्षणभेद से भिन्न रूपों में भिन्न-भिन्न आनन्दों का नव-नव उन्मेष जाग उठता है। समग्र चक्र जब सिमट आता है, तब इस षट्कोण मे ही उसका उपसंहार होता है। षट्कोण से मध्यबिन्दु में स्थिति-लाभ करना परम सौभाग्य की बात है। यह षट्कोण ही युगल-मिलन का क्षेत्र है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस महापद्म के कर्णिकार में बीजरूप वज्र अथवा हीरक का कील वर्तमान है। चतुरक्षरी मन्त्र कीलक मन्त्र है। इस स्थान पर षट्पदी, अष्टादशाक्षरी मन्त्र अवस्थित हैं। उसके अतिरिक्त प्रकृति एवं पुरुष के द्वारा ही यह स्थान संरक्षित है। मन्त्र की प्रकृति कृष्ण हैं एवं पुरुष भी कृष्ण ही हैं। मन्त्रों के कारण-रूप में, समष्टि-रूप में, अधिष्ठात्री देवता-रूप में एवं इष्ट-रूप में पुरुष ही प्रतीतिगोचर होते हैं। इस कर्णिका में प्रेमानन्द व महानन्द-स्वरूप अमृतरस विद्यमान रहता है, एवं उसमें ज्योतिःस्वरूप मन्त्र अर्थात् कामबीज अव्यक्तरूप से संयुक्त है। इसके चारों ओर श्वेतद्वीप चतुरस्र आकार में विद्यमान है। इस चतुरस्र के चारो ओर वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध इन चारों व्यूहो का धाम है। दस शूलों के द्वारा यह यन्त्र दस ओर से आबद्ध है। नव निधि एवं अष्ट सिद्धि, मन्त्रात्मक दस दिक्पाल, श्याम और रक्त व शुक्ल वर्ण-विशिष्ट पार्षदवर्ग, विमला आदि सोलह उद्भूत शक्तियाँ—इनके द्वारा चारों दिशायें आवृत हैं।

पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में वैकुण्ठ नामक परम धाम का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस राज्य में अनेक जनपद हैं। रत्नमय प्राकार विमान व सौध द्वारा अलंकृत हैं। इसकी प्रधान नगरी अयोध्या के नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर के चार द्वार रत्नमय गोपुर व मणि-काञ्चनादि-खचित चित्रों द्वारा रंजित हैं। प्राकार व तोरणों द्वारा यह वेष्टित है। विभिन्न द्वारों पर विभिन्न रक्षक हैं, द्वारों की संख्या चार है। पूर्वद्वार पर चण्ड एवं प्रचण्ड हैं, दक्षिणद्वार पर भद्र व सुभद्र। पश्चिम द्वार पर जय व विजय एवं उत्तरद्वार पर धाता व विधाता विराजमान हैं। इस विशालपुरी के मध्यभाग में अन्तःपुर है। यह मणिमय प्राकार व रत्नमय तोरण द्वारा भूषित है। इसके मध्य में दिव्यमण्डप है जो सहस्र माणिक्य-स्तम्भों द्वारा विधृत है।

पद्मपुराण में पातालखण्ड में नित्य वृन्दावन का विवरण मिलता है। ब्रह्मसंहिता की भाँति यहाँ पर भी सहस्रदल कमल के समान गोकुल का स्वरूप वर्णित हुआ है। इस कमल की कर्णिका ही श्री गोविन्द का स्थान है।

माथुर-मण्डल भी सहस्रदल के समान है। इसका परिमाण विष्णु के सुदर्शन-चक्र जितना है। इस मण्डल में बारह वन प्रधान हैं, उनमें से सात यमुना के पश्चिम में एवं पाँच उसके पूर्व में अवस्थित हैं। इन बारह वनों के नाम इस प्रकार हैं—भद्र, श्री, लौह, भाण्डीर, महा, ताल, खदिरक, बकुल, कुमुद, काम्य, मधु व वृन्दावन। गोकुल महारण्य है। मधुवन व वृन्दावन का प्राधान्य माना गया है। इन सबके अतिरिक्त और भी

अनेक उपवन हैं। वे श्री कृष्ण की विभिन्न प्रकार की लीलाओं के साथ संश्लिष्ट हैं। इन सब लीला-भूमियों में से कदम्बवन, खण्डिकवन, अशोकवन, केतकवन, अमृतवन आदि प्रसिद्ध है। उपवनों की संख्या तीस है। प्रधान वन पूर्वोक्त बारह है। सहस्रदल-कमल की कर्णिका पर सुवर्णपीठ व मणिमण्डप अवस्थित है। इसकी आठ दिशाओं में आठ दल विद्यमान हैं। उनमे से दक्षिण दल में महापीठ विराजित है। अग्निकोण के दल में दो भाग हैं, एक में निकुञ्ज कुटीर है और दूसरे में वीर कुटीर। पूर्व दिशा का दल पवित्रता-सम्पादक के रूप से प्रसिद्ध है। ईशान दिशा का दल सिद्धपीठ है, जहाँ गोपियों ने कात्यायनी-पूजा करके श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था। वस्त्रहरण व अलङ्कार हरण यहीं पर हुआ था। उत्तर दिशा के दल में द्वादश आदित्य अवस्थित हैं। वायुकोण के दल में कालियह्रद प्रतिष्ठित है। पश्चिम दिशा का दल यज्ञपत्नियों को अत्यन्त प्रिय था। अघा-सुर की मोक्ष-प्राप्ति एवं ब्रह्ममोहन इसी दल में हुआ था। नैर्ऋत् कोण के दल में व्योम-वध होना प्रसिद्ध है। शङ्खचूड़-वध इस दल की प्रधान लीला है। इस अष्टदल कमल को लेकर ही वृन्दा-वन की प्रधान क्रीड़ा है। गोपीश्वर-शिवलिङ्ग अष्टदल कमल के अधिष्ठाता हैं। अष्टदल को घेरे हुए षोडशदल वर्तमान है। इसके प्रत्येक दल में ही कोई न कोई लीलास्थल अवस्थित है। दक्षिण दिशा के प्रथम दल में मधुवन की स्थिति है। वहीं चतुर्भुज महा-विष्णु प्रकट हुए थे। द्वितीय दल खदिरवन है। यहाँ गोवर्धन पर्वत पर महालीला हुई थी। प्रसिद्धि है कि यहीं पर श्री कृष्ण नित्य-

वन के पति हुए थे एवं गोविन्दत्व को प्राप्त हुए थे। तृतीय
लि उत्कृष्ट स्थान है – चतुर्थ दल अद्भुत रस की लीलाभूमि
यहाँ पर नन्दीश्वर वन व नन्दालय अवस्थित है। पञ्चमदल
कहाना गोपाल अथवा धेनुपाल हैं। षष्ठ व सप्तम दलों में
नन्दवन व बकुलवन विराजित हैं। धेनुकासुर की वधस्थली
न अष्टम दल में अवस्थित है। नवम दल में कुमुदवन एवं
दल में काम्यवन स्थित है। काम्यवन में देवगण को ब्रह्मा
नुग्रह प्राप्त हुआ था एवं और भी कुछ—एक लीलायें प्रदर्शित
हैं। ग्यारहवें दल में अनेक वन हैं। ये भक्त गणों के लिए
अनुग्रह-साधक हैं। सेतुबन्ध का निर्माण इसी दल से हुआ
बारहवें दल में भाण्डीरवन है, जहाँ श्रीकृष्ण श्रीदाम
के साथ खेलते थे। भद्रवन, श्रीवन एवं लौहवन क्रमशः
, चौदहवें व पन्द्रहवें दलों में स्थित हैं। सोलहवें दल में
है। श्रीकृष्ण की बाल्यलीला, पूतनावध, यमलार्जुन-
आदि यहीं पर हुए थे। पञ्चवर्षीय दामोदर नामक बाल-
इस स्थान के अधिष्ठाता हैं।

पुराणों में कहा गया है कि वृन्दावन का अद्भुत रहस्य
में किसी को भी परिज्ञात नहीं है। पद्मपुराण में श्रीवृन्दा-
जैसा वर्णन है, वह प्रायः ब्रह्मसंहिता के ही अनुरूप है।
स्पष्ट ही लिखित है कि यह स्थल पूर्णानन्द रस का आश्रय
की भूमि चिन्तामणि स्वरूप है, जल अमृत-रस-पूर्ण है,
ही एकमात्र वयस् है, पुरुषमात्र ही विष्णु हैं, एवं स्त्रीमात्र
ही है। वहाँ सबका विग्रह नित्य व आनन्दमय है एवं सभी

के मुख पर हास्य है। दुःख, जरा, मृत्यु, क्रोध, मात्सर्य, भेद-ज्ञान, अहङ्कार आदि यहाँ से सदा के लिए निर्वासित हैं। यहाँ पर कोकिल व भ्रमरों का निनाद, शुक का गान, मयूर का नृत्य, नाना प्रकार का पुष्प-सौरभ, मधुर समीरण, पुष्परेणु का विकिरण, सर्वदा पूर्णचन्द्र का उदय इत्यादि विशेषरूप से लीलाभूमि के सौन्दर्य व माधुर्य को प्रकाशित करते हैं। यहाँ वृक्षादि के अंगों में भी पुलक-सञ्चार होता है एवं प्रेम व आनन्द का अश्रुवर्षण भी दिखाई देता है। यह अत्यन्त गुप्त स्थान है। अष्टकोणात्मक योगपीठ, मणि-रत्नमय सिंहासन, इसके बीच अष्टदलकमल एवं कमल की कर्णिका में परम स्थान है। यह गुणातीत महाधाम है।

जिस सिंहासन पर श्रीराधागोविन्द उपविष्ट हैं, उसके बाह्य प्रदेश में योगपीठ एवं ललितादि सखियाँ अवस्थित हैं। पश्चिम मे ललिता, वायुकोण में श्यामला, उत्तर में धन्या, ईशानकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा एवं नैर्ऋत में भद्रा प्रतिष्ठित हैं। राधिका मूला प्रकृति हैं, ललितादि उनकी अंशस्वरूपा हैं।

योगपीठ के केशराग्र में चन्द्रावली का स्थान है। चन्द्रावती, चन्द्रावलो, चित्ररेखा, चन्द्रा, मदनसुन्दरी, कृष्णप्रिया, मधुमती व चन्द्ररेखा इन आठ प्रकृतियों एवं पूर्व-वर्णित अष्ट सखियों के परस्पर मिलने पर षोडश प्रकृतियों का विकास होता है। इन सब प्रकृतियों के आगे सहस्र-सहस्र किशोरी गोपकन्यायें विराजमान हैं, जिनके दक्षिणांश में श्रुतिकन्यागण व वामांश में देवकन्या-

गण दिव्य अलङ्कारों से विभूषित होकर सङ्गीत आदि के द्वारा लीलारस की पुष्टि साधन कर रही हैं।

यहाँ तक श्रीकृष्ण के मन्दिर का अन्तरङ्ग भाग समझना चाहिए। मन्दिर के बाह्य प्रदेश में प्रियनर्मसखागण अवस्थित हैं। इन सबका ही वयस्, वेश, वस्त्र, पौरुष, गुण, कर्म, भूषण व वेणुवादन श्रीकृष्ण के ही अनुरूप है। मन्दिर के बाहर पश्चिम द्वार पर श्रीदाम, उत्तर द्वार पर वसुदाम, पूर्व द्वार पर सुदाम और दक्षिण द्वार पर किङ्किणी अवस्थित हैं। इनके बाहर सुवर्णमय मन्दिर हैं—प्रत्येक मन्दिरमें स्वर्णवेदी है एवं उसके ऊपर सुवर्णमय पीठ है। इस पीठ पर स्वर्णालङ्कार-भूषित गोपाल-मूर्त्ति विराजमान है। चारों ओर इसी प्रकार की अपरूप गोपाल-मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। किसी का नाम स्तोक-कृष्ण, किसी का नाम 'अंशुभद्र' इत्यादि है। सभी के हाथ में शृंग, वीणा व वेत्र है। वयस्, वेश, आकार व स्वर सभी का एक ही प्रकार का है। इन सब गोपालों के चारों ओर क्षीरस्रावी गौएँ विराजित हैं। गोपालमण्डल के बाहर कोटि-सूर्य की भाँति उज्ज्वल सुवर्ण-प्राचीर है। इस प्राचीर के चारों ओर चार महावन हैं। पश्चिम दिशा का वन महोद्यान के नाम से प्रसिद्ध है। यह पारि-जात वृक्षों का वन है। पारिजात वृक्ष के नीचे स्वर्णमन्दिर है, उसमें सुवर्णमय पीठ है। इस पीठ के ऊपर दिव्य सिंहासन पर चतुर्भुज वासुदेव मूर्त्ति विराजित है। उनकी अष्ट-महिषी अर्थात् रुक्मिणी, सत्यभामा, सुलक्षणा, नाग्नजिती, मित्रवृन्दा, अनुवृन्दा, सुनन्दा व जाम्बवती एवं उद्धव आदि भक्त-पारिषद गण उनको घेरे हुए हैं। उत्तर दिशा का महावन हरिचन्दन वृक्षोंका है।

इसमें भी पहले के समान मन्दिर व सिंहासन हैं, जिन पर सङ्कर्षण या बलराम रेवती-सहित विराजमान हैं। वे नीलाम्बरधारी हैं एवं मधुपान में मत्त हैं। दक्षिण दिशा के निकुञ्जवन में सन्तानक वृक्ष के नीचे प्रद्युम्न (कामदेव व रति) विराजमान हैं। पूर्वदिशा के कल्प वृक्ष के नीचे अनिरुद्ध व उषा पूर्ववत् मन्दिर व सिंहासन में विराजमान हैं। ये चारों चतुर्व्यूह नाम से प्रसिद्ध हैं। ऊपर की ओर आकाशमण्डल में किरीट व कुण्डलधारी चिन्मय विष्णु-विग्रह परिदृष्ट होता है। यह निष्काम भक्तों का स्थान है। भगवान् के बाँयीं ओर यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, किन्नर अपने-अपने स्थान में अवस्थित हैं, एवं अप्सरायें नृत्य कर रही हैं। आगे प्रह्लाद, नारद, शुकदेव, सनत्कुमार प्रभृति भक्तगण वर्तमान हैं। इसके बाहर उच्च स्फटिकमय प्राचीर है। यह नाना वर्णों से उज्ज्वल है। इसके चारों द्वारों पर चार विष्णु द्वारपाल के रूप में विराजित हैं। इन सभी का वर्ण पृथक् पृथक् है। जो पश्चिम-द्वार पर हैं इनका शुक्लवर्ण है, उत्तर दिशा वाले रक्तवर्ण के हैं, पूर्व के गौर एवं दक्षिण के कृष्ण वर्ण के हैं।

इससे पहले यन्त्रात्मक भगवद्धाम का किञ्चिद् आभास संक्षिप्त रूप में दिया गया है। गोलोक वैकुण्ठ, वृन्दावन, गोकुल आदि सभी यन्त्ररूपी हैं। इसका किञ्चित् विवरण तो दिया गया है, किन्तु सम्यक् परिचय नहीं दिया गया है, क्योंकि यह धाम गठन के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हुआ करता है। पद्मपुराण में वैकुण्ठधाम का वर्णन है। भक्तप्रवर रामानुजाचार्य ने भी अपने तीन गद्यग्रन्थों में वैकुण्ठधाम का वर्णन किया है।

पौराणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रसङ्गतः वैकुण्ठ-धाम का वर्णन पाया जाता है। किन्तु यह सब पूरी तरह एक जैसा नहीं है। ठीक इसी प्रकार गोलोक-धाम का वर्णन भी अनेक स्थानों पर पाया जाता है। श्वेतद्वीप गोलोक-धाम का ही नामान्तर है। इसके अन्तर्गत सहस्र-पत्रात्मक गोकुल-पद्म भक्त समाज में प्रसिद्ध है। माथुर-मण्डल इस धाम का ही दूसरा नाम है। व्रज-भूमि का सन्निवेश विभिन्न स्थलों पर विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। अवश्य, मूल रहस्य सर्वत्र मूलतः एक ही है। गोकुल व श्रीवृन्दावन का वर्णन पद्मपुराण में एवं अन्यान्य पुराणों में भी आंशिक भाव से उपलब्ध होता है। गोपाल-चम्पू में इसी विवरण के अनुरूप विवरण दिया गया है। लघु ब्रह्मसंहिता एवं जीव-गोस्वामी कृत उसकी टीका में भी इस सम्बन्ध में कुछ-कुछ वर्णन देखने में आता है।

इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि साधक की वासना का भेद ही धामगत वैचित्र्यानुभूति का कारण है। किन्तु यह सब वैचित्र्य तात्त्विक नहीं है, प्रासङ्गिक मात्र है। असली बात यही है कि धाम का मूल तत्त्व यन्त्र है, एवं यन्त्र का मूल तत्त्व मन्त्र है। सुतरां मन्त्र के मूलतत्त्व को आश्रय बना कर यन्त्र को प्रस्फुटित कर पाने पर यन्त्र का विकास स्वभावतः ही सिद्ध होता है। यन्त्र के बिना महाचैतन्य को आयत्त करके कार्य में परिणत नहीं किया जा सकता। महाचैतन्य में सब कुछ है, अथच कुछ भी नहीं है। जो जिसे प्राप्त होने की इच्छा करते हैं, वे उससे सुकौशल से उसे प्राप्त हो सकते हैं। यन्त्र मुक्त शक्ति को नियन्त्रित

करने का कौशल मात्र है। शक्ति को यन्त्र में बद्ध न कर पाने पर उसके द्वारा स्वानुरूप कार्य-साधना भी असम्भव है। क्योंकि मुक्त-शक्ति-बद्धता स्वीकार नहीं करती। उसके द्वारा कोई कार्य भी सिद्ध नहीं होता। यन्त्र—मन्त्र व बीज को उपजीव्य रूप से आश्रय बनाकर आत्म-प्रकाश करता है। इसी कारण यन्त्र की इतनी महिमा है। यन्त्ररहस्य परिज्ञात रहने पर महाचैतन्य से जो जिसकी इच्छा करते हैं उसी को दोहन करके बाहर निकाल सकते है। जो यन्त्रविज्ञान से अभिज्ञ हैं वे यन्त्र की सहायता से इच्छानुरूप स्फुरण कर सकते हैं। यन्त्र के बीच वर्ण का एवं वर्णसमष्टिजात बीज का तत्तत्स्थान में आधान कर पाने पर यन्त्र का वैशिष्ट्य निष्पन्न होता है। आधान के सम्बन्ध में वैशिष्ट्य रहने पर उसके फलस्वरूप यन्त्र में भी वैशिष्ट्य दिखाई देता है। महानारायण उपनिषद् में वैकुण्ठ के यन्त्र का निर्देश है। यह भी इस प्रसंग में आलोच्य है।

यन्त्र इष्ट देवता का गृह स्वरूप है, सुतरां यन्त्रविज्ञान प्राप्त करके उसके मूल मन्त्र का एवं बीज के आलोक का प्रक्षेप कर पाने पर यन्त्रानुरूप भगवद्धाम प्रस्फुटित हो उठता है। इस प्रसंग में अधिक आलोचना को अनावश्यक समझ कर छोड देते हैं।

पहले श्री कृष्ण-तत्त्व एवं श्री राधा-तत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये दोनों तत्त्व ही त्रिपुरसुन्दरी के साथ विशेष रूप से सम्बन्ध रखते हैं। त्रिपुरसुन्दरी ललिता के नाम से कुञ्जाधिष्ठात्री मुख्य सखी के रूप से वृन्दावन-लीला में स्थान पाए हुए हैं, यह

विष्णु का स्थान है। ये ही सहस्रशीर्षा पुरुष हैं एवं श्रीकृष्ण के अंश के अंश से उद्भूत हैं। जिस कारणार्णव की बात पहले कहा गया है, वह इन महाविष्णु के मुख से उद्भूत है। उसी सलिल में महासङ्कर्षण अवस्थित हैं, जिनको शय्या बनाकर शेषशायी भगवान् जाग्रत्-स्वरूप होकर भी सुप्तवत् विद्यमान रहते हैं। जगत् की सृष्टि एवं प्रलय इन्हीं के निश्वास व प्रश्वास रूप हैं। ये महायोगी कारणसमुद्र में अर्द्धनिमीलित नेत्रों से गोविन्द के चरणों के ध्यान में मग्न रहते हैं। इनके वाम पार्श्व में महालक्ष्मी (जो श्रीराधा के अंग से उद्भूत हैं) अर्द्ध-उन्मीलित नयनों से उन्हें व्यजन करती है। परम पुरुष गोविन्द के ध्यान से महाविष्णु के अंग में पुलक उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोम में ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है। अन्तराल में श्रीराधा के चिन्तन से नयन-कोणों से अश्रुधारा निर्गत होती है। वाम चक्षु से यमुना, दक्षिण से गंगा एवं मध्यम से गोमती उद्भूत होती हैं। ये तीनों धारायें पुनः कारणसमुद्र में प्रविष्ट होती हैं। ये ही जगत् में तमः (कृष्णवर्ण) सत्त्व (शुभ्रवर्ण) व रजः (रक्तवर्ण) नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके ऊपर त्रिपुरसुन्दरी का लोक है। इनका पूर्णयन्त्र जो श्रीयन्त्र के नाम के प्रसिद्ध है, यहाँ विराजमान है। ये कृष्ण से उत्पन्न तथा स्वयं कृष्णरूपा हैं, चतुर्भुज एवं रक्तवर्ण हैं। ये ही शुक्लवर्णा वाणी, पीतवर्णा भुवनेश्वरी, रक्तवर्णा त्रिपुरसुन्दरी, श्यामवर्णा कालिका एवं कृष्णवर्णा नीलसरस्वती हैं। पराशक्ति दुर्गा साक्षात् कृष्णस्वरूपा हैं—'दुर्गाख्या पराशक्तिः साक्षात्

राधा व कृष्ण की विपरीत रति से दुर्गा व राम उत्पन्न होते हैं। दुर्गा ही गोविन्द एवं राम हैं अथवा संकर्षण ही राधा हैं। संकर्षण को नित्यसृष्टि के लिए महाविष्णु के उदर में प्रविष्ट कराया जाता है। महाविष्णु की नाड़ी में जाकर सङ्कर्षण कुण्डली का आकार धारण कर लेते हैं एवं सहस्रमुख होकर मुखरन्ध्र से बहिर्गत होते हैं। महाविष्णु अखिल ब्रह्माण्ड का सृजन, धारण व संहार करते हैं। उनके ऊर्ध्वस्थ मध्य फणाचक्र में गौरीपुर नामक चक्र है। वहाँ दुर्गा भुवनेश्वरी के रूप में विराजमान हैं। गौरी-लोक के पूर्व में जो देवी हैं, वे कभी श्यामा हैं, कभी कनकप्रभा चतुर्भुजा, शंख, चक्र, शूल व मुद्गर-धारिणी हैं। उनके निकट ही कालरूपा कालिका अवस्थित हैं। चक्र के दहिनी ओर नील-सरस्वती या उग्रतारा या एकजटा का स्थान है। चक्र से पश्चिम ओर शुक्लवर्णा शुभ्र सत्त्वमयी ब्रह्म-वाग्वादिनी नित्या अवस्थित है। पीतवर्णा भुवनेश्वरी छिन्नमस्ता के रूप में परिणत होती हैं।

इस चक्रराज के उत्तर की ओर योगिनी गण एवं डाकिनी-लाकिनी से घिरी योगिनी-गण अवस्थान करती हैं। भुवनेश्वरी चक्रराज के उत्तर में, छिन्नमस्ता पश्चिम में, वाणी की दाहिनी ओर नीलसरस्वती एवं पूर्व में श्यामा, दुर्गा व कालिका हैं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर लोक-संस्थानों का एवं साथ ही साथ दिव्य मण्डलों की अवस्थिति का सविशेष वर्णन कृष्णयामल महातन्त्र में प्राप्त होता है। श्रीकृष्णतत्त्व के रहस्य-प्रतिपादन के लिये ही इस ग्रन्थ का आविर्भाव है। यहाँ पर उसका अधिक विश्लेषण अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया जाता है।

सत्य है। किन्तु यही अन्तिम बात नहीं है। वासुदेव त्रिपुर-सुन्दरी के रूपान्तर एवं कामकला के प्रतीक स्वरूप हैं। राधा भी वही हैं। इनमें जो अति सूक्ष्म पार्थक्य है, उसे यहाँ छोड़ देते हैं। प्रसिद्ध है कि हरिनाम रूप महामन्त्र के ऋषि वासुदेव हैं, छन्द गायत्री है एवं देवता स्वयं त्रिपुरा हैं। 'वासुदेवरहस्य' नामक ग्रन्थ में यह उल्लिखित है। यथा —

'[illegible] मन्त्रस्य वासुदेव ऋषिः स्मृतः ।
गायत्री छन्द इत्युक्तं त्रिपुरा देवता स्मृता ॥'

इस ग्रन्थ से जाना जाता है कि महादेव के आदेश से वासुदेव त्रिपुरसुन्दरीका भजन करते हैं। ये सुन्दरी दश महाविद्याओं में श्रेष्ठ हैं। ये शिव के हृदय में स्थित हैं। वाग्भवकूट (जिसका दूसरा नाम त्रैलोक्यमोहन है), कामराजकूट व शक्तिकूट सम्मिलित भाव से महाविद्या का मन्त्र हैं। त्रिपुरा वासुदेव की तपस्या से प्रसन्न होकर उनके निकट आविर्भूत हुई एवं उसने उनको शक्तियुक्त होकर कुलाचार अवलम्बन पूर्वक साधन करने का आदेश दिया। लक्ष्मी त्रिपुरा की अंशरूपा हैं। उनको सङ्गी बनाकर उनकी सहकारिता में युक्तभाव से साधना का उपदेश दिया जाता है। हरिनाम द्वारा दश से द्वादश वर्ष तक कर्णशुद्धि आवश्यक है; यह भी देवी के वचन से प्रतीत होता है। हरिनाम का रहस्य नाम साधन के प्रसङ्ग में कहा जायगा। आपाततः यह जान रखना आवश्यक है कि रहस्य को छोड़कर केवल मन्त्र का जप करने से कोई फल नहीं प्राप्त होता।

पहले जिस कामकलातत्त्व की बात कही गयी है, इस रहस्य की आलोचना में भी अन्य प्रकार से उसी का आभास

प्राप्त होता है। क्योंकि कृष्णनाम के रहस्य-वर्णन के प्रसंग से समझा जा सकता है कि इस नाम के अवयवभूत 'क' काम का वाचक है, 'ऋ' श्रेष्ठ शक्ति है, दोनों के संयोग से 'कृ' कामिनी अथवा काम-कला-तत्त्व का वाचक है। 'ष्' पूर्ण प्रेमावस्था में विद्यमान अमृत-नाम्नी षोडशी कला है। 'ण' निर्वाण स्वरूप है। दोनों का समन्वय होने पर साक्षात् त्रिपुरा ही अभिहित होती है। दूसरी ओर हरिनाम का रहस्य भी इसी महातत्त्व का इङ्गित समझा जा सकता है। 'ह' = शिव; 'र्' = दशमूर्त्तिमयी त्रिपुरा, ए = भग अथवा योनि। सुतरां 'हरे' अथवा 'हरि' शब्द साक्षात् त्रिपुराका ही वाचक है—'हरिस्तु त्रिपुरा साक्षात् मम मूर्त्तिर्न संशयः।'

श्रीकृष्ण के साथ त्रिपुरा का यह जो सम्बन्ध दिखाया गया, यह किसी-किसी ग्रन्थ में और भी स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट हुआ है। श्रीकृष्णयामल महातन्त्र में उल्लिखित हुआ है कि ऊर्ध्वलोक के अन्तर्गत स्वर्ग, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक व सत्यलोक सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मलोक के ऊपर चतुर्व्यूह का स्थान है। वैकुण्ठ के दाहिनी ओर सङ्कर्षण हैं। वैकुण्ठ के नीचे व पश्चिम की ओर प्रद्युम्न या कामदेव हैं। काम के ऊपर व उत्तर की ओर अनिरुद्ध एवं पूर्व की ओर वासुदेव हैं। ये सब स्थान ही सत्यलोक के ऊपर एवं वैकुण्ठ के नीचे अवस्थित हैं। चतुर्व्यूह के ऊपर ज्योतिर्मय वैकुण्ठधाम या परव्योम है। यह चतुर्व्यूह-उपलक्षित चतुरस्र के मध्य में अवस्थित है। इसके ऊपर कौमार लोक है, जहाँ ब्रह्माण्डरक्षक कार्त्तिकेय अवस्थान करते हैं। इनके ऊपर महा-

विष्णु का स्थान है। ये ही सहस्रशीर्षा पुरुष हैं एवं श्रीकृष्ण के अंश व अंश में उद्भूत हैं। जिस कारणसलिल की बात पहले कही गयी है, वह इन महाविष्णु के मुख में उद्भूत है। उसी सलिल में सहस्रफणा अवलम्बन हैं, जिनको शय्या बनाकर शेषशायी भगवान् जाग्रत्-स्वरूप होकर भी सुप्तवत् विद्यमान रहते हैं। जगत् की सृष्टि एवं प्रलय इन्हीं के निश्वास व प्रश्वास रूप हैं। ये महायोगी कारणसमुद्र में अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से गोविन्द के चरणों के ध्यान में मग्न रहते हैं। इनके वाम पार्श्व में महालक्ष्मी (जो श्रीराधा के अंग से उद्भूत हैं) अर्द्ध-उन्मीलित नयनों से उन्हें व्यजन करती है। परम पुरुष गोविन्द के ध्यान से महाविष्णु के अंग में पुलक उत्पन्न होता है। प्रत्येक रोम में ब्रह्माण्ड का आविर्भाव होता है। अन्तराल में श्रीराधा के चिन्तन से नयन-कोणों से अश्रुधारा निर्गत होती है। वाम चक्षु से यमुना, दक्षिण से गंगा एवं मध्यम से गोमती उद्भूत होती हैं। ये तीनों धारायें पुनः कारणसमुद्र में प्रविष्ट होती हैं। ये ही जगत् में तमः (कृष्णवर्ण) सत्त्व (शुभ्रवर्ण) व रजः (रक्तवर्ण) नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनके ऊपर त्रिपुरसुन्दरी का लोक है। इनका पूर्णयन्त्र जो श्रीयन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है, यहाँ विराजमान है। ये कृष्ण से उत्पन्न तथा स्वयं कृष्णरूपा हैं, चतुर्भुज एवं रक्तवर्ण हैं। ये ही शुक्लवर्णा वाणी, पीतवर्णा भुवनेश्वरी, रक्तवर्णा त्रिपुरसुन्दरी, श्यामवर्णा कालिका एवं कृष्णवर्णा नीलसरस्वती हैं। पराशक्ति दुर्गा साक्षात् कृष्णस्वरूपा हैं—'दुर्गाख्या पराशक्तिः साक्षात् कृष्णस्वरूपिणी'।

राधा व कृष्ण की विपरीत रति से दुर्गा व राम उत्पन्न होते हैं। दुर्गा ही गोविन्द एवं राम हैं अथवा संकर्षण ही राधा हैं। संकर्षण को नित्यसृष्टि के लिए महाविष्णु के उदर में प्रविष्ट कराया जाता है। महाविष्णु की नाड़ी में जाकर सङ्कर्षण कुण्डली का आकार धारण कर लेते हैं एवं सहस्रमुख होकर मुखरन्ध्र से बहिर्गत होते हैं। महाविष्णु अखिल ब्रह्माण्ड का सृजन, धारण व संहार करते हैं। उनके ऊर्ध्वस्थ मध्य फणाचक्र में गौरीपुर नामक चक्र है। वहाँ दुर्गा भुवनेश्वरी के रूप में विराजमान हैं। गौरी-लोक के पूर्व में जो देवी हैं, वे कभी श्यामा हैं, कभी कनकप्रभा चतुर्भुजा, शंख, चक्र, शूल व मुद्गर-धारिणी हैं। उनके निकट ही कालरूपा कालिका अवस्थित हैं। चक्र के दहिनी ओर नील-सरस्वती या उग्रतारा या एकजटा का स्थान है। चक्र से पश्चिम ओर शुक्लवर्णा शुभ्र सत्त्वमयी ब्रह्म-वाग्वादिनी नित्या अवस्थित है। पीतवर्णा भुवनेश्वरी छिन्नमस्ता के रूप में परिणत होती हैं।

इस चक्रराज के उत्तर की ओर योगिनी गण एवं डाकिनी-लाकिनी से घिरी योगिनी-गण अवस्थान करती हैं। भुवनेश्वरी चक्रराज के उत्तर में, छिन्नमस्ता पश्चिम में, वाणी की दाहिनी ओर नीलसरस्वती एवं पूर्व में श्यामा, दुर्गा व कालिका हैं।

इस प्रकार उत्तरोत्तर लोक-संस्थानों का एवं साथ ही साथ दिव्य मण्डलों की अवस्थिति का सविशेष वर्णन कृष्णयामल महातन्त्र में प्राप्त होता है। श्रीकृष्णतत्त्व के रहस्य-प्रतिपादन के लिये ही इस ग्रन्थ का आविर्भाव है। यहाँ पर उसका अधिक विश्लेषण अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया जाता है।

श्रीकृष्णतत्त्व व श्रीरामतत्त्व के सम्बन्ध में योग्य जनों द्वारा कुछ-कुछ रहस्य-प्रकाश किया गया है। यह अवश्य ही प्रसिद्ध है कि श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम एवं श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। मूल में पुरुषोत्तम-तत्त्व भाव-भेद में श्रीकृष्ण व श्रीराम के रूप में ही प्रकाशमान है।

शुकसंहिता में कहा जाता है कि यह तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है। यहाँ तक कि ज्ञानी भी इस की धारणा नहीं कर सकते। इस ग्रन्थ में पञ्चदश धारणाओं का उल्लेख है। इन पञ्चदश धारणाओं में से प्रथम पाँच धारणायें पञ्चभूतों को आश्रय करके हुआ करती हैं। इनके पश्चात् षष्ठ धारणा मनोमया है एवं सप्तम धारणा उन्मनी है। इसका विषय व्यक्त अथवा अव्यक्त मायिक प्रकृति है। इसके पश्चात् परम शून्य को आश्रय करके परशून्यमयी अष्टम धारणा का उदय होता है। इस परशून्य के पश्चात् ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। किन्तु यह सगुण ब्रह्म है, इस कारण नवम धारणा ब्रह्मविषयिणी है। दशम धारणा निर्गुण ब्रह्म विषयक है। यहीं पर निर्विशेष धारणा परिसमाप्त हो जाती है। ग्यारहवीं धारणा में रामतत्त्व का स्फुरण होता है। किन्तु राम एकाकी हैं उनकी स्वरूप-शक्ति का विकास नहीं है। द्वादश धारणा में स्वरूप-शक्ति का उन्मेष होता है। इस कारण सीताराम का युगलरूप इसका विषय है। यह पूर्ण सच्चिदानन्दमयी अवस्था है। यद्यपि स्वरूप-शक्ति का विकास हुआ है, तथापि अभी भी लीला का आविर्भाव नहीं हुआ है। किन्तु त्रयोदशी धारणा नित्य लीलारस के आनन्द को आश्रय करके उद्भूत होती है।

चतुर्दशी धारणा गोपलीला रस रूपी आनन्द का आश्रय लेकर उद्भूत होती है। यह परिपूर्ण ब्रह्मरसानन्दमय है। पञ्चदशी धारणा वल्लभाश्रय है। तब योगी स्वयं कान्ता होकर कान्तरूपी भगवान् को प्राप्त हुआ करते हैं। यही पूर्ण व सहज अवस्था है। यह पूर्ण प्रेमरसानन्दमय है।

इस प्रकार पञ्चदश धारणाओं के ज्ञान से पूर्ण कलाओं का विकास होता है। इसी का दूसरा नाम है मुक्ति-लाभ।

प्रसिद्धि है कि एक बार शुकदेव गोलोक धाम का दर्शन करने गये थे। वहाँ जाकर उन्होंने परमानन्दमय वृन्दावन एवं अन्यान्य भगवान् के लीलास्थलों का दर्शन किया। उन्होंने देखा कि दिव्य श्रीयमुना के तीर पर वंशीवट तरु के मूलदेश में गोपीगण के साथ श्यामसुन्दर नृत्य कर रहे हैं—

> 'अत्र ब्रह्मादयो देवाः कोटिजन्मार्जितैः शुभैः।
> गोपिकाभावमासाद्य रमयन्ति पुनः पुनः॥
> ऋषयः श्रुतयश्चैव गोपिकाभावभाविताः।
> क्रीडन्ति प्रभुणा सार्कं महासौभाग्यमण्डिताः॥'

यहीं शुकदेव ने परीक्षित् का दर्शन पाया था। परीक्षित् ने उनसे कहा कि उन्हीं की कृपा से भागवत-श्रवण करके उन्होंने नित्यलीलामय गोलोक धाम में रामतत्त्व का आस्वादन पाया है। और भी कहा कि एक दिन वृन्दावन के तटपर श्रीकृष्ण के लीला-विहार के समय श्रीकृष्ण के ही अनुरूप सौन्दर्य, माधुर्य, वीर्य, वयस् व गुणसम्पन्न एक स्निग्ध-श्यामल देह वाले पुरुष आये। ये ही श्रीरामचन्द्र हैं। तब श्रीकृष्ण के उस देह में प्रविष्ट होने के साथ ही साथ ये आगन्तुक पुरुष वनमाला व मुरली धारण करके

रासमण्डल में गोपीमण्डल-मध्यस्थ हो कर पहले की भाँति नृत्य करने लगे।

उत्कल के वैष्णव गणों ने, विशेषतः जो श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा अनुप्राणित हो कर भावराज्य में प्रविष्ट हुए, श्रीकृष्ण एवं नित्यलीलातत्त्व का नानाप्रकार से विश्लेषण किया है। इनका सिद्धान्त एवं बङ्गीय वैष्णवगणों का सिद्धान्त पूरी तरह अभिन्न नहीं है। विशेष आलोचना करने पर देखा जाता है कि तान्त्रिक-साधना के अनेक गुह्य रहस्यों का उत्कलीय वैष्णवगणों के सिद्धान्त में प्रकाश हुआ है।

महापुरुष यशोवन्त दास ने प्रेमभक्ति की आलोचना के प्रसङ्ग में श्रीकृष्णतत्त्व, श्रीराधातत्त्व, युगलरहस्य, योगमायातत्त्व एवं नित्यलीला के वैशिष्ट्य का सुचारु वर्णन किया है। वे कहते हैं—सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् ही थे—तब चारों ओर शून्यमय था। वस्तुतः शून्य का आविर्भाव महाशून्य-रूप भगवज्ज्योतिः से ही होता है। इस प्रकार भगवत्सत्ता चिन्मण्डल में विराजमान रहती है। भगवत्-स्वरूप अक्षरों के अधीन होने से निराकार चिन्मय है। 'मैं' भाव शून्य के बीच बुद्बुद की भाँति उठता है। सृष्टि की इच्छा उदित होने से पहले आत्मा योग-युक्तावस्था में आत्माराम-स्वरूप में अवस्थित रहता है। किन्तु जब सृष्टि की वासना स्फुट हो उठती है तब निर्गुण ब्रह्मसत्ता में प्रकृति का आविर्भाव होता है। यह प्रकृति पञ्चकलाविशिष्ट है। उसकी पाँच कलाओं के नाम हैं—ऊर्मि, घूर्णि; ज्योतिः, ज्वाला व बिन्दु। प्रकृति चित् व अचित् का मिश्रण है। पाँचों कलाओं के वर्ण एवं वेद पृथक्-पृथक् हैं।

अर्थात् ऊर्मिकला का वर्ण श्वेत, वेद ऋक है। घूर्णिकला का वर्ण पीत, वेद यजुः है। ज्योतिःकला का वर्ण लोहित, वेद साम है। ज्वाला कला का वर्ण कुङ्कुम जैसा है, वेद अथर्व है। बिन्दुकला का वर्ण श्याम व वेद शिशु है। ये पंचम वेद को मूलस्वरूपा हैं। ये पाँच कलायें कारण सलिल में पतित होने पर योगमाया का आविर्भाव होता है। योगमाया विश्व में भगवान् की लीला की योजना करती हैं। ये सृष्टि का मूल हैं। इस कारण भक्तसम्प्रदाय में इनका आदिशक्ति अर्द्धमात्रा के नाम से वर्णन किया जाता है।

योगमाया के आविर्भाव के पश्चात् कमलरूपी कालपुरुष की उत्पत्ति होती है। यह कालरूपी कमल कारण-समूह में स्थिर हो कर नहीं रह सकता। तब योगमाया अथवा अर्द्धमात्रा अपने अङ्ग से ॐकार का उत्पादन करती हैं। ॐ के उपरिभाग अर्थात् नाद व बिन्दु अर्द्धमात्रा के साथ संसृष्ट हैं, एवं वही व्रजलीला नाम से कहे जाते हैं। यह व्रजलीला ज्योतिलिङ्ग है। यह ज्योतिर्लिंग एवं अर्द्ध-मात्रा दोनों युक्त हो कर सृष्टि का विकास करते हैं। इस ज्योतिर्लिङ्ग का ही कोई-कोई विराट् नाम से निर्देश करते हैं। समयविशेष व स्थलविशेष में ये अनन्त या शेष या बलभद्र के नाम से अभिहित होते हैं। योगमाया शक्तिरूप से मध्यस्थान में अधिकार करती हैं। योग-माया व ज्योतिर्लिङ्ग आदिप्रकृति व आदिपुरुष के रूप से परि-णाम प्राप्त होते हैं। योगमाया या अर्द्धमात्रा के साथ बिन्दु का योग ही प्रणव अथवा ऊंकार है। पूर्वोक्त बिन्दु ब्रह्मस्वरूप में अनाकार की अवस्थिति है, ऐसा समझना होगा। भगवान् प्रकृति में स्वयं प्रवेश करके क्रम-भेद के अनुसार विभिन्न नाम धारण

करते हैं। एकमात्र अपनी प्रकृति ही प्रकृति-पदवाच्य है। योगमाया इन्हीं की शक्ति है। जो ज्योतिर्लिङ्ग योगमाया में रत है, वह भी वही हैं। बिन्दु के बीच में अनक्षर ब्रह्म अनाकार रूप से अवस्थित हैं। स्वर्णाकृति विशिष्ट अनन्त बिन्दुओं से आविर्भूत होती है। अनन्त का ही सुषुम्णा नाड़ी के नाम से वर्णन किया जाता है। इस नाड़ी के ध्यान से शिशुवेद की उपलब्धि होती है अर्थात् निस्त्रैगुण्य लोक में स्थितिलाभ होता है।

उत्कलीय वैष्णवगण कहते हैं कि महामाया ने अपने आविर्भाव के रहस्य को जानने की इच्छा से शून्य में दृष्टिपात किया। त्यों ही देखने में आया कि ज्योतिः, अग्नि, हिम व बिन्दु एक के आगे एक क्रमशः अवस्थित हैं। यहाँ शून्य ब्रह्म अपनी महिमा में विराजमान है। शून्य से ऊर्मि, घूर्णि, ज्योतिः व ज्वाला के साथ महारस निरन्तर झरने लगा। यह रस पान करके महामाया गर्भवती हुई। दो हाथों से दो अञ्जलि पान करने के फलस्वरूप वामभाग से स्त्री व दक्षिण भाग से पुरुष का आविर्भाव हुआ। भगवान् अपनी प्रकृति की शक्तिरूपिणी योगमाया में अपनी कलाओं के सहित प्रवेश कर के जीव व परम नामक दो मूर्ति धारण करते हैं। इन दोनों मूर्तियों का नाम राधा व कृष्ण है। यह युगलाङ्ग शिशुमूर्त्ति भूमि में गिर कर प्राणशून्य हो जाती है। योगयुक्त अवस्था में अवस्थान ही इस रूपक का तात्पर्य प्रतीत होता है। यहाँ पर योगमाया की विद्या व अविद्या शक्तिमयी एवं चित् व अचित् उपादानमयी के रूप में परिकल्पना हुई है। अचित् भाव की प्रबलता के समय योगमाया अविद्यामयी है तब गर्भ पर उनके

दबाव डालते ही गर्भ अकाल में ही भूमि पर गिर गया व शिशु में से प्राण बाहर निकल गए। यही योगयुक्त अवस्था की सूचना है। इसके पश्चात् योगमाया ने भगवान् के निकट युक्त स्वरूप में लीला की अभिलाषा प्रकट की। तब लीला के उपयोगी शक्ति पिण्ड में खेलने लगी। तब से वे लीलामयी हुईं। जीव व परम के बीच सर्वदा चित् से क्रीड़ा चल रही है। यह दोनों मूर्त्ति राधा-कृष्ण, राम नाम धारण करती हैं। समीप ही षोडश शक्तियाँ प्रकाशित होती हैं। इन सब शक्तियों के नाम हैं---श्री, भू, कीर्त्ति, इला, लीला, कान्ति, विद्या, विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रभा, सत्ता, ईशाना व अनुग्रहा। हंस व परमहंस रूपी जीव व परम वहाँ विराजमान रहते हैं। योगमाया के आश्रित होकर जीव व परम को अर्थात् राधा व कृष्ण की नित्यलीला चल रही है। बिन्दु से उत्पन्न परब्रह्म श्रीकृष्ण ही 'म' कार हैं, इनका वर्ण श्याम है। 'रा' है राधा अथवा जीव। यह चार कलाओं से उत्पन्न है एवं इसका वर्ण श्वेत है। ऊर्मि आदि चार कलाओं से जीव-रूपी राधा उत्पन्न होती है एवं बिन्दु से परब्रह्मरूपी श्रीकृष्ण आविर्भूत होते हैं। जीव जिस समय परम के साथ समाधि में मग्न रहता है तब वह मृत अर्थात् लीलाशून्य अवस्था में विद्यमान रहता है। दूसरी ओर जब दोनों में लीला की वासना जाग उठती है, तब वह राम-नाम में आत्म-प्रकाश करता है। लीला-मय अवस्था के महत्त्व की उपलब्धि करने के पक्ष में जो लोग सुख देख कर आत्मप्रसाद पाते हैं, वे मुक्ति के अधिकारी हैं। उनको कभी भी पाप स्पर्श नहीं करता। इसके बीच भृगु व अगस्त्य प्रभृति ऋषियों के नाम उल्लेखनीय हैं। राधा श्रीकृष्ण के मुख से जीव

ने परमतत्त्व का रहस्य सुनकर कुछ-एक प्रश्न पूछती हैं। उनमें से प्रधान प्रश्न यही था कि रास लीला में राधा के अन्य की स्त्री के रूप में प्रगट होने एवं श्रीकृष्ण के स्वयं जार पुरुष के रूप में जगत् के अपलाप का भाजन बनने में कारण क्या है? इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक बार नित्य मण्डल में राधा के अङ्ग से क्लान्ति के कारण स्वेदबिन्दु क्षरित हो कर क्षीर सागर में गिरे। उसमें एक नीलवर्णी कन्या आविर्भूत हुई, जिसको वरुण ने विष्णु-महिषी महालक्ष्मी समझा। यह कन्या प्रतिदिन ब्रह्मा के घर में विष्णु को पति रूप में पाने की कामना करती एवं गंगातट पर बालू द्वारा पूजा करती थी। किसी समय एक यति ने इस कन्या के रूप पर आकृष्ट होकर उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। तब कन्या ने क्रोध से उस नपुंसक हो जाने का अभिशाप दिया। इस यति ने इसके बाद तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया एवं उस कन्या की प्राप्ति के लिए वर माँगा। भगवान् ने उसकी मनोवाञ्छा पूर्ण की। इस कन्या ने द्वापर में चन्द्रसेना के नाम से गोपकुल में जन्म लिया। कहना न होगा राधा स्वयं ही यह कन्या हैं। जो यति शाप के कारण नपुंसक हो गया था, उसने द्वापर-युग में राधा के पति रूप में जन्म लिया। कहा गया है कि उस कन्या को अज्ञात-कुण्ड में डुबा कर शिशुरूप में प्रकट किया गया, एवं कालिन्दी के तटवर्ती पद्मवन में उसे रख दिया गया और वृषभानु नामक गोप ने इस कन्या का अपनी कन्या के रूप से, लालन-पालन कर के राधिका नाम से उसका परिचय दिया।

अन्यत्र अप्रसिद्ध समझ कर इस छोटे से विवरण को यहाँ

प्रकाशित किया है। इससे उत्कलीय वैष्णवों के श्रीराधाकृष्ण-तत्त्वविषयक सिद्धान्त का किञ्चित् परिचय मिल सकेगा।

हमने पहले त्रिपुरा के साथ श्रीराधाकृष्ण तत्त्व के सम्बन्ध के विषय में कुछ विचार किया है। उत्कलीय वैष्णवों में कोई-कोई स्पष्ट रूप से ही इस सम्बन्ध की सत्ता कहते हैं। वे कहते हैं कि राधाकृष्ण का प्रेम-रस उच्छ्वसित हो कर साकार रूप में प्रकाश पाता है। यह आकार प्रेम का ही आकार है। जिसको हम लोग यमुना अथवा कालिन्दी नाम से समझते हैं वे भगवान् की कल्पना से सञ्जात हैं। जीव व परम या राधा व कृष्ण के प्रेमरस में ये प्रेमरूपा गर्भवती हो कर यथासमय जिनको प्रसव करती हैं, उन का नाम है त्रिपुरा। त्रिपुरा ही त्रिगुण की मूलभूता अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस्—इन तीनों गुणों की अधिष्ठात्री हैं। तीनों पुरों में इनके रूप का साम्य-भंग न होने के कारण त्रिपुरा नाम की सार्थकता समझनी चाहिए। भगवान् की प्रेमलीला जगत् में प्रचारित होने का यही प्रथम क्रम है।

त्रिगुण में प्रेम के विलास के लिए सर्वदा सर्वत्र लीला के प्रकटित होने का प्रथम सूत्रपात होना अब सिद्ध हुआ।

त्रिपुरा त्रिगुणमयी हैं, उनके प्रभाव से केवल स्वर्ग आदि तीन लोक प्रभावित होते हैं, ऐसा नहीं है; दसों दिशाएँ समान रूप से ही प्रभावित होती हैं। योगमाया के आदेश से त्रिपुरा ने जीव व परम की अर्थात् युगलरूप की सेवा में स्वयं को नियुक्त किया। चित् व अचित् भावरूपी जीव व परम के

लीला-विहार में त्रिगुणात्मिका त्रिपुरा का अभिनय सर्वप्रधान है। त्रिपुरा के द्वारा समस्त संसार का हित साधन होने से त्रिपुरा विश्ववासियों की आराध्या है। रासमण्डल के नृत्यस्थल में त्रिपुरा द्वार-रक्षा के कार्य में नियुक्त हैं, क्योंकि वे ही त्रिगुण की अधिष्ठात्री हैं। सत्व आदि गुणत्रय से 'अ, उ, म' रूप से ॐकार का जन्म होता है; एवं उनसे विष्णु, ब्रह्मा व रुद्र रूप से विश्व भुवन की सृष्टि होती है।

उत्कल के वैष्णवों का लीलाधाम का विवरण 'पुरुषोत्तम-तापनी' के वर्णन के अनुरूप है। दिवाकर, बलराम आदि ने अपने-अपने भाव-केन्द्र से इस मूल वर्णन की प्रतिध्वनि की है। तापनी श्रुति में कहा है कि शून्य मण्डल में निरावलम्ब भाव से वैकुण्ठ अवस्थित है। वहाँ सायुज्य अवस्था में पद्मासन से भगवान् के ध्यान में निरत शेष देव विद्यमान हैं, उनके मस्तक पर सहस्र फन हैं। इन फनों के ऊपर विष्णुलोक अथवा वैकुण्ठ स्थापित है। उसके ऊपर सुदर्शन चक्र अत्यन्त उज्ज्वल तेज एवं तीव्र वेग की सहायता से निरन्तर घूर्णित हो रहा है। सुदर्शन के ऊपर श्रीकृष्ण का मुख्य स्थान गोकुल शोभायमान है। इसी का दूसरा नाम माथुर मण्डल है। इसका यह विशाल स्थान है। इसको चारों ओर सुधा-समुद्र घेरे हुए है। इस स्थान पर अष्टदल कमल के बीच मणिपीठ पर एक के बाद एक ७ आवरण वर्तमान हैं— इत्यादि।

यह जो नित्यधाम में जीव व परम का लीला-विहार है, इसी को रास नाम कहते हैं। पूर्व-वर्णित जीव और परम मानव

देह का आश्रय लेकर अवस्थित हैं। इसकी एक परावस्था है—उसका नाम अनक्षर है। कहना न होगा, यह अक्षर के अतीत होने पर भी सम्पूर्ण रूप से निराकार नहीं है। सबके अन्त मे निराकार या महाशून्य है। इस स्थान से सुधा-वर्षण की भाँति निरन्तर नामामृत का क्षरण हो रहा है। वही चारों कालों का मूल स्थान है।

पहले में भगवान् के हुङ्कार से ॐकार की उत्पत्ति होती है, अर्थात् नि.शब्द से शब्द का आविर्भाव होता है। यह एकाक्षर ॐकार शिशुवेद के नाम से प्रसिद्ध है। यह तीनों वेदों का मूलभूत व अनादि अक्षर स्वरूप है। इस स्थान से 'रा' व 'म' इन दोनों अक्षरों की उत्पत्ति होती है। इसकी परवर्त्ती अवस्था में त्रिकोण प्रकट होता है। त्रिकोण त्रितत्त्व या तत्त्वत्रय का नामान्तर है। राम शब्द से राधा व कृष्ण एवं त्रितत्त्व शब्द से जीव-परम-ब्रह्म, हरे-राम-कृष्ण, परा-रमा-कामबीज, ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर, गुरु-शिष्य-भगवान्, कृष्ण-राधा-चन्द्रावली एवं जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा समझना चाहिए। 'हरे-राम-कृष्ण' इन छ अक्षरो से अष्टकोण या अष्ट अक्षर उद्भूत होते हैं। इन आठ अक्षरो से चार तत्त्वबीजों या नामों को समझना चाहिए। इससे 'हरे-राम-कृष्ण-हरे' इस अवस्था का उदय होता है। इससे 'हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे' ये षोडश अक्षर उत्पन्न होते हैं। सबके अन्त में इन सोलह अक्षरों से फिर 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' एवं 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' ये सोलह नाम ३२ अक्षर उत्पन्न होते हैं।

यशोवन्त का कथन है कि प्रेमभक्ति के बिना भगवत्-प्राप्ति असम्भव है। उनके मत में चार प्रकार की भक्ति में से प्रेमभक्ति ही श्रेष्ठ है; नवधा भक्ति में भी प्रेमभक्ति का स्थान सर्वोच्च है। प्रेम-पोटली का ग्रन्थ प्रेमभक्ति की साधना के लिए द्वार स्वरूप है। इस प्रेम-पोटली की बात यशोवन्त ने भी कही है एवं इसका दिवाकरदास ने विशेष रूप से वर्णन भी किया है। प्रेमभक्ति में अधिकार प्राप्त करने के लिए राधाभाव में भजन सर्वथा आवश्यक है।

'प्रेमभक्ति-ब्रह्मगीता' के चतुर्थ अध्याय में है कि निराकार शून्य रूपी भगवान् से गगन का प्रकाश हुआ। गगन से जल अथवा कारणवारि उद्भूत हुआ। इससे भगवान् स्वयं ही सृष्ट होकर आदिमूल नाम से प्रकट हुए। उन्होंने गोलोक में कामबीज को अंग में धारण करके एकार्णव स्थान में अवस्थान किया। इस भूमि के चारों ओर चार वेद एवं मध्य में कालिन्दी ह्रद था। गोलोकवासी आदिपुरुष भगवान् के अंग से प्रकृति का उद्भव हुआ। तब ये दोनों अर्थात् आदिपुरुष भगवान् एवं तत्प्रसूत प्रकृति दोनों अक्षर के बीज-रूप में परिणत हुए। एवं कृष्ण व राधा नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुए। राम नाम का अर्थ राधा कृष्ण है। कामबीज व रजस् ये दोनों ही मूल हैं। ये ही संसार के पिता माता हैं। इन दोनों के सम्मिलन से विराट् का आविर्भाव होता है, वही लज्जा-बीज है। विराट् के मस्तक में राधाकृष्ण विराजमान हैं। विराट् से जीव उत्पन्न होता है, जिसका नाम चन्द्रावली है एवं जो श्रीकृष्ण के साथ अवस्थान

करती हैं। तब कृष्ण, राधा व चन्द्रावली इन तीनों रूपों मे नृत्य चलता रहता है। यहाँ चन्द्रावली एक विशिष्ट बीज का नाम है। चन्द्रावली प्रेमरूपा होकर प्रेमकालिन्दी के नाम से परिचित होती हैं एवं उसका जल षट्शक्ति रूप में एक के बाद एक छः एकाक्षरी बीजों के रूप में प्रकाशित होता है।

राधा, कृष्ण व चन्द्रावली जिस प्रकार त्रिकोण में अवस्थित है, उसी प्रकार षट्कोण में वृन्दावती, रंगदेवी, रत्नरेखा, लीलावती, सुभद्रा व प्रियावली नाम की छः सखियों का अवस्थान जानना चाहिए। ये छः सखियाँ 'हरे राम कृष्ण' इन तीन नामों के छः अक्षरों का रूपान्तर मात्र हैं। ये कृष्णचन्द्र की शरीर-स्वरूपा हैं। 'हरे राम कृष्ण' इन तीन नामों के छः अक्षरों में से प्रत्येक अक्षर में कृष्ण के अंग-स्वरूप रूप निर्दिष्ट हैं। ह = रूप, रे = अधर, रा = भुज, म = बाहुरेखा, कृ = मूर्द्धा, ष्ण = मूर्त्ति। इस षट्कोण का नाम प्रेमशय्या है। वहाँ वृन्दावती की अवस्थिति है। अन्य प्रकार से कहें तो, इन छः अवयवों को नेत्रद्वय, कर्णद्वय एवं नासाद्वय के रूप में समझा जा सकता है। इस प्रेमशय्या में राधाकृष्ण जड़रूप से अवस्थित रहते हैं। वृन्दावती पुनः अष्ट सखियों के साथ नित्य सेवा कर रही हैं। 'हरे कृष्ण हरे राम' इन चार नामों व आठ अक्षरों को अष्ट सखी कहते हैं। उनको अष्ट पट्टमहिषियाँ भी कहा जाता है। इनके नाम हैं—ललिता, विमला, श्रीराधा, श्रीमती, हरिप्रिया, सुकेशी, सचला व पद्मा। ये लोग अष्टकोण यन्त्र के प्रत्येक कोण में हैं एवं राधाकृष्ण मध्यस्थल में विराजमान हैं।

१६ नाम, ३२ अक्षर का विचार भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का है। हरे = ८, राम = ४, कृष्ण = ४, इस प्रकार १६ नाम ३२ अक्षर हैं। चार 'कृष्ण' नामों को एक देह के रूप में ग्रहण करना होगा, उसके पश्चात् उसको चार पृथक् रूपों में देखना होगा, जैसे—लीलाङ्ग कृष्ण, स्नेह कृष्ण, श्री कृष्ण व बाल-कृष्ण। यह पुरुषाङ्ग का विचार है। पुरुषों के साथ चार प्रकृति जड़ित हैं—राधा, चन्द्रावली, दूती व त्रिपुरा। रामादि नामों के विचार में चार राम—विराट्, शेषदेव, अनन्त व बलभद्र के रूप में ग्रहणीय हैं। उनकी चार शक्तियाँ क्रमशः रामा, रामा-वली, रेवती व योगमाया हैं। १६ गोपियों के नाम इस प्रकार हैं—विमला, नरधा, कुन्तला, वृन्दावली, हंसचार, सुमिधा, सुकेशी, चित्ररेखा, रम्भा, पद्मिनी, गोमती, वैनेत्री, रङ्गिनी, सुरेखा इत्यादि हैं। पहले के १६ और ये १६ मिलकर ३२ होते हैं। ये ३२ पुनः ६४ रूपों में परिणत होते हैं। इनका विवरण यहाँ देना अनावश्यक है।

प्रणव ब्रह्म निराकाररूपी है, वह अर्द्धमात्रा के शिरोदेश में अवस्थित है। दोनों ही ॐकार का ब्रह्मरूप हैं—वही शून्यपुर में बिन्दुरूप से प्रकट है।

पूर्वोक्त संक्षिप्त वर्णन से उत्कलीय वैष्णवों के राधा-कृष्ण-तत्त्व के रहस्य के सम्बन्ध में एक अस्पष्ट धारणा चित्तक्षेत्र में उद्भूत होती है। इसका परिस्फुट विश्लेषण वर्त्तमान आलोचना का विषयीभूत नहीं है। किन्तु विश्लेषण न करने पर भी थोड़े से प्रणिधान से ही समझा जा सकेगा कि राधा-कृष्ण-तत्त्व

दृष्टि में सत्य रूप से प्रतिपन्न न होने पर भी कृष्ण-तत्त्व की चर्चा से कोई हानि-वृद्धि नहीं होती।

जिस परम चैतन्य की बात का पहले उल्लेख किया है, वह स्वयं को ईषत् सङ्कुचित सा करके शक्तियुक्त कृष्ण के स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, जीव कृष्ण-रूप में स्थिति-काल में स्वयं कृष्ण-रूप में ही अवस्थान करता है, एवं उसके पश्चात् धीरे-धीरे महाचैतन्य में प्रवेश करता है।

श्री कृष्ण-तत्त्व युगनद्ध अवस्था का द्योतक है। इसको साधारणतः युगभाव कहा जाता है। अर्थात् कृष्ण व राधा ये दोनों अंश सम्मिलित होकर एक ही परम तत्त्व के रूप में प्रकाशित होते हैं। कृष्ण राधा से विरहित भाव से एवं राधा कृष्ण-विरहित भाव से आपेक्षिक स्वतन्त्रता लेकर प्रकाशित हो सकती हैं, यह ठीक है, किन्तु तब वह युगल-तत्त्व नहीं है। युगल-तत्त्व अविनाभाव-सम्बन्ध के बिना सिद्ध नहीं होता। यद्यपि महाचैतन्य से युगल-तत्त्व को किञ्चित् निम्न कोटि में रखकर ग्रहण किया गया है, तथापि यह सत्य है कि दोनों के बीच वास्तव में उच्च नीच भाव नहीं है। केवल तत्त्व-विश्लेषण व परिस्फुटता के लिए एक कल्पित भेद स्वीकार करके महाचैतन्य से पृथक् रूप से युगल तत्त्व की व्याख्या की जाती है। वस्तुतः एक व दो पृथक् नहीं हैं, तीन से ही पार्थक्य या बहुत्व की सृष्टि होती है। एक पहलू से जो एक हैं दूसरे पहलू से वही दो है। वस्तुतः दोनों ही पहलू मूलतः एक ही वस्तु हैं। इस कारण ही दार्शनिक परिभाषा में एक को समझाने के लिए दो पृथक् शब्द नहीं है। एक मात्र द्वय या द्वैत शब्द से ही अद्वैत या अद्वय रूप मे एकत्व की कल्पना

की जाती है। वस्तुतः साम्य ही एकत्व है, वैषम्य ही द्वैत है। राधा-कृष्ण की जो अद्वैत अवस्था है, जिस अवस्था में राधा-कृष्ण के परस्पर पार्थक्य की प्रतीति नहीं होती, वही अद्वय ब्रह्म है। और जिस अवस्था में अद्वय ब्रह्म में क्षोभ न रहने पर भी क्षोभ का विकास होता है, वही राधा-कृष्ण युगल-तत्त्व है। पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है।

पूर्णानन्द ने अपनी 'श्रीतत्त्वचिन्तामणि' में परब्रह्म के जिस स्वरूप का निरूपण किया उसमें भी यह द्वैत व अद्वैत-विषयक अचिन्त्य वैशिष्ट्य प्रकाशित हुआ है। सहस्रदल कमल की कर्णिका में विराजमान चन्द्रमण्डल के मध्यवर्ती हंसपीठ या अन्तरात्मा के ऊर्ध्वदेश में परब्रह्म या परम शिव की अभिव्यक्ति होती है। यह वस्तु सबकी आत्म-स्वरूप है। इसके वर्णन के प्रसङ्ग में उन्होंने रस-विरसमित कहकर इसका उल्लेख किया है। रस से परमानन्द रस समझना चाहिये। एवं विरस से शिव शक्ति का सामरस्य-रूप आनन्द रस समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है—आत्मा एक ओर नित्य-स्वरूप में अवस्थित रहकर भी दूसरी ओर निरन्तर शक्ति-समागम-रसका अनुभव करता रहता है। इस आत्म-स्वरूप का ही उन्होंने श्रीगुरु-रूप में वर्णन किया है। इस क्षेत्र में रस शब्द एकल ब्रह्मावस्था का वाचक है एवं विरस शब्द राधा-कृष्ण अथवा शिव-शक्ति-रूप युगल अवस्था का वाचक है।*

सुतरां समझना होगा कि जो महाचैतन्य-रूप से परमाद्वैत स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, वे राधाकृष्ण या शिवशक्ति के युगल रूप

में भी साथ-साथ अवस्थित हैं। हाँ, जो महाचैतन्य के संकोच की बात कही जाती है, वह सृष्टि की धारा को स्पष्ट रूप में समझने के लिये।

महाचैतन्य ही अनुत्तर चित्स्वरूप है एवं युगल तत्त्व आनन्द-स्वरूप है। वस्तुतः एक ही महावस्तु युगपत् चिद्रूप में एवं आनन्दरूप में प्रकाशमान है। चित्प्रकाश में दोनों का कोई स्फुरण नहीं रहता; किन्तु आनन्द द्वयभाव बिना हो नहीं सकता। दो कहने से यहाँ भेदज्ञानजनित द्वैत नहीं है। यह अभेद अवस्था का ही एक पहलू है, जब दो वस्तुओं में से एक के बिना दूसरी प्रकाशित नहीं हो सकती। यही युगलतत्त्व है।

अष्टदल कमल की बात का पहले उल्लेख किया गया है। इस कमल की कर्णिका में श्रीराधा की स्थिति स्वीकार करनी होगी। इस अष्टदल में आठ सखियाँ विराजमान हैं। वस्तुतः आठ नहीं, समग्र कमल को आश्रय करके षोडश सखियाँ विराज-मान हैं। इनमें पूर्व दिशा में विशाखा का स्थान है, वर्ण पीला है, पश्चिम दिशा के दल में ललिता विराजित हैं। इनका भी पीत वर्ण है। दक्षिण दिशा के दल में पद्मा एवं उत्तर दिशा के दल में श्रीमती प्रतिष्ठित हैं। दोनों का ही वर्ण लाल है। पूर्व-दक्षिण दिशा के दल (अग्निकोण) में शैव्या हैं, श्यामवर्ण हैं। ईशान कोण के दल में हरिप्रिया—रक्तवर्णा हैं। वायुकोण के दल में अन्यसिद्धा हैं—वर्ण कृष्ण है एवं नैर्ऋतकोण के दल में भद्रा हैं—वर्ण लाल है। इन अष्टसखियों से भिन्न और भी अष्ट-सखी हैं जिनको लेकर कुल संख्या षोडश कही जाती है। इन

अतिरिक्त अष्ट-सखियों के नाम इस प्रकार हैं—मदनसुन्दरी—वर्ण श्वेत, विशाखा व हरिप्रिया के मध्य में; चन्द्रा—वर्ण नील, हरिप्रिया व श्रीमती के बीच; चित्ररेखा—वर्ण शुक्ल, श्रीमती व अन्यसिद्धा के बीच; चन्द्रावली—वर्ण शुक्ल, अन्यसिद्धा व ललिता के बीच; रसप्रिया—वर्ण शुक्ल, ललिता व भद्रा के बीच; शशि-रेखा—वर्ण नोल, भद्रा व पद्मा के बीच; मधुमती—वर्ण शुक्ल, पद्मा व शैव्या के मध्य; प्रिया—वर्ण शुक्ल, शैव्या व विशाखा के मध्य।

रहस्यपुराण नामक ग्रन्थ में ९३ कोटि कुञ्जों की कथा उल्लिखित हुई है। किन्तु धाम केवल दो ही हैं, एक भूमण्डल पर, नाम है श्रीवृन्दावन, एवं दूसरा गोलोक में, नाम है नित्य-वृन्दावन। इन ९३ कोटि कुञ्जों में ६८४ कुञ्ज मुख्य हैं। प्रसिद्धि है कि महाप्रभु वल्लभ ने इसी कारण ८४ सेवक नियुक्त किए थे। प्रत्येक कुञ्ज का सेवाभार एक-एक सेवक पर अर्पित रहता है। प्रेम की मुख्य संख्या ८४ प्रकार की होने से ८४ कुञ्जों की बात प्रसिद्ध हुई है। इस ८४ प्रकार की प्रेमभक्ति के श्रेणीविभाग की मूल भित्ति इस प्रकार है। कहा गया है, श्रीभगवान् के गुणमय स्वरूप नौ हैं। प्रत्येक स्वरूप के साथ खेलने के लिये तदनुरूप एक-एक शक्ति युक्त है। इनके नाम हैं—अजा, अरूपा, निर्गुणा, निराकारा, सनातनी, निरीहा, परमब्रह्म-भूता, अविनाशिनी व निरञ्जना।

इन नौ से पृथक्-पृथक् रूपसे श्रवणादि नव-विध भक्ति का उदय होता है। निर्गुण स्वरूप भगवान् की सच्चिदानन्दघन

प्रकृति से प्रेमलक्षणा भक्ति का उदय होता है। श्रवणादि भक्तियों में भी प्रत्येक के ९ कार्य हैं। इन सब कार्यों को भक्ति की उत्थान के रूप में गिना जाता है। प्रेम भक्ति के तीन प्रकार के भेद सहज, सुहित व सुस्थित नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सब मिला कर भक्ति की संख्या ९×९+३=८४ प्रकार की है।

जो लोग अप्राकृत अनुभव-शक्ति के द्वारा इन समस्त तत्त्वों का दर्शन करके भक्ति के समस्त सूक्ष्म भेदों को आयत्त करने में समर्थ हुए हैं उन्होंने इन सबका विवरण विस्तृत भाव से ही लिपिबद्ध किया है।

नव-विधा भक्ति के नौ कुञ्जों के नाम इस प्रकार हैं—श्रवण—सूक्ष्मकुञ्ज, कीर्तन—देहकुञ्ज, अर्च्चन—विहारकुञ्ज, पादसेवन—शृङ्गारकुञ्ज, स्मरण—महाकेलिकुञ्ज, वन्दन—एकान्तकुञ्ज, दास्य—गोप्यकुञ्ज, सख्य—भावकुञ्ज, निवेदन—परमरसकुञ्ज। इन में से प्रत्येक के नौ अवान्तर भेद हैं। श्रवण के साथ श्रुति का योग होने पर जिन नौ कार्यों का उद्भव होता है, उनके अनुसार सूक्ष्मकुञ्जों के नौ अवान्तर भेद ये हैं—प्रीति, प्रेम, कन्दर्प, लीला, मज्जन, विहार, उत्कण्ठा, मोहन व युगल। इसी प्रकार कीर्तन व नर्तन के सहयोग से सञ्जात देहकुञ्ज के नौ भेद हैं—हाव, भाव, कटाक्ष, अलख, मुद्रा, ऊण, वेणी, रोम व नीवी। अर्च्चन व पूजा के परस्पर सम्बन्ध से उद्भूत विहार कुञ्ज के नौ अवान्तर भेद हैं—काटक्षीण, मान, भ्रमण, तिष्ठन, सङ्गीत, आलस्य, कलकूजित, विविधाकार दुकूल व कुच। पादसेवन व पादोदक के संसर्गसे उत्पन्न

शृङ्गारकुञ्ज के नौ भेद हैं—नेत्र, कुन्तल, हाव, ताम्बूल, आड़ (पार्श्व या जड़ता), लावण्य, हास्य, उत्साह व उग्रता।

स्मरण व स्मृति के योग से सम्भूत महाकेलिकुञ्ज के नौ भेद हैं—कोकिलालाप, ग्रीवा, आलिंगन, चुम्बन, अधरपान, दर्शन, दर्पण, प्रलाप, व उन्माद।

वन्दन व नति के सम्बन्ध से उत्पन्न एकान्तकुञ्ज के नौ भेद हैं—दर्प, उत्सादन, उत्कर्ष, दीन, अधीन, सुरत, आकर्षण, उच्चाटन व मूर्च्छा। दास्य व विनय के सम्बन्ध से उत्पन्न गोप्यकुञ्ज के नौ भेद हैं—वशीकरण, स्तम्भन, प्रियास्कन्धारोहण, आवेश में वार्त्तालाप, पर्यङ्कशयन, प्रियाचरण-ताड़न, मुखक्षत व दन्तक्षत।

सख्य व मैत्र के योग से उत्पन्न भावकुञ्ज के नौ भेद हैं—क्षोपितरंग, विगताभरण, भूषण, कम्प, रतिप्रलाप, तण्डुलगीर, प्रियावासभवन, मदनगुह्य व आसक्तकुञ्ज।

निवेदन व आत्मसमर्पण के सम्बन्ध से उत्पन्न परमरसकुञ्ज के नौ भेद हैं—पीड़ारंग, सुरतश्रम-निषेध, ठुमक, वाग्विभ्रम, व्यस्तभाव, कामटङ्क, किङ्किणीरव, वीरविपरीत व सुरतस्नात।

प्रेमभक्ति के अन्तर्गत सुहृत् व सुहृदासंग से उत्पन्न—कलिका, कौतुक, सुहित व हितकारिणी के संग से उत्पन्न सुरतकुञ्ज, एवं सहज व सहजा के संसर्ग से उद्भूत सहज प्रेमकुञ्ज प्रसिद्ध हैं।

पूर्वोक्त-८४ कुञ्जों में से अन्तिम कुञ्ज ही सर्वश्रेष्ठ है। अर्थात् सहजप्रेम प्रेमभक्ति का परमसार है। कुञ्जलीला का चरम आस्वादन इस सहज प्रेम में ही होता है। यही प्रेम की पराकाष्ठा

ग्रहण करके पाशुपत योग की शिक्षा ली थी। यह भी प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण अर्थात् वासुदेव ने दीर्घकाल तक त्रिपुरसुन्दरी की आराधना करके उनको प्रसन्न किया था। भगवती प्रसन्न चित्त से उनको सुदीर्घ तपस्या के पारिश्रमिक के रूप में वर देने को उद्यत हुई थीं। पूर्णत्व लाभ के लिए उन्होंने श्रीकृष्ण को उनकी स्वरूप-उपलब्धि का अर्थात् ब्रह्मोपलब्धि का मार्ग दिखाया था। उन्होंने स्पष्ट ही कहा था कि शक्ति के संयोग से अर्थात् शक्ति के साथ एक योग में कुलाचार साधन किये बिना ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठा नहीं पायी जाती। इस कारण उन्हीं के आदेश से उनकी अंशभूता महालक्ष्मी की स्व-रूपा श्रीराधा को कुल-साधन की नित्य सङ्गिनी के रूप में श्रीकृष्ण ने वरण कर लिया। त्रिपुरा के मतानुसार हरिनाम के द्वारा कर्णशुद्धि करके नवयौवन के उन्मेष के साथ-साथ ही कुलकार्य में व्रती होना होता है। हरिनाम किसको कहते हैं एवं इसका अर्थ क्या है? उसका कुछ परिचय पहले दिया गया है। कर्णशुद्धि 'हरे कृष्ण' इत्यादि सोलह नाम बत्तीस अक्षरों द्वारा दस से बारह वर्ष की अवस्था के बीच अवश्य ही सम्पन्न करनी चाहिए। इसके बिना महाविद्या सिद्ध नहीं होती। कहना न होगा, इस हरिनाम के ऋषि वासुदेव एवं देवता त्रिपुरा हैं। द्विज-मुख से, दाहिने कर्ण में नाम ग्रहण करना होता है। पहले छन्द अर्थात् गायत्री छन्द ग्रहण करके बाद में नाम ग्रहण करना विधि है। कर्ण को अशुद्ध ही रखते हुए उसी अशुद्ध कर्ण में महाविद्या का श्रवण वा ग्रहण करने से प्रत्यवाय होता है। षोडश वर्ष की आयु में महाविद्या का ग्रहण

करना आवश्यक होता है। इसके बाद ही कुलरहस्य जाना जाता है। क्योंकि रहस्यहीन होकर मन्त्रजप करने से कोई फल नहीं प्राप्त होता। हरिनाम का रहस्य यह है—'ह'=शिव, 'र्'= शक्ति—त्रिपुरा = (दशमहाविद्यामयी), 'ए'=योनि। 'क्' = काम, 'ऋ'= परमा शक्ति, दोनों मिलकर 'कृ'=कामकला, 'ष्'=षोडश कलात्मक चन्द्र, 'ण'=निर्वृति या आनन्द। सबका साकल्य होने पर—त्रिपुरसुन्दरी।

सोलह वर्ष की आयु में जो दीक्षालाभ होता है, उसका नाम ज्येष्ठा दीक्षा है। दीक्षा-ग्रहण किये बिना नाम-जप करने से वह पशु-कर्म के रूप से गिना जाता है। इसके पश्चात्—भगवती त्रिपुरा अपनी कण्ठस्थित माला उसे अर्पण करती हैं। ये मालायें साक्षात् आम्नाय-स्वरूपा हैं। ये मणिमाला के रूप से ही विख्यात है। चार मालाओं के नाम हैं—हस्तिनी, चित्रिणी, गन्धिनी व पद्मिनी। ये मालाएँ पचास मातृका-रूपा अक्षमाला के नाम से परिचित हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस माला में ही समस्त जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान निहित है। इस कारण इस माला को कोई-कोई आत्मा की माला कहते हैं। ५१ महापीठ इनके ही नामान्तर है। ये मालाएं अपूर्व ढङ्ग से ग्रथित हैं। कामतत्त्व से भिन्न और किसी सूत्र द्वारा इसे नहीं गूँथा जा सकता। जगत् की सृष्टि व संहार के मूल में ये पचास पीठ-स्वरूप वर्तमान हैं। भगवती त्रिपुरा यह अपूर्व माला वासुदेव को अर्पण करती हैं, जिसके प्रभाव से वासुदेव पूर्णत्वलाभ करने में समर्थ होते हैं। चारो मालाओं का स्वरूप व वर्ण इस प्रकार का है—हस्तिनी—यह

है। गौड़ीय सम्प्रदाय के भक्तों की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय की भक्तमण्डली ने भी लीला के सम्बन्ध में अपने-अपने अनुभव का विश्लेषण करके व्यापक साहित्य की रचना की है। अष्टसखियों का नामकरण नाना स्थानों में नाना प्रकार से उपलब्ध होने पर भी मूल सिद्धान्त के सम्बन्ध में किसी प्रकार का भेद लक्षित नहीं होता। गौड़ीय सम्प्रदाय में भी विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार का वर्णन देखने में आता है। पुराणादि में भी ऐसा ही है। सुतरां वल्लभीय भक्तगणों का सिद्धान्त किसी-किसी अंश में बहिरंग दृष्टि से पृथक् प्रतीत होने पर भी तुलना के लिए आलोचना के योग्य है। वे कहते हैं कि ललितादि अष्टसखियाँ प्रकट लीला में भानु-नामान्त आठ गोपों की कन्या रूप में आविर्भूत हुई हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—(देखें संलग्न सारणी)

यह विवरण एक प्राचीन वल्लभ-सम्प्रदायीय हस्तलिखित पुस्तक से उद्धृत हुआ है। इसमें किसी-किसी स्थान में त्रुटि लक्षित होने पर भी इसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं है। लेखक के प्रमाद के कारण त्रुटि हो गई होगी।

श्रीकृष्णतत्त्व एवं श्रीकृष्णरूप ठीक एक वस्तु नहीं है। तत्त्व नित्य है, रूप अनादि काल से ही अपने स्वरूप में अकेले रूप में हो अथवा युगल रूप में विराजमान है। रूप तत्त्व का ही बाह्य प्रकाशमात्र है। तत्त्वातीत जैसे तत्त्वरूप में प्रकट हो सकते हैं, उसी प्रकार तत्त्व भी अपने स्वरूप से अवतीर्ण हो सकते हैं। जो कृष्णतत्त्व में कृष्णरूप नित्य प्रतिष्ठित हैं वे प्रत्यागमन का समय होने पर तत्त्वरूप में स्थित होकर अपना परिचय दे सकते

हैं। सुतरां 'कृष्ण अवतार हैं या अवतारी' इस अवान्तर प्रश्न के समाधान की चेष्टा न करके मूल रहस्य को आयत्त करने की शिक्षा लेना उचित है। प्रपञ्चलीला में जिस कृष्णरूप का स्फुरण होता है, वह निरन्तर प्रपञ्च के बीच रह कर भी प्रपञ्चातीत स्वरूप में अवस्थित रहता है। जिस मूल स्थान से सृष्टि का उत्स उन्मुक्त होता है, वहाँ तक अनुधावन न कर पाने से सृष्टि-तत्त्व की व्याख्या परिपूर्ण होने की आशा नहीं है। सृष्टि-विकास के क्रम मे स्वरूपगत भाव से श्रीकृष्ण व उनके गणों का स्थान नहीं है। हम जिनको मर्त्य जगत् के वसुदेव व देवकी का पुत्र कहकर परिचय देते हैं, वे जीव थे या नारायण के अंशरूपी भगवान् की विभूति थे, इसकी मीमांसा करना अत्यन्त कठिन है। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि अंशावतार होने पर भी लोकशिक्षा के लिये हो या अन्य कारण से हो, भगवान् को भी गुरु ग्रहण करना होता है। दूसरी ओर आरोह क्रम में जीवरूपी आत्मा दीक्षाप्राप्त होकर यथोचित साधनपथ में चलते-चलते किसी समय देहसंस्कार से मुक्तिलाभ करते हैं। इस अवस्था में किसी भी प्रकार के देह के आश्रय में यथाविधि उपाय का अवलम्बन लेकर व्यवधान काट पाने पर प्रत्येक आत्मा ही पूर्णत्व लाभ कर सकता है। जो नित्य-सिद्ध कृष्णतत्त्व है, वह इस प्रकार विभिन्न पथों का आश्रय लेकर विभिन्न साधकों को प्राप्त होने में समर्थ होता है। इस प्रकार प्राकृत मनुष्य भी अप्राकृत पुरुषोत्तम के रूप में परिणत हो जाता है।

प्रसिद्धि है, श्रीकृष्ण ने उपमन्यु के पास यथाविधि दीक्षा

ग्रहण करके पाशुपत योग की शिक्षा ली थी। यह भी प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण अर्थात् वासुदेव ने दीर्घकाल तक त्रिपुरसुन्दरी की आराधना करके उनको प्रसन्न किया था। भगवती प्रसन्न चित्त से उनको सुदीर्घ तपस्या के पारिश्रमिक के रूप में वर देने को उद्यत हुई थीं। पूर्णत्व लाभ के लिए उन्होंने श्रीकृष्ण को उनकी स्वरूप-उपलब्धि का अर्थात् ब्रह्मोपलब्धि का मार्ग दिखाया था। उन्होंने स्पष्ट ही कहा था कि शक्ति के संयोग से अर्थात् शक्ति के साथ एक योग में कुलाचार साधन किये बिना ब्रह्मज्ञान में प्रतिष्ठा नहीं पायी जाती। इस कारण उन्हीं के आदेश से उनकी अंशभूता महालक्ष्मी की स्व-रूपा श्रीराधा को कुल-साधन की नित्य सङ्गिनी के रूप में श्रीकृष्ण ने वरण कर लिया। त्रिपुरा के मतानुसार हरिनाम के द्वारा कर्णशुद्धि करके नवयौवन के उन्मेष के साथ-साथ ही कुलकार्य में व्रती होना होता है। हरिनाम किसको कहते हैं एवं इसका अर्थ क्या है? उसका कुछ परिचय पहले दिया गया है। कर्णशुद्धि 'हरे कृष्ण' इत्यादि सोलह नाम बत्तीस अक्षरों द्वारा दस से बारह वर्ष की अवस्था के बीच अवश्य ही सम्पन्न करनी चाहिए। इसके बिना महाविद्या सिद्ध नहीं होती। कहना न होगा, इस हरिनाम के ऋषि वासुदेव एवं देवता त्रिपुरा हैं। द्विज-मुख से, दाहिने कर्ण में नाम ग्रहण करना होता है। पहले छन्द अर्थात् गायत्री छन्द ग्रहण करके बाद में नाम ग्रहण करना विधि है। कर्ण को अशुद्ध ही रखते हुए उसी अशुद्ध कर्ण में महाविद्या का श्रवण या ग्रहण करने से प्रत्यवाय होता है। षोडश वर्ष की आयु में महाविद्या का ग्रहण

करना आवश्यक होता है। इसके बाद ही कुलरहस्य जाना जाता है। क्योंकि रहस्यहीन होकर मन्त्रजप करने से कोई फल नहीं प्राप्त होता। हरिनाम का रहस्य यह है—'ह'=शिव, 'र्'= शक्ति—त्रिपुरा = (दशमहाविद्यामयी), 'ए'=योनि। 'क्' = काम, 'ऋ'= परमा शक्ति, दोनों मिलकर 'कृ'=कामकला, 'ष्'=षोडश कलात्मक चन्द्र, 'ण'=निवृ`ति या आनन्द। सबका साकल्य होने पर—त्रिपुरसुन्दरी।

सोलह वर्ष की आयु में जो दीक्षालाभ होता है, उसका नाम ज्येष्ठा दीक्षा है। दीक्षा-ग्रहण किये बिना नाम-जप करने से वह पशु-कर्म के रूप से गिना जाता है। इसके पश्चात्—भगवती त्रिपुरा अपनी कण्ठस्थित माला उसे अर्पण करती हैं। ये मालायें साक्षात् आम्नाय-स्वरूपा हैं। ये मणिमाला के रूप से ही विख्यात है। चार मालाओं के नाम हैं—हस्तिनी, चित्रिणी, गन्धिनी व पद्मिनी। ये मालाएँ पचास मातृका-रूपा अक्षमाला के नाम से परिचित हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस माला में ही समस्त जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान निहित है। इस कारण इस माला को कोई-कोई आत्मा की माला कहते हैं। ५१ महापीठ इनके ही नामान्तर है। ये मालाएं अपूर्व ढङ्ग से ग्रथित हैं। कामतत्त्व से भिन्न और किसी सूत्र द्वारा इसे नहीं गूँथा जा सकता। जगत् की सृष्टि व संहार के मूल में ये पचास पीठ-स्वरूप वर्तमान हैं। भगवती त्रिपुरा यह अपूर्व माला वासुदेव को अर्पण करती हैं, जिसके प्रभाव से वासुदेव पूर्णत्वलाभ करने में समर्थ होते हैं। चारों मालाओं का स्वरूप व वर्ण इस प्रकार का है—हस्तिनी—यह

शुक्लवर्णा है, भगवान् की तुरीयस्वरूपा है। त्रिशिखी—यह पीतवर्णा है। यह विश्वरूप वाले समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर स्थित है। नन्दिनी—यह कृष्णवर्णा है। यह भी ब्रह्माण्ड-व्यापक है। षोडशी या ऐन्द्रवी रक्तवर्णा है, यह सर्वदा ही कामकला के साथ युक्त रहती है।

यह कुलाचार साधन करके एवं उसका फल प्राप्त करके वासुदेव ने पूर्णत्वलाभ किया, वासुदेव ने पाशुपत साधना की थी अथवा कुल-साधना करके सिद्धि-लाभ किया था,—इस की मीमांसा करने का यहां उपाय नहीं है। 'ऊर्ध्वाम्नाय-तन्त्र' में ऐसा है कि राधा ही महाविद्या हैं। उनका मन्त्र षोडश-अक्षर-विशिष्ट है। इस कारण ही राधा स्वयं षोडशी विद्या के रूप से परिचित हैं। इस विद्या की परम्परा के बीच सर्वप्रथम ब्रह्मा का स्थान है, क्योंकि वे ही पहले इसे प्राप्त हुए थे। बाद में रावण, शिव, व्यास गौतम प्रभृति ने इसका प्रचार किया।

'ऊर्ध्वाम्नायतन्त्र' में षोडशी राधा का ही नामान्तर है। ('शक्तिसङ्गमतन्त्र' द्रष्टव्य है) षोडशी ललिता हैं यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। कृष्णलीला की ललिता कुञ्जाधिष्ठात्री के रूप से, रासलीला में द्वाररक्षिणी के रूप से, राधा की अष्टसखियों में सर्वप्रधान सखी के रूप में स्थान पाए हुए हैं। वस्तुतः ललिता अथवा त्रिपुरा की प्रसन्नता के बिना किसी का भी इस गुह्य-लीला में प्रवेश नहीं होता। यह पद्मपुराण के पातालखण्ड में वर्णित है।

पूर्णत्व की साधना अत्यन्त कठिन है। वासुदेव नरदेह ग्रहण करके शिवानुग्रह से हो या भगवती त्रिपुरा के अनुग्रह से हो

पूर्णत्व-लाभ का कौशल आयत्त करने में समर्थ हुए थे। इसीलिये उन्होंने उत्तम पुरुष के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करने में सफलता पाई थी। उनकी पुरुषोत्तमभाव-प्राप्ति का यही रहस्य है। यह जो त्रिपुरातत्त्व-माला की बात कही गई इसका नाम कलावती माला है। वह जब तक अपनी आयत्त और निज स्वरूप में प्रकाशित नहीं होती, तब तक पुरुष पुरुष ही रहता है, कभी पुरुषोत्तम नहीं होता।

जो वासुदेव के इस साधन-व्यापार को सश्रद्ध ग्रहण नहीं करते हैं, उनके लिये ऐसा ही कहना होगा कि श्रीकृष्ण-तत्त्व में अधिष्ठित नित्यरूप ही वासुदेव के आकार में पृथ्वी पर प्रकट हुआ था। जो श्रीकृष्ण को परब्रह्म के रूप से ग्रहण करते हैं एवं पृथ्वी पर उनके आविर्भाव को परब्रह्म का प्राकट्य कहकर प्रचार करते हैं, उनके मत में वासुदेव की तपस्या बाह्य दृष्टि में लोक-सङ्ग्रह का प्रकार-भेद मात्र है। जो उनको स्वयं भगवान् न कहकर अंश या कला—अवतार रूप से समझते हैं, उनके लिये भी यह एक ही बात है। किन्तु हमारी प्रतीति में तो पूर्ववर्णित कोई भी मत असत्य नहीं है। किञ्चित् सत्य सभी मतों में विद्यमान है। सुतरां सब मतों का समन्वय करके ही साधारण लोक के प्रति प्रकृत सत्य का निर्णय करना होगा। हाँ, तत्त्व के साथ पुरुष का पार्थक्य यथावत् बनाये रखते हुए ही समन्वय के पथ पर अग्रसर होना उचित है, यही हमारा विश्वास है। क्योंकि पुरुष काल के अधीन हैं, किन्तु तत्त्व काल के अतीत है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दीर्घकाल पश्चात् कभी-कभी पृथ्वी-

तब तक आविर्भूत हुआ करते हैं। उनकी नित्यलीला काल के अतीत है, एवं माया के भी अतीत है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु उनकी प्रकट लीला भूमिस्थ वृन्दावन में बीच-बीच में हुआ करती है। अनेक ऋषि व मुनि इसी समय श्रीकृष्ण के परिकर-रूप में जन्म लेते हैं। जब भगवान् आते हैं तब उनका पार्षदवर्ग भी उनके साथ-साथ आता है। नित्यभक्तगण तो आते ही हैं, उसके अतिरिक्त जिन्होंने दीर्घकाल तक रागभक्ति का अनुशीलन किया है, वे भी सिद्धि का समय निकट जानकर भूलोक में जन्म लेते हैं। इन सब भक्तगणों में नाना जीव वर्तमान हैं। जिन्होंने सुदीर्घ काल तक श्रीकृष्ण-प्राप्ति के लिए उत्कट तपस्या की थी, वे भी आविर्भूत होते हैं। प्रसिद्धि है कि मानस-सरोवर के निवासी ७१ हजार मुनिगणों ने इसी प्रकार की तपस्या के फलस्वरूप ही श्रीकृष्ण को प्राप्त किया था। कोई एक कल्प, कोई दो कल्प, यहाँ तक कि कोई-कोई सौ कल्प पर्यन्त आराधना करके उन्हें प्राप्त हुए हैं। पहले इतिहास का अन्वेषण करने से देखने को मिलता है कि विभिन्न मुनियों ने श्रीकृष्णलीला में युक्त होने के लिए विभिन्न जप किए हैं, एवं उनकी ध्यान-प्रणाली भी परस्पर विभिन्न है।

प्रसिद्ध है कि उग्रतपा नामक मुनि ने पन्द्रह अक्षर का मन्त्र कामबीज में स्थापित करके दीर्घकाल पर्यन्त कठोर तपस्या करते हुए जप किया था एवं पीताम्बर, श्यामवर्ण, नवयौवन-सम्पन्न, वंशीधारी, रासोन्मत्त, अपने हाथ से प्रिया को आकर्षित करते हुए श्रीकृष्ण-विग्रह का ध्यान किया था। इसी प्रकार एक

शत कल्प साधना के पश्चात् उन्होंने गोकुल में सुनन्द नामक गोप की सुनन्दा नाम्नी कन्या होकर जन्मग्रहण किया। सत्यतपा नामक मुनि ने सूखे पत्ते खा कर दस कल्प पर्यन्त जल में अवस्थित रहते हुए कामबीज-पुटित दशाक्षर मन्त्र का जप किया एवं भगवती लक्ष्मी के कङ्कणोज्ज्वल करयुगल को ग्रहण किये हुए, नृत्यशील, वनमाला से शोभित, पुनः पुनः प्रिया के साथ आलिंगन में निरत श्रीकृष्णमूर्त्ति का ध्यान किया। इसके फलस्वरूप उन्होंने गोकुल के सुभद्र नामक गोप की कन्या भद्रा के रूप में जन्म लिया। इसी प्रकार हरिधामा, जाबालि, ब्रह्मर्षि कुशध्वज के शुचिस्रवा व सुवर्ण नामक वेदज्ञ पुत्रद्वय, जटिल आदि मुनि-चतुष्टय, दीर्घतपा मुनि के पुत्र शुक (यही दीर्घतपा पूर्व-कल्प मे व्यास के नाम से विख्यात थे), श्वेतकेतु के पुत्र, राजपुत्र चित्रबीज आदि ब्रह्मर्षि, देवर्षि, राजर्षि एवं अन्यान्य मुनिजन ने एक कल्प, दो कल्प, यहाँ तक कि सौ-सौ कल्प पर्यन्त तपस्या, जप व ध्यान करके नवीन कल्प में. नरलोक में भगवान् के आविर्भाव के समय गोकुल में अपनी इच्छा के अनुरूप गोपीदेह धारण किया। सभी एक ही मन्त्र का जप करते थे ऐसा नही— कोई दशाक्षर, कोई पञ्चदशाक्षर, कोई विंशाक्षर, कोई अष्टा-दशाक्षर, कोई एकादशाक्षर, कोई पंचविंशाक्षर इत्यादि विभिन्न मन्त्रों का जप करके सबने सिद्धि पाई है। इनमें अधिकांश मन्त्र कामबीज-पुटित ही हैं। ध्यान भी सब एक ही प्रकार की मूर्त्ति का करते थे ऐसा नहीं है। हाँ, द्विभुज मुरलीधारी गोपवेश श्रीकृष्ण-मूर्त्ति के सिवा चतुर्भुज नारायण-मूर्त्ति का ध्यान वे नहीं

करते थे। अपनी-अपनी रुचि के अनुरूप बाल्य, पौगण्ड, कैशोर अथवा नवयौवन किसी भी आयु को वे अपना ध्येय बनाते थे।

दण्डकारण्यवासी, गोपाल के उपासक, उग्रसिद्धि-सम्पन्न मुनिगणों ने श्रीरामचन्द्र के रूप व लावण्य को देखकर भावोन्मेष-वशतः स्वयं कान्ता-भावापन्न होकर उनको पतिरूप में प्राप्त करने की इच्छा की थी। तब उनकी वह वासना पूर्ण होने का अवसर नहीं था। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने उन्हें आश्वासन दिया था कि भविष्य में कृष्णावतार के समय वे उनको ग्रहण करेंगे एवं उनकी इच्छा पूर्ण करेंगे। इन सब मुनियों ने गोकुल में गोपीरूप से जन्मग्रहण किया था। यह विवरण पद्मपुराण के उत्तरखण्ड में है।

बृहद् वामनपुराण में भी इसी प्रकार की कथा है। इन सब गोपियों में से किसी-किसी ने रासारम्भ में सिद्धि-लाभ किया था। सिद्धि से यहाँ भगवत्-सम्भोग के योग्य चिन्मय देह समझना चाहिये।

मुनियों की भाँति उपनिषद् अथवा श्रुतियों ने भी गोपियों के अतुलनीय सौभाग्य को देखकर विस्मित होकर श्रद्धापूर्वक तपः-साधन किया था एवं अन्त में व्रजधाम में गोपीरूप से जन्मग्रहण किया था। यह विवरण बृहद् वामनपुराण में है। इस क्षेत्र में भी वे कोटिकन्दर्पाधिक लावण्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण का रूप दर्शन करके कामिनीभाव को प्राप्त होकर उनके प्रति अनुरक्त हुईं। गायत्री ने स्वयं गोपीभाव को प्राप्त होकर श्रीकृष्ण का भजन

किया था। यह कथा पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में है। ये सब मुनि एवं श्रुतिवर्ग गोपीभाव-अवलम्बनपूर्वक समूह या समष्टि-भाव से श्रीकृष्ण का भजन करते थे। ये सभी साधन-परायण थे, सिद्ध नहीं थे। किसी-किसी ने रास के पहले सिद्धि-लाभ किया था।

साधक गोपियों में से केवल ये ही समष्टि-भाव से साधन करते थे, और सब पृथक् पृथक् साधन करते थे। कोई-कोई व्यक्ति भगवत्-स्वरूप में अनुरक्त हो कर साधन-कार्य में निरत हुए थे एवं बाद में अनुरूप अनुराग की उत्कण्ठा के अनुसार प्राप्त करके समय-समय पर एक-एक कर के पृथक् रूप से अथवा दो-दो एक हो कर सङ्घबद्ध भाव से व्रजधाम में उन्होंने जन्मग्रहण किया। यहाँ पर 'अनुराग' शब्द से रागानुग भजन की उत्कण्ठा समझना चाहिए, स्थायिभावरूप अनुराग नहीं। क्योंकि वह साधक देह में उत्पन्न नहीं हो सकता, सिद्ध देह में ही उत्पन्न हो सकता है। इनमें प्राचीन व नवीन दोनों श्रेणियों के व्यक्ति थे। जो प्राचीन थे वे दीर्घकाल से भगवान् के नित्यसिद्ध भक्तों के सालोक्य को प्राप्त थे। प्राचीनों ने पहले कल्पों में कृष्णावतार के समय सिद्धि-लाभ किया था। ये वर्तमान काल में भी आविर्भूत होते हैं एवं भविष्यत् कल्प में भी आविर्भूत होंगे।

जो वर्तमान कल्प में सिद्धि पाते हैं, वे भी कृष्णावतार के समय आविर्भूत होते हैं। 'नवीन' शब्द से उनको लक्ष्य किया जाता है। ये सब गोपियाँ मानवयोनि एवं देवता, गन्धर्व आदि अमर्त्ययोनि—दोनों ही स्थलों से आ कर जन्म लेती हैं।

मुनिगणों में जो गोपीभाव को प्राप्त हुए थे, उनमें से किसी-

किसी ने रासारम्भ के पूर्व पति आदि गुरुजनों की अनिच्छा के कारण रासलीला में योग न दे पाने पर घर में अवरुद्ध रह कर ही देहत्याग कर दिया था। इस प्रकार वे अप्राकृत देह में महारास में योगदान करने में समर्थ हुए।

प्रश्न हो सकता है, कि जो भक्त साधक देह में अवस्थिति के समय निष्ठा, रुचि, आसक्ति आदि रागानुग-भजनांग के अनुशीलन के उत्कर्षवशात: किसी न किसी जन्म में प्रेमभक्ति के लाभ में समर्थ हुए, वे प्रपञ्चातीत नित्य वृन्दावन में स्थित भगवल्लीला में गोपी-देह प्राप्त हुए अथवा प्रपञ्चगोचर वर्तमानकालीन कृष्णावतार के प्रसंग में भूलोक में अर्थात् भौम वृन्दावन में गोपी रूप में उन्होंने जन्म-ग्रहण किया। इस प्रश्न के समाधान के विषय में किसी-किसी का मत है कि प्रेमभक्ति का उदय एवं उसका विलास सिद्ध देह के बिना हो ही नहीं सकता। इस कारण स्नेह, मान, प्रणय आदि स्थायिभाव एकमात्र सिद्धदेह में ही आविर्भूत हो सकते हैं। इसीलिए पृथ्वी पर कृष्णावतार के समय ये सब भक्त गोपी रूप से जन्म लेकर सिद्ध गोपियों के संग के प्रभाव से दर्शन, श्रवण स्मरण, गुणकीर्तन आदि द्वारा इन सब स्थायिभावों को प्राप्त हुए। सिद्ध गोपियों का स्वरूपलक्षण ही यह है कि उन्हें कृष्ण-विरह का एक क्षण भी शतयुग जैसा प्रतीत होता है। वस्तुतः महाभाव का यही लक्षण है।

इस प्रसंग में किसी-किसी की ऐसी धारणा हो सकती है कि एक बार कृष्णावतार हो चुकने पर सुदीर्घकाल व्यतीत न होने तक पुन कृष्णावतार का अभ्युदय नहीं होता अत एव इन सब

भक्तों को इस दीर्घ अवधि तक अपूर्ण अवस्था में ही रहना होता है। क्योंकि कृष्णावतार के समय से इतर अन्य समय में गोपीदेह में जन्म सम्भव नहीं है, एवं गोपीरूप से जन्म न होने तक स्नेह, प्रणय प्रभृति प्रेमविलास स्थायी भाव के रूप से अधिगत नहीं हो सकते। इसका उत्तर यही है कि किसी को भी दीर्घकाल तक प्रतीक्षा नहीं करनी होती। क्योंकि प्रवाह-रूप से कृष्णावतार ब्रह्माण्ड में कहीं-न-कहीं हुआ ही रहता है। अनन्त ब्रह्माण्डों में से जिस किसी विशिष्ट ब्रह्माण्ड में इस समय श्रीकृष्ण-लीला प्रकट हुई है, उपयुक्त भक्त उसी ब्रह्माण्ड में गोपकन्या के रूप में जन्म ले लिया करते हैं। यह योगमाया के प्रभाव से सम्पादित होता है। सूर्य जिस प्रकार पृथिवी के किसी अंश मे उदित होकर दूसरे अंश में अस्त होते हैं ठीक उसी प्रकार श्रीकृष्ण-लीला भी एक ब्रह्माण्ड में प्रकट होती है, एवं दूसरे में तिरोहित होती है। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड में ही भगवल्लीला का प्राकट्य किसी न किसी समय होता ही रहता है। सब ब्रह्माण्ड आवर्त्तनशील है, इसीलिये प्रत्येक लीला ही आवर्तनशील प्रतीत होती है। इस कारण किसी भी लीला का किसी भी समय किसी न किसी ब्रह्माण्ड में प्रकट रूप में साक्षात्कार हो सकता है। हाँ, किस ब्रह्माण्ड में वह इस समय प्रकट है, यह जानना आवश्यक है। दिन में किसी भी समय जैसे सूर्योदय लक्षित हो सकता है, हाँ, सभी स्थानों में नहीं, स्थान-विशेषों में, इसी प्रकार किसी भी समय कृष्णलीला के आविर्भाव का प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु इस निर्दिष्ट समय में किस ब्रह्माण्ड-विशेष में वह प्रकट है यह

जानना आवश्यक है। इससे समझा जा सकेगा कि योग्यता पूर्ण होने पर शास्त्र की प्रतीक्षा आवश्यक नहीं होती।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकता है कि साधन-परायण गोपी जन दो श्रेणियों में विभक्त हैं कोई-कोई यौथिकी अर्थात् यूथबद्ध हैं, कोई-कोई अयौथिकी हैं। यौथिकी-गण मुनि एवं उपनिषद् भेद से दो प्रकार की हैं। अयौथिकी-गण प्राचीन एवं नवीन भेद से दो प्रकार की हैं। ये सभी साधिका हैं, सिद्धस्वरूपा नहीं। इनके अतिरिक्त देवीगण भी साधिकाओं की भाँति वृन्दा-वनलीला में स्थान प्राप्त करती हैं। जब श्रीकृष्ण देवगणों के बीच मन्वन्तर-अवतार के रूप में स्वर्गलोक में अंशतः देहधारण करते हैं, तब उनको सन्तुष्ट करने के लिये ह्लादिनी-शक्ति-रूपा नित्य-प्रिया-जन भी अंशतः देवलोक में आविर्भूत होती हैं। इसके पश्चात् स्वयं भगवान् रूप से जब वे भूलोक में आविर्भूत होते हैं, तब ये सब देवी-गण अंशरूप से एवं नित्य-प्रियागण अंशिनीरूप से व्रजमण्डल में जन्म लेती हैं। अर्थात् अंशिनी-रूपा नित्यप्रिया-जनों की प्राणसखी-रूप से ये अंशरूपा देवियाँ गोप-गृहों में जन्म लेती हैं। इसके अतिरिक्त राधा, चन्द्रावली प्रभृति भगवान् की सभी नित्य प्रियाजन व्रजभूमि में भगवान् के आविर्भाव के समय आविर्भूत होती हैं। ये सभी नित्यप्रिया हैं। नित्य सौन्दर्य, वैदग्ध्य आदि गुण भगवान् श्रीकृष्ण की भाँति उनके नित्य भक्तों में भी विराजित रहते हैं। नित्यप्रियाओं में राधा व चन्द्रावली के पश्चात् विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रा, परा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका आदि प्रसिद्ध हैं। चन्द्रावली का और

एक नाम सोमाभा है, राधिका का अन्य नाम गान्धर्वा है। अनुराधा ललिता का नामान्तर है। इनके अतिरिक्त खञ्जनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला आदि व्रजगोपियों के नाम सुने जाते हैं। इनके सैकड़ों, हजारों यूथ हैं। प्रत्येक यूथ में लाख-लाख गोपियों का समावेश है। राधा से कुङ्कुमा पर्यन्त सभी यूथेश्वरी हैं। ललिता, विशाखा, पद्मा व शैव्या ये चारों यूथेश्वरी नहीं हैं। ये लोग अपनी-अपनी इष्ट राधा आदि के भाव-संरक्षण के लिये सख्यप्रीति में निबद्ध हैं।

नित्यप्रियायें, देवियाँ, यौथिक एवं अयौथिक साधिकायें—इनकी बात संक्षेप में कही गई। भगवद्भक्ति की आश्रयभूता नायिकायें स्वकीया व परकीया भेद से दो प्रकार की हैं। जिनसे अग्नि को साक्षी करके शास्त्रोक्त विधान के अनुसार विवाह किया गया है, वे स्वकीया हैं। प्रसिद्धि है कि द्वारिका में श्रीकृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं। इनमें १०८ श्रेष्ठ हैं। प्रत्येक महिषी की सहस्र-सहस्र सखियाँ व दासियाँ हैं। इनमें सभी रूप व गुण में मूल महिषी के अनुरूप ही हैं। इनमें से जिनका रूप, गुण, शक्ति आदि पूरी तरह महिषीवर्ग के समान है, वे सखी-पद-वाच्य हैं, किन्तु किञ्चित् न्यून होने से ये दासीपदवाच्य हैं। इन महिषी-वर्गों में सत्यभामा, जाम्बवती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, रुक्मिणी, भद्रा, कौशल्या व माद्री ये आठ प्रधान हैं—इनमें से भी रुक्मिणी व सत्यभामा प्रधान हैं। उनमें ऐश्वर्यांश में रुक्मिणी एवं सौभाग्यांश में सत्यभामा उत्कृष्ट हैं। गोकुल-कन्याओं में से जो श्रीकृष्ण की पतिभाव से उपासना करती थीं, वे एक प्रकार से स्वकीया

कोटि की कही जा सकती है। क्योंकि उनका श्रीकृष्ण के साथ गान्धर्व रीति से विवाह हुआ था, गुप्त रूप से— सबके प्रति प्रकट विवाह नहीं हुआ। जो परकीया हैं— उन्होंने अपने-अपने हृदय में नितान्त तीव्र अनुराग के कारण श्रीकृष्ण-चरणों में आत्म-समर्पण किया था वे धर्मतः स्वीकृत नहीं हुई थीं किन्तु प्रीति के उत्कर्ष के कारण भगवान् की उत्कृष्ट प्रेमपात्री के रूप में गृहीत हुई थीं। परकीया भक्तों का राग इतना प्रबल है कि वह इहलोक एवं परलोक किसी की अपेक्षा नहीं रखता। अर्थात् सामाजिक लज्जा, लाञ्छना आदि एवं पारलौकिक अधर्म का भय उन्हें अपने-अपने रागविषय से प्रतिनिवृत्त नहीं कर पाता। परकीया शब्द से, वे सभी अन्य की विवाहिता ही स्त्रियाँ होंगी—ऐसा कोई अभिप्राय नहीं है, क्योंकि अविवाहिता कन्या भी परकीया हो सकती है। जिनको धर्मसङ्गत विवाहविधि के अनुसार ग्रहण नहीं किया गया अर्थात् जो स्वकीया नहीं, वही परकीया है। कुमारियों में से जिन्होंने श्रीकृष्ण को मन ही मन पतिरूप से वरण किया एवं अपनी इष्टसिद्धि के लिये कात्यायनी व्रत किया था, वे परकीया-पदवाच्य नहीं हैं। इनसे पृथक् अन्यान्य कुमारियाँ परकीयारूप से परिगणित होती हैं। अवश्य ही तीव्ररागवशतः श्रीकृष्ण-चरणों में आत्मसमर्पण करना आवश्यक है। जो विधि-पूर्वक गोपों के साथ विवाह-बन्धन में बद्ध होकर मन ही मन निरन्तर श्रीकृष्ण के सङ्ग की कामना करती हैं— वे परोढा-संज्ञक परकीया हैं। इन सब गोकुलवासिनी विवाहिता स्त्रियों ने कभी भी अपने-अपने पतियों का सङ्ग नहीं किया एवं उनके पतियों ने भी इस

कारण कभी किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं किया। किसी-किसी आचार्य का मत है कि गोपियों के पति पुरुषदेह-धारी होने पर भी उनमें से किसी में भी कभी कामविकार नहीं होता था। इसे योगमाया का प्रभाव समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन सब गोपियों में से किसी के कभी सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। केवल यही नहीं, पुष्पोद्गम तक किसी को नहीं हुआ। इसे भी योगमाया का प्रभाव समझना चाहिए।

सखियों के बिना लीला का विस्तार व पुष्टि सिद्ध नहीं होती। इसी कारण वैष्णवाचार्यगण लीला के वर्णन के प्रसङ्ग में सखी की सूक्ष्म आलोचना करते रहे हैं। वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा की पाँच प्रकार की सखियों की बात का प्रसङ्गतः पहले ही उल्लेख किया गया है। इनके नाम हैं—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी व परमप्रेष्ठसखी। परमप्रेष्ठसखी सर्वाधिक प्रियतमा हैं। ये ही श्रीराधा की अन्तरङ्ग अष्टसखी हैं। इनके नाम हैं—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रंगदेवी व सुदेवी। प्रियसखी—कुरंगाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मञ्जुकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि। प्राणसखियों में—शशिमुखी, वासन्ती, लसिका आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। नित्यसखी कस्तूरी, मणिमञ्जरी आदि हैं। सखी श्रेणी में कुसुमिका, विन्ध्या, धनिष्ठा प्रभृति उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः श्रीराधा अथवा चन्द्रावली की सखियाँ अनन्त हैं। इन सब सखियों में से कोई-कोई यूथेश्वरी हैं एवं अधिकतर किसी-न-किसी यूथ के अनुगत हैं। सखियों में आकृति,

स्वरूप-स्वभाव व कार्यगत अनन्त वैचित्र्य है। सभी सखियों का प्रेम राधा व कृष्ण दोनों पर समान भाव से विन्यस्त है। वस्तुतः सखियों के प्रेम को युगलप्रेम की पराकाष्ठा कहने से भी अत्युक्ति नहीं होगी। तथापि यह सत्य है कि लीला-भेद से यह प्रेम कभी राधा के प्रति, कभी कृष्ण के प्रति किञ्चित् आधिक्य को प्राप्त होता है, जिस प्रकार राधा की खण्डिता अवस्था में सखियों का प्रेम कृष्ण की अपेक्षा राधा की ओर अधिक मात्रा में प्रकाशित होता है। क्योंकि खण्डिता राधा का दुःख एक मात्र श्रीकृष्ण द्वारा ही दिया हुआ है। सखियाँ मन में ऐसा ही अनुसन्धान करती हैं। इसीसे उनके हृदय में यह दुःख असह्य-सा प्रतीत होता है। दूसरी ओर जब श्रीराधा का कठोर अर्थात् दुर्ज्जय मान आविर्भूत होता है, तब श्रीकृष्ण विरह के कारण अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाते हैं। इस कारण सखियों का प्रेम तब राधा की अपेक्षा श्रीकृष्ण के प्रति ही कुछ अधिक मात्रा में प्रकाशित होता है। श्रीकृष्ण का दुःख राधाप्रदत्त है, ऐसी सखियों की धारणा होती है। इसी कारण यह दुःख उन्हें असह्य प्रतीत होता है।

सखियों के यूथ की बात पहले ही कही गई है। प्रत्येक यूथ में अवान्तर गण वर्तमान हैं। इस कारण सखियों के यूथविभाग की भाँति एक गण-विभाग भी है; जैसे सखीगण, प्राणसखीगण इत्यादि। अथवा जैसे राधा के यूथ में ललिता का गण, विशाखा का गण इत्यादि। एक-एक गण में कितनी सखियों का सन्निवेश सम्भव है उसका कोई नियम नहीं है। पाँच-छः से आरम्भ करके सहस्र-सहस्र पर्यन्त सखियों के द्वारा एक-एक सखी का गण बन सकता है।

सखियों का एक वैशिष्ट्य यह है कि वे कभी स्वयं श्रीकृष्ण के अंग-संग-जन्य सुख की प्रत्याशा नहीं करतीं। उनका एकमात्र लक्ष्य है अपनी-अपनी यूथेश्वरी को श्रीकृष्ण के संगलाभ से सुखी करना। उनका सुख ही सखियों की तृप्ति का एकमात्र हेतु है। इस दृष्टि के अनुसार साधारणतः सखियाँ दो प्रकार की हैं--प्रेम, सौन्दर्य, वैदग्ध्य प्रभृति गुणों के आधिक्य के कारण श्रीकृष्ण का अत्यन्त लुभावना गात्र व इन सब गुणों की न्यूनता वशतः उनकी अतिलोभनीय गात्री। इनमें से, श्रीकृष्ण के सुख के अनुरोध से एवं उससे भी अधिक अपनी यूथेश्वरियों के अधिक आग्रह के कारण, प्रथमोक्त सखियों के भी चित्त में कभी-कभी श्रीकृष्ण के अंग-संग की स्पृहा उदित होती है, जैसे ललिता आदि परमप्रेष्ठ सखियों के।

द्वितीय श्रेणी की सखियों में उक्त दोनों कारणों के अभाव से कभी भी कृष्णाङ्गसंग की स्पृहा नहीं उदित होती। कस्तूरी आदि नित्यसखियाँ भी इसी श्रेणी की हैं।

सखियों के प्रसंग में आनुषङ्गिक रूप से दूती के सम्बन्ध में भी कुछ बातें कही जा रही हैं। स्वयंदूती, वंशीदूती, आप्तदूती इत्यादि दूतीगत भेद विचारणीय हैं। स्वयंदूती स्वयं राधा ही हैं। वंशीदूती श्रीकृष्ण की वेणुध्वनि है, जो राधा को लोकलज्जा, लाञ्छना, गुरुजनों की ताड़ना आदि की उपेक्षा करवा घर से वन की ओर आकर्षित करके ले आती है। आप्तदूती कृष्ण की हैं, जैसे वीरा व वृन्दा। वीरा के वाक्य प्रगल्भ होते हैं। वृन्दा स्तोक-वाक्य-प्रयोग में निपुण है। असाधारण दूती उनका नाम है, जो केवल कृष्ण का या केवल राधा का दूतीकार्य करती हैं। जैसे

वीणा, सुन्दा, मेला, मुरली इत्यादि। जो राधा व कृष्ण दोनों की ओर समानरूप से दूतीकार्य करती हैं, वे साधारण हैं। इनमें तीन सखी हैं—कोई शिल्पकारिणी है, कोई दैवज्ञा है, कोई लिङ्गिनी अर्थात् [illegible] संन्यासिनी है।

दूती एवं सखी के सम्बन्ध में और भी बहुत सी बातें कहने की हैं। इसके अतिरिक्त प्रकट लीला में सखा, पिता-माता, परिजन, परिवार प्रभृति के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ कहना होगा। रूपगोस्वामी एवं अन्यान्य गोस्वामि-जन ने बहुत कुछ कहा है। अब मार्गतत्त्व के सम्बन्ध में कुछ बातें कही जाती हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण का परमधाम गोलोक एवं उसका वैभव-स्वरूप गोकुल अथवा दिव्यवृन्दावन किस उपाय से प्राप्त होता है, यहाँ यही आलोच्य विषय है। प्रसंगतः उनके अन्यान्य धामों की प्राप्ति के सम्बन्ध में भी संक्षेप में कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा की जायेगी।

निराकार, निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्मपद की प्राप्ति का उपाय ज्ञानयोग है, यह बात अनेक बार कही गई है। ठीक इसी प्रकार अन्तर्यामी अर्थात् व्यष्टि, समष्टि व महासमष्टि विग्रह के अन्तरात्मरूपी परमात्मा या परमपुरुष को प्राप्त करने का उपाय ध्यानयोग है। यह भी प्रसंगतः अनेक स्थलों पर आलोचित हुआ है। ठीक इसी प्रकार साकार सच्चिदानन्दमय विग्रह-सम्पन्न रसस्वरूप श्रीभगवान् को प्राप्त होने का एकमात्र उपाय भक्तियोग है, यह भी कहा गया है।

किन्तु प्रश्न यह है कि स्वरूप क्या है? भक्ति कितने प्रकार की है? भक्ति के प्रतिबन्धक क्या हैं? एवं परा भक्ति का मुख्य

लक्ष्य क्या है? यह सब एवं इसी प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों का समाधान न होने पर भक्तितत्त्व के सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान नही प्राप्त हो सकता। ज्ञान, इच्छा आदि की भाँति भक्ति मानवीय अन्तःकरण की वृत्तिविशेष है। यही बहुतों की धारणा है। किन्तु वास्तव में यह सत्य धारणा नहीं है। चित्त की वृत्ति के रूप में भक्ति आत्मप्रकाश करती है, यह सत्य है। किन्तु वास्तव मे स्वरूपतः भक्ति चित्त की वृत्ति नहीं है। इसका चित्त की वृत्तिरूप होना तो दूर, माया अथवा महामाया की वृत्तिरूप भी नहीं है। यह साक्षात् चित्शक्ति का विलास है, एवं अन्तःकरण को आश्रय बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति के रूप में मानवहृदय में कार्य करती है। इसका विशेष विवरण क्रमशः समझा जा सकेगा। भक्ति को अनुराग-रूप से ग्रहण किया जाय या सेवा-रूप से या ज्ञान-विशेष-रूप से समझा जाय, मूल में भक्ति का स्वरूप इन सबके अतीत है। भगवत्-स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। जिस शक्ति द्वारा भगवत्-स्वरूप की उपलब्धि होती है, वह भी सच्चिदानन्दमयी है--यह कहना न होगा। सच्चिदानन्दमय की स्वरूपभूता यह सच्चिदानन्दमयी शक्ति ही स्वरूपशक्ति या चित्शक्ति है। सन्धिनी, संवित् व ह्लादिनी इसी की तीन वृत्तियों के नाम हैं। भगवत्-स्वरूप के आनन्दांश के साथ ह्लादिनी शक्ति का सम्बन्ध समझना होगा। ह्लादिनीरूपा स्वरूपशक्ति के अतिरिक्त परमानन्दमय भगवत्-स्वरूप के आस्वादन का दूसरा कोई उपाय नहीं है। अर्थात् भगवद्वस्तु स्व-संवेद्य है। वे स्वयं ही आस्वादन के विषय हैं, वे ही आस्वादन करते हैं एवं अपनी ही आस्वादनमयी स्वरूपशक्ति इस आस्वादन का साधन है।

भगवत्-स्वरूप से बाहर की किसी शक्ति द्वारा भगवत्स्वरूप की उपलब्धि करना सम्भव नहीं है। ह्लादिनी शक्ति का अनन्त प्रकार का खेल आनन्द-राज्य में नित्यलीला रूप में निरन्तर संघटित हो रहा है। किन्तु इस खेल में योगदान करना अथवा उसके रस का आस्वादन करना मायाच्छन्न जीव के लिए, यहाँ तक कि केवली पुरुष के लिये भी असम्भव है। क्योंकि जबतक जीव के हृदय में पूर्वलिखित स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेष रूप किसी शक्ति का प्रादुर्भाव एवं विकास सम्पन्न नहीं होता, तब तक इस जीव के लिए उसकी प्राकृत शक्ति द्वारा अप्राकृत भगवद्धाम के अचिन्त्य अननुभूतपूर्व रसविलास की धारणा करना सम्भव नहीं है।

ह्लादिनी शक्ति की वृत्तिरूप जिस शक्तिविशेष की बात कही गई, वही भक्ति है। यह प्राकृतिक जगत् की वस्तु नहीं है। महान् भाग्य से जीव के इसे प्राप्त होने पर इसीके आकर्षण से वह चिदानन्दमय देह प्राप्त करके अप्राकृत राज्य में प्रवेश करने में समर्थ होता है। यह भगवत्प्रसाद के रूप में स्वयं ही अहैतुक भाव से जीव के हृदय में आविर्भूत होती है अथवा जीव के साधन-बल से उसके हृदय में प्रकट होती है, इस सम्बन्ध में विशेष आलोचना यहाँ करने का प्रयोजन नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अधिकार भेद से दोनों ही दृष्टिगोचर होते हैं। अर्थात् कहीं-कहीं जीव दीर्घकालीन साधना के फलस्वरूप इस भक्ति को प्राप्त करता है, और यह भी देखा जाता है कि अन्यान्य स्थलों में विशेष साधना के बिना भी स्वयंभगवान् की या भक्तविशेष की कृपा

के प्रभाव से यह जीव के हृदय में आविर्भूत होती है। इसका नाम है भावभक्ति। यह एक ओर जैसे साधनभक्ति से पृथक् है दूसरी ओर उसी प्रकार प्रेमभक्ति से भी पृथक् है। वस्तुतः यह प्रेम-भाव का ही परिपक्व परिणाम विशेष है। भाव बीज स्वरूप है, प्रेम-भाव-वृक्ष का सुगन्धित फल है। भाव न रहने से प्रेम का उदय नहीं हो सकता। जिसको साधन-भक्ति कहा गया, वह भाव की कारणस्वरूपा है। साधना यथाविधि एवं आन्तरिक भाव से अनुष्ठित होने पर, भाव को उत्पन्न करके स्वयं भक्तिरूप में परिणत होती है। अर्थात् योगशास्त्र में जिस प्रकार योगाङ्गों को भी, योग के हेतु होने के कारण, योग रूप से गिना जाता है, उसी प्रकार भक्तिशास्त्र में नवविध साधन को भी, भावभक्ति का जनक होने से, भक्तिरूप से ग्रहण किया जाता है। वस्तुतः साधना क्रिया या कर्म है, वह स्वरूपतः भक्ति नहीं है, किन्तु भक्ति का अङ्ग होने के कारण भक्ति-रूप से समझी जाती है।

भावराज्य की बात पहले बहुत विस्तार से कही गई है। इस भावराज्य में प्रवेश का सूत्र ही भावभक्ति है। जब तक जीव के हृदय में भाव का उदय नहीं होता, तब तक उसके लिए भावराज्य रूप नित्यधाम में प्रवेश बहुत दूर की बात है, क्योंकि भावराज्य स्वभाव का राज्य है। जब तक जीव कृत्रिमता छोड़ कर स्वभाव के हाथ आत्मसमर्पण नहीं कर सकेगा, अर्थात् जबतक जीव अहन्ता व ममता रूप से स्वत्व व स्वामित्व-बोध, अर्थात् शाखा-पल्लव युक्त अभिमान, नहीं छोड़ सकेगा तब तक उसका भावराज्य में प्रवेश करना संभव न होगा। जीव अहङ्कारविमूढात्मा हो

कर स्वयं को कर्त्ता समझना है। यह कर्तृत्वाभिमान अपगत न होने तक वह कर्म का अधिकारी है—कर्मातीत भाव का नहीं। अतः तब तक कर्म करना है, तभी तक साधना है। बाद में कर्म के अतीत हो जाने पर यह साधना ही भावभक्ति रूप में परिणत होती है। जिस साधना रूपी कर्म के द्वारा इस प्रकार भाव-भक्ति का उदय होता है, वह वास्तव में कर्म होने पर भी भक्तों की परिभाषा में भक्ति रूप ही गिना जाता है। यही साधनभक्ति है।

मनुष्य के चित्त के दो पहलू हैं। इनमें से एकका स्वरूप कर्त्तव्यपालन अथवा आज्ञापालन है एवं दूसरे का स्वरूप रुचि का उदय होने पर स्वतःसिद्ध प्रेरणा के प्रभाव से कर्मों का अनुष्ठान करना है। अर्थात् कोई कर्त्तव्य समझ कर कोई कार्य-विशेष करने में प्रवृत्त होता है, और ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो अच्छा लगने के कारण ही कार्य विशेष को करने में उद्यत होते हैं, कर्त्तव्य समझ कर नहीं। जो कर्त्तव्य समझ कर कर्म करते हैं, उनकी प्रेरणा का मूल रहता है शास्त्र, अथवा गुरुजनों का आदेश रूपी वाक्य, जिसको स्थूल भाषा में विधिवाक्य कहा जा सकता है। किसी विशेष कार्य में उसकी आन्तरिक रुचि न रहने पर भी केवलमात्र गुरुजनों व महाजनों अथवा शास्त्रकारों के आदेश की मर्यादा की रक्षा के लिये वह इस कर्म को करने में प्रवृत्त होता है। किन्तु किसी-किसी की प्रकृति ऐसी हो गठित होती है कि उसे इस कर्म को करने के लिए पूर्वोक्त आदेशवाक्य की आवश्यकता नहीं होती। ऐसा कर्म उसकी प्रकृति के अनुकूल होने के कारण वह अपनी रुचि के अनुसार स्वत प्रेरित होकर उसे करता

है। उसके लिए गुरुवाक्य या शास्त्रीय विधिवाक्य की आवश्यकता नहीं होती। शास्त्रमतानुसार भक्तिपथ पर ये दोनों ही प्रकार के कर्म साधनभक्ति के अन्तर्गत हैं। इनमें से पहला विधिमूलक होने से वैधी भक्ति एवं दूसरा रागमूलक होने से राग-भक्ति के नाम से परिचित है। वस्तुतः दोनों ही कर्म हैं, प्रकृत भक्ति नही।

यह जो रागभक्ति की बात कही गई यह प्रकृत रागभक्ति नहीं है—रागभक्ति की छायामात्र है; क्योंकि प्रकृत रागभक्ति मायाजगत् में मायाधीन जीव के हृदय में आविर्भूत हो ही नही सकती। प्रकृत रागभक्ति—स्वरूपशक्ति का विलास है, माया का व अन्तःकरण का परिणाम नहीं है। प्रकृत रागभक्ति का नाम रागा-त्मिका भक्ति है—इस छाया-रागभक्ति का नाम रागानुगा भक्ति है।

प्रश्न हो सकता है, किसी-किसी ही जीव के हृदय में इस जाति की भक्ति का उदय क्यों होता है? इसका उत्तर देने से पहले जीव के चित्त का विश्लेषण करके देखना उचित है। जीवमात्र की ही कर्म के प्रति प्रवृत्ति के मूल में कर्त्तव्यताबोध अथवा इष्टसाधनताज्ञान वर्तमान है। अर्थात् कर्त्तव्य समझ कर कर्म में प्रवृत्ति एवं इष्टप्राप्ति में सहायक समझ कर कर्म में प्रवृत्ति—ये दोनों ही जीव में देखी जाती हैं। अवश्य ही किसी में एक का प्राधान्य व दूसरे की गौणता रहती है एवं किसी में दूसरे का प्राधान्य व प्रथम की गौणता देखी जाती है। इसका कारण प्रकृतिगत वैचित्र्य है। कहना न होगा, एक ही जीव का कालभेद व अवस्थाभेद से दोनों प्रकार का भाव देखा जा सकता है।

भगवद्भक्ति शास्त्रीय विधान द्वारा शासित होने पर, वैधी भक्ति कहलाती है। वल्लभ-सम्प्रदाय में इसीका दूसरा नाम मर्यादा-भक्ति है। उसी प्रकार भगवद्भक्ति यदि विधिमूलक न होकर चित्त के स्वाभाविक रागमूलक हो तो वह रागानुगा भक्ति के रूप में परिगणित होती है। वल्लभ-सम्प्रदाय में इसी भक्ति का नाम पुष्टि-भक्ति है।

रागानुगा भक्ति एवं वैधी भक्ति दोनों ही कर्म या साधनरूप हैं। रागानुगा भक्ति के, रागात्मिका भक्ति के अनुकरण रूप से अनुष्ठित होने पर, सरल व सहज उपाय से भाव-जगत् में स्वरूप-स्थिति का पथ खुल जाता है। इस कारण आचार्यगण ने रागात्मिका भक्ति का आदर्श सामने रख कर रागानुगा भक्ति का अनुष्ठान करने की व्यवस्था बनाई है।

रागात्मिका भक्ति के कामरूपा व सम्बन्धरूपा भेद से दो प्रकार की होने से रागानुगा भक्ति भी दो प्रकार की है। एक कामानुगा एवं दूसरी सम्बन्धानुगा। काम शब्द से सम्भोगेच्छा समझनी चाहिए। व्रजवासी गोपियाँ जो श्रीकृष्ण से मिलित होने की इच्छा करती थीं, उनका एकमात्र उद्देश्य अपना सङ्ग दे कर श्रीकृष्ण को सुखी करना है, किन्तु श्रीकृष्ण-सङ्ग प्राप्त करके स्वयं सुखी होना नहीं। क्योंकि समर्था रति का तात्पर्य स्वार्थ में नहीं, केवल परार्थ में है। कुब्जा का काम प्रकृत कामपदवाच्य नहीं है। इस कारण कुब्जा की भक्ति का गोपियों की रागात्मिका भक्ति की कोटि में निवेश नहीं किया जाता। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की इस कामरूपा भक्ति के प्रतिबिम्ब रूप में कामानुगा भक्ति का उदय हुआ करता

है। नित्यलीला के परिकर ब्रजवासी भक्तों के भक्ति-सौभाग्य की बात सुन कर जिनके हृदय में ऐसा भक्त होने के लिए वासना उत्पन्न होती है, उन्हें इन भक्तों के भाव, वेश, प्रकृति, आचरण प्रभृति को लेते हुए मन ही मन उनका अनुकरण करना चाहिए। क्रिया व भाव दोनों ही अनुकरणीय हैं। अनुकरण का उपाय है—उक्त लीला-परिकर भक्तों के भावादि का निरन्तर स्मरण। इस प्रकार अनुकरणीय भक्त का एवं उसके आचरण, स्वभाव आदि का निरन्तर स्मरण करते-करते देह समाप्त होने पर, दिव्यदेह अर्थात् सिद्धदेह वा भावदेह प्राप्त करके, इस भक्त के अनुगत भाव में व्रजधाम में स्थिति प्राप्त होती है। मथुरा वृन्दावन आदि लीला धामों में अपनी अवस्थिति, स्थूल देह में हो अथवा मनोमय देह में कल्पना द्वारा हो, प्रतिष्ठित होने पर फिर किसी चिन्ता का कारण नहीं रहता। कामरूपा भक्ति के अनुकरण से जीव कामानुगा भक्ति का अनुष्ठान करता है। प्रकृति के अतिरिक्त अन्य के लिए इस भक्ति का अनुशीलन सुसाध्य नहीं है। किन्तु कभी-कभी प्रकृति-भाव का अनुकरण करके पुरुष भी इस भक्ति का अनुशीलन करते हैं। दृष्टान्तस्वरूप दण्डकारण्यवासी मुनियों की बात कही जा सकती है। इन सब मुनियों ने जिस भक्ति के प्रभाव से जन्मान्तर में गोपीदेह प्राप्त करके श्रीकृष्ण-सङ्ग प्राप्त किया था वह कामानुगा भक्ति है। रागात्मिका भक्ति का और एक भेद है, उसका नाम सम्बन्धरूपा भक्ति है। व्रजधाम में जो श्रीकृष्ण के साथ किसी-न-किसी प्रकार के सम्बन्ध का अभिमान रखते हैं, वे ही इस भक्ति के आश्रय हैं। नन्द स्वयं को श्रीकृष्ण के पिता-

रूप मानते थे, यशोदा मातृ-रूप। गोपों में से कोई कोई दास-रूप में, कोई सखा रूप में अभिमान करते थे। किसी-किसी के अभिमान में मिश्रभाव भी था। कोई-कोई एक साथ ही, श्रीकृष्ण के साथ विभिन्न प्रकार के संपर्कों में संश्लिष्ट रहने का अभिमान करते थे। इस सम्बन्ध-रूपा भक्ति के अनुकरण में भक्तगण कोई स्वयं को पिता रूप, कोई माता रूप एवं अन्य कोई सखा, दास या अन्य परिजन समझते हैं।

साधन भक्ति की जिन दो श्रेणियों की बात कही गई है, उनमें से रागानुगा भक्ति की बात अभी हुई। वैधी भक्ति के चौंसठ अंगों के साथ अनुष्ठित होने की व्यवस्था है। किन्तु कार्यतः इतने अंगों का अनुष्ठान आवश्यक नहीं होता। उनमें से गुरुपादाश्रय, उनके पास से शिक्षा व दीक्षा लेना आदि सर्वापेक्षा अधिक उपयोगी है। चरितामृतकार ने वैधी भक्ति के पाँच अंगों का उल्लेख किया है। यथा -- साधुसंग, नामकीर्त्तन, भागवतश्रवण, माथुरमण्डल-वास एवं श्रद्धा के साथ श्रीमूर्त्ति की सेवा। जीवगोस्वामी ने वैधी भक्ति के ग्यारह अंगों का उल्लेख किया है -- श्रवणादि नौ साधन भक्ति उनके अन्तर्गत है। जैसे—शरणागति, गुरुसेवा, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चना, वन्दना, दास्य, सख्य व आत्मनिवेदन। वैधी भक्ति का विश्लेषण करने पर समझा जा सकेगा कि यह काय, इन्द्रिय व अन्तः करण द्वारा भगवान् की उपासना है। यह उपासना अपराधवर्जित हो कर करनी होती है, नहीं तो उपासना का सम्यक् फल-लाभ नहीं होता। अपराध दो प्रकार के होते हैं सेवापराध व ... ध सेवा

अपराध अनेक प्रकार के हो सकते हैं—आचार्यगण ने ६५ प्रकार के अपराधों का उल्लेख किया है। नामापराध दस प्रधान हैं। वैधी भक्ति के विभिन्न अंगों के दर्शन से प्रतीत होता है कि यह अनेकांग है, किन्तु वास्तव में वैसी नहीं है। वैधी भक्ति एकांग भी हो सकती है, अनेकांग भी हो सकती है। अर्थात् अधिकार-विशेष से एक ही अंग का अनुष्ठान कर के भी वैधी भक्ति की साधना की पूर्णता हो सकती है। अनेक अंगों से समवेत साधन में पूर्ण फल प्राप्त होगा, इसमें सन्देह ही नहीं है। एकमात्र श्रवण द्वारा परीक्षित् सिद्धकाम हुए थे। इसी प्रकार शुकदेव ने एकमात्र कीर्तन द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। एकमात्र सख्य द्वारा अर्ज्जुन ने, सेवा द्वारा हनुमान् ने, स्मरण द्वारा प्रह्लाद ने एवं आत्म-निवेदन द्वारा बलि ने सिद्धिलाभ किया था। अम्बरीष की भक्ति अनेकांग थी। यह भी शास्त्र में उल्लिखित है।

(८)

भावराज्य व लीलारहस्य (ग)

इसके पहले ही सामान्यभाव से तीन प्रकार की भक्ति का उल्लेख किया है। इनमें से साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते इस भक्ति के प्रभाव से किसी-किसी के चित्त में भावभक्ति का उदय होता है। किन्तु जो और अधिक भाग्यवान् हैं, वे साधन-भक्ति का अनुष्ठान किये बिना भी भगवत्कृपा से अथवा भगवद्-भक्त की कृपा से भावभक्ति को प्राप्त करते हैं। जो इस प्रकार भाव की उपलब्धि करते हैं एवं जो साधन-भक्ति के अनुष्ठान के फलस्वरूप भाव उपलब्ध करते हैं, इन दोनों प्रकार के भक्तों में कोई पार्थक्य नहीं है। भाव प्राप्त होने पर ही भक्ति-साधना का प्राकृत स्तर समाप्त हो जाता है। क्योंकि भाव अप्राकृत नित्य-सिद्ध वस्तु है। वह स्वरूपशक्ति या ह्लादिनी शक्ति की वृत्तिरूप है। जिस भक्तहृदय में भाव का उन्मेष होता है उसके देह, इन्द्रिय व अन्तःकरण क्रमशः अप्राकृत आकार धारण करते हैं। तब उसकी देह सिद्धदेह नाम से परिचित होती है। इस देह में इन्द्रिय व अन्तःकरण की वृत्ति यथावत् रहती हुई भी न रहने के समान होती है। यह भावदेह भावजगत् की अधिवासी है—यह कहना न होगा।

भाव-भक्ति के परिपक्व होने पर प्रेमभक्ति का उदय होता है। प्रेम सूर्य स्वरूप है, भाव उसी की एक किरण या कणा है।

आस्वादित हो सकता है, क्योंकि प्रेम के आश्रयभूत भक्त में प्रकृतिगत वैशिष्ट्य है, और इसी प्रकार भगवत्-स्वरूप भी मूलतः एक होने पर भी विभिन्न रूपों में आस्वाद्यमान होता है। क्योंकि भक्तों की प्रकृति में जैसे वैशिष्ट्य लक्षित होता है, ठीक वैसे ही भगवत्-स्वरूप में भी प्रकाशगत विचित्रता लक्षित होती है।

हमने प्रेम-रस का श्रेणी-विभाग किया उसे स्थूल दृष्टि के अनुसार समझना होगा: सूक्ष्म दृष्टि से प्रेम के अनन्त प्रकार हैं। प्रेमभक्ति-रस के प्रत्येक स्वरूप में असङ्ख्य प्रकार का वैशिष्ट्य वर्तमान है, जिसके फलस्वरूप एक भक्तिरसमें दूसरे भक्ति-रस के साथ आस्वादनगत समता नहीं रहती। सजातीय रस में भी एक प्रकार का पार्थक्य है। विजातीय रस में भी ठीक ऐसा ही है। अर्थात् शान्तभक्ति व दास्यभक्ति के बीच जिस प्रकार आस्वादनगत वैलक्षण्य अनन्त प्रकार का है, वैसे ही केवल शान्तभक्ति के भी अवान्तर भेदों में अनन्त प्रकार का वैलक्षण्य है। केवल यही नहीं, कोई एक अवान्तर रसास्वादन भी दो क्षण तक ठीक एक-जैसा नहीं है, एवं हो भी नहीं सकता। प्रतिक्षण ही अभिनव आस्वादन प्रस्फुटित हो रहा है। अनन्त रसों का अपार समुद्र है जिसमें प्रतिक्षण नूतन भाव-मारुत के हिल्लोल से अभिनव आस्वादन उन्मेषित हो रहा है। यही लीला-विलास की अचिन्त्य-माधुरी है।

इस रस-समुद्र की तरङ्गें प्रेमभक्ति की भित्ति पर स्वभाव के प्रभाव से अनन्तरूपों में क्रीड़ाशील होती हैं। प्रेमभक्ति के पश्चात् और किसी अभिनव जाति की भक्ति का निर्देश नहीं

पाया जाता। किन्तु प्रेमभक्ति का ही उत्तरोत्तर विलास महाभाव पर्यन्त लक्षित होता है। ये विलास संख्या व प्रकार की दृष्टि से अगणित हैं। जिनकी विश्लेषण-शक्ति जितनी तीक्ष्ण हो, वे उतने ही सूक्ष्म विलास तक दर्शन कर सकते हैं। अस्त होते हुए सूर्य के रक्त-राग से रञ्जित मेघमाला में जैसे एक के बाद एक असङ्ख्य वर्णों का सन्निवेश देखा जा सकता है, किन्तु एक वर्ण कहाँ समाप्त होता है एवं दूसरा कहाँ से आरम्भ होता है—इसका निर्देश सम्भव नहीं होता—प्रेमभक्ति का विलास भी ठीक वैसा ही है। तथापि आचार्यगण ने मन्दमति जिज्ञासुओं के प्राथमिक बोध के सौकर्य के लिये एक स्थूल श्रेणीविभाग किया है एवं प्रत्येक श्रेणी का लक्षण कहा है। रसिक एवं भक्ति-जिज्ञासु इस विश्लेषण-प्रणाली का अनुसरण करके एक ओर जैसे इस सब विलास को प्राप्त कर सकते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर अभिनव भिन्न-भिन्न विलास का उद्भावन व परिचय-ग्रहण भी कर सकते हैं। ये सभी स्वरूपशक्ति की वृत्तिरूप नित्यसिद्ध भगवद्-भक्त हैं।

जिसको हम लोग वृत्ति समझते हैं, भाव-जगत् में उसके अप्राकृत आकार व प्रकृति लक्षित होते हैं। वृत्ति की जैसे कोई नियत संख्या नहीं है, वैसे ही ये सब आकृति व प्रकृति भी असङ्ख्य हैं। ये सभी कला हैं अथवा चिदानन्दमयी कला हैं। ब्रह्मसंहिता की भाषा में ये ही आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभावित कला हैं। साधारण भाषा में इन्हीं को गोप व गोपिकायें कहा जाता है।

भक्तिशास्त्र की परिभाषा की चर्चा करने पर देखने में आता

है कि चेष्टा एवं भाव इन दोनों अर्थों में भक्ति शब्द का प्रयोग होता है। पहले जिस साधन-भक्ति की बात कही गई है, जिसके निरन्तर अनुशीलन से भाव का उदय होता है, वह चेष्टारूपा भक्ति है। यह भाव की कारण-स्वरूप है। किन्तु भाव की कार्यस्वरूप चेष्टा भी भक्ति में है। वह रसावस्था में अनुभाव रूपसे वर्णित होती है। अर्थात् चेष्टा से भाव उत्पन्न होता है एवं भाव से चेष्टा उत्पन्न होती है। दोनों ही चेष्टा-रूपा भक्ति हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसमें से एक भाव की कारण-स्वरूप है, इसे साधनभक्ति कहते हैं, एवं दूसरी भाव की कार्य-स्वरूप है, इसे अनुभाव कहते हैं। भाव भी इसी प्रकार द्विविध है, एक स्थायी भाव, दूसरा संचारी भाव। जो स्थायी भाव है, उसे साधारणतया केवल भाव अथवा रति कहा जाता है। यही प्रेमका अङ्कुर-स्वरूप है। प्रणय आदि अवस्थायें प्रेम के ही भिन्न-भिन्न विलास मात्र हैं। यह बात पहले ही कही गई है। सञ्चारी भाव स्थायी नहीं, व्यभिचारी है। यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं है। यह जो स्थायी भाव है, जिसका साधारणतः रति अथवा भाव नाम से उल्लेख किया जाता है, वह शुद्ध सत्त्व का विशिष्ट रूप है। भगवान् की स्वयं-प्रकाश स्वरूपशक्ति की जो वृत्तियाँ हैं, उनमें संविद् नामक वृत्ति को शुद्ध सत्त्व कहा जाता है। यह माया नाम्नी बहिरङ्ग शक्ति की वृत्ति नहीं है। सुतरां शुद्ध-सत्त्व-विशेष के नाम से भाव का वर्णन करने से प्रतीत होता है कि यह आचार्यों के मन में संविद् व ह्लादिनी शक्ति का समवेत सारांश है। महाभाव की सविशेष आलोचना करते समय इसका निरूपण होगा।

भाव की अभिव्यक्ति चित्तवृत्ति में होती है। जब भाव आविर्भूत होता है तब वह चित्त की वृत्ति के साथ अभिन्नरूप से ही प्रकाशित होता है। भाव स्वयंप्रकाश होते हुए भी प्रकाश्य-रूप से आविर्भूत होता है। केवल प्रकाश की दृष्टि से नहीं, आस्वादन की दृष्टि से भी ऐसा ही होता है। यह स्वयं ही आस्वादस्वरूप है, अथच यही भगवद्विषयक आस्वाद के कारण-रूप में परिणत होता है। भाव व रति को वर्तमान प्रसङ्ग में अभिन्नार्थक ही समझना चाहिए।

साधन-अभ्यास के बिना भी कहीं-कहीं सहसा भाव का आविर्भाव होना देखा जाता है, यह पहले कहा गया है। यहाँ पर भगवान् की अथवा भगवद्भक्त की कृपा को ही उसका कारण समझना होगा। भगवान् की कृपा के विभिन्न उपायों में से वाक्य एवं दृष्टि—ये दो प्रधान उपाय हैं। किन्तु कहीं-कहीं भगवद्वाक्य अथवा भगवान् की दृष्टि न रहने पर भी भगवत्कृपा संचारित होती है। यह कृपा भीतर-भीतर होती है—यह आन्तर कृपा है। दृष्टि अथवा वाक्य से इसका कोई परिचय नहीं मिलता। इसी को हार्द कहते हैं।

किसी के चित्त में प्रेम के अङ्कुरस्वरूप भाव के उदित होने पर उसके जीवन व चरित्र में जो लक्षण प्रकाशित होते हैं, उनमें से प्रधान कुछ-एक यहाँ लिखते हैं यथा—(१) क्षान्ति—चित्त मे क्षोभ उत्पन्न होने का कारण विद्यमान रहने पर भी क्षोभहीन अवस्था रहने का नामान्तर क्षान्ति है। जिसके चित्त में

भाव जाग उठा है, उसके लिए शान्ति का उदय एक अव्यर्थ निदर्शन है।

(२) भावयुक्त जीव जीवन का एक मुहूर्त्त समय भी वृथा नष्ट नहीं करता।

(३) अन्तःकरण में भाव स्फुट होने पर इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों में रुचि नहीं रहती, अर्थात् विषय-मात्र के प्रति वितृष्णा उदित होती है।

(४) नाना विषयों में उत्कर्ष होने पर भी चित्त में उल्लास नहीं रहता। इस अवस्था में अभिमान विगलित हो जाने से इसे मानशून्यता कहते हैं।

(५) भगवान् को प्राप्त करने की उत्कट आशा सर्वदा ही हृदय में जगी रहती है। यह आशाबन्ध नामक अवस्था है।

(६) अपनी इष्ट-प्राप्ति के लिए तीव्र लोभ उत्पन्न होता है। इस अवस्था का नाम समुत्कण्ठा है।

(७) इस अवस्था में सर्वदा भगवान् का नाम लेना अच्छा लगता है एवं भगवान् के गुण-कीर्त्तन करने में आसक्ति उत्पन्न होती है।

(८) भगवान् के वास-स्थान के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है इत्यादि।

इन सब लक्षणों के द्वारा विवेकशील मनुष्य समझ सकता है कि उसके या अन्य किसी के अन्तःकरण में भाव का सञ्चार हुआ

है या नहीं। क्योंकि ऐसी अवस्था भी है, जब भाव का सञ्चार न रहने पर भी बाह्य-दृष्टि-सम्पन्न लोग उसे भाव समझते हैं। इस अवस्था का नाम भावाभास है—इसमें वास्तविक भाव का कोई-कोई गुण प्रतिबिम्ब रूप से दिखाई देता है, किन्तु यह प्रकृत भाव नहीं है।

भाव अथवा रति के मुख्य एवं गौण दो प्रकार के लक्षण हैं; इनमें—भगवद्विषय में एकनिष्ठ स्पृहा—यही भगवत्प्राप्ति का मुख्य उपाय है। यही प्रकृत भाव है। किन्तु आभासात्मक रूप में इस एकनिष्ठ स्पृहा का अभाव दिखाई देता है। ऐश्वर्य की आकाङ्क्षा अथवा मोक्ष की आकांक्षा वर्त्तमान रहने से भगवद्-विषयक एकनिष्ठता में त्रुटि होती है। अर्थात् जो भावुक है वह एकमात्र भगवान् से इतर और कुछ नहीं चाहता, ऐश्वर्य उसका प्रार्थनीय नहीं है, एवं मोक्ष भी प्रार्थनीय नहीं है। एकमात्र भगवत्-प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है। भाव अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है, मुक्त पुरुष भी समस्त तृष्णाओं को छोड़कर उसका अन्वेषण करते हैं। अन्वेषण के फलस्वरूप कोई-कोई इसे प्राप्त करते हैं; किन्तु सब नहीं। भाव इतनी गोपनीय वस्तु है कि स्वयं भगवान् भी भजन-शील भक्त को सहज में इसे नहीं देते। जिनके हृदय में भोग अथवा मुक्ति की आकांक्षा वर्त्तमान है, जिन्हें शुद्धा भक्ति प्राप्त नहीं हुई है, उनके हृदय में भाव अथवा रति का आविर्भाव नहीं होता। जो आविर्भूत होता है, वह प्रकृत भाव नहीं, भाव का आभास-मात्र है। यह आभास कहीं प्रतिबिम्ब और कहीं छाया रूपसे आत्मप्रकाश करता है। प्रतिबिम्ब भावाभास कभी न

कभी भावुक व भक्त जन की दृष्टि में आने पर पूर्ण-भाव रूप में परिणत होता है। पर इसकी न्यूनता रह जाती है। भोग अथवा मोक्ष की आकांक्षा ही शुद्ध भाव की उपाधि है। इस उपाधि का दर्शन हुए बिना भगवत्-स्पृहा अक्षुण्ण नहीं रह सकती। भावोदय के जो साधारण लक्षण हैं, वे सब दिखाई देने पर भी भावरूप में उनके कारण का निर्णय करना सर्वदा संभव नहीं होता। क्योंकि भावाभास में भी ये लक्षण उदित हो सकते हैं। इस कारण एक स्पृहारूप मुख्य लक्षण के द्वारा ही भाव का ठीक-ठीक परिचय मिलता है। प्रतिबिम्ब रूप भावाभास कब उत्पन्न होता है? जब भोगार्थी या मोक्षार्थी भक्त दैवात् किसी समय सद्भक्त के सङ्ग के कारण कीर्त्तनादि का अनुसरण करते हैं, तब भक्त के हृदयाकाश में स्थित भाव-रूपी चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब संस्कार-रूप से सद्भक्त के संसर्गवशतः आविर्भूत होता है। यह प्रतिबिम्ब-रूप से आभास है, किन्तु इससे भी निकृष्ट आभास भी होता है, जिसे छाया कहते हैं। उसमें प्रकृत भाव का किञ्चिन्मात्र सादृश्य दिखाई देता है। प्रतिबिम्ब आभासरूपी होने पर भी स्थिर होता है, पर छाया चञ्चल होती है। लौकिक कौतूहल जिस प्रकार स्थायी नहीं होता उसी प्रकार कौतूहलमय छायाभास भी स्थिर नहीं होता। किन्तु यह भी वृथा नहीं है। जीव का दुःख नष्ट करने का असाधारण सामर्थ्य इसमें भी है। किन्तु यह वास्तविक लाभ तो नहीं है। क्योंकि प्रतिबिम्ब अथवा छायारूपी आभासमय भाव से प्रेमभक्ति का उदय नहीं हो सकता एवं प्रेमभक्ति न होने पर भगवद्दर्शन भी नहीं होता।

सुतरां भावाभास से कभी भी भगवद्दर्शन की आशा नहीं की जा सकती—ऐश्वर्य, मुक्ति, दुःखनिवृत्ति आदि नाना प्रकार के फल भावाभास से भी प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु भगवत्-प्रेमलाभ सुदूर पराहत है। एकमात्र भगवान् को ही चाहता हूँ, और कुछ भी नहीं चाहता, यहाँ तक कि मुक्ति व दुःखनिवृत्ति भी नहीं चाहता, ऐश्वर्य भी नहीं चाहता—ऐसी एकनिष्ठ स्पृहा न हो तो कभी भी भगवत्-साक्षात्कार नहीं होता। हाँ, यह सत्य है कि भगवान् या भक्त की कृपा हो जाने पर आभास-रूपी भाव भी पूर्ण एवं वास्तविक भाव-रूप में परिणत हो सकता है। दूसरी ओर भगवद्-भक्त के प्रति अपराध होने पर भावाभास भी क्रमशः क्षीण होकर नष्टप्राय हो जाता है। केवल यही नहीं, भगवान् के प्रियजनों के प्रति अपराध हो जाने से भाव भी अभाव-रूप में परिणत हो जाता है एवं आभास आदि आकार धारण करता है। कभी-कभी भाव का आकस्मिक उदय दिखाई देता है। उसे पूर्व जन्म की साधना का फल समझना चाहिए। क्योंकि बहुत बार ऐसा होता है—कि साधन सुसम्पन्न होने पर भी विघ्नवशतः उसके फल का उदय स्थगित हो जाता है। बाद में अवसर पाते ही यह फल अकस्मात् प्रकट हो जाता है।

भाव घनीभूत होने पर प्रेमरूप में परिणत होता है। यह प्रेम ही प्रेमलक्षणा भक्ति के नाम से भक्तिसाहित्य में प्रसिद्ध है इसमें ममता. अथवा मदीयता भाव अत्यन्त प्रबल रूप में प्रकाश पाता है। भाव जिस प्रकार साधन से उत्पन्न होता है, पुनः बिना साधना के भक्त या भगवान् की कृपा से भी उत्पन्न होता है, उसी

प्रकार प्रेम भी कहीं-कहीं भाव से उत्पन्न होता है और कहीं भक्त या भगवान् की साक्षात् कृपा से उत्पन्न होता है। साधना क्रमतः विधिमार्ग व रागमार्ग में पृथक्-पृथक् दो प्रकार की है। इस कारण साधन-जनित भाव भी दो प्रकार का होता है : अर्थात् वैधी-साधन भक्ति से उत्पन्न भाव एवं रागानुगा साधनभक्ति से उत्पन्न भावों में स्वरूपतः वैलक्षण्य है। इसीलिए भाव-अवस्था में उपनीत होने पर भी मार्गगत पार्थक्य के चिह्न पूरी तरह अपनीत नहीं होते। प्रेम के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। क्योंकि साधन से उत्पन्न भाव दो प्रकार के होने से भाव-जनित प्रेम भी दो प्रकार का है। वैध साधन-भक्ति-जनित भाव से उत्पन्न प्रेम में माहात्म्यज्ञान या ऐश्वर्यज्ञान मिश्रित रहता है। अर्थात् प्रेम के विषयभूत भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व वैकुण्ठादि के परम अधिष्ठाता हैं; वे सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं; उनसे श्रेष्ठ और कोई नहीं, यहाँ तक कि उनके समान भी कोई नहीं। वे सौन्दर्य, लावण्य, औदार्य आदि अनन्त कल्याण-गुणों के आकर हैं; ऐसा भगवत्-महिमा का ज्ञान इस जाति की प्रेम-भक्ति में विद्यमान रहता है। किन्तु जो प्रेमभक्ति रागानुगा साधन-भक्ति-जनित भाव से उत्पन्न होती है, वह शुद्ध या केवल है। उसमें महात्म्यज्ञान मिश्रित नहीं रहता।

प्रेम के उदय में विश्लेषण करने की प्रक्रिया के भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रम दिखाई देते हैं। उनमें से सर्वत्र परिचित प्रसिद्ध क्रम यह है—प्रथम श्रद्धा, द्वितीय साधुसङ्ग, तृतीय-भजन-क्रिया चतुर्थ-अनर्थनिवृत्ति यही मुक्त भाव है पञ्चम निष्ठा

षष्ठ रुचि, सप्तम आसक्ति, अष्टम भाव, नवम प्रेम। साधनभक्ति से प्रेमभक्ति के उदय का यही क्रम है। इससे समझा जा सकेगा कि साधनभक्ति के उदय से पहले श्रद्धा व सत्सङ्ग आवश्यक है। साधनभक्ति एवं भावभक्ति के अन्तराल में चार पृथक्-पृथक् अवस्थायें वर्तमान हैं। साधनभक्ति के द्वारा समस्त अनर्थों की निवृत्ति हो जाने पर साधना की आवश्यकता नहीं रहती। तब क्रियानिवृत्ति होती है। किन्तु निष्ठा नामक एक अभिनव अवस्था का उदय होता है। अनर्थनिवृत्ति न होने पर्यन्त निष्ठा का आविर्भाव नहीं हो सकता। निष्ठा से उत्पन्न होती है रुचि अर्थात् अच्छा लगना, एवं उसके फलस्वरूप होती है आसक्ति, जिससे यथासमय भाव का आविर्भाव अवश्यम्भावी है। प्रेम के पश्चात् और कोई पृथक् अवस्था नहीं है। किन्तु न रहने पर भी प्रेम के विलासरूपी अवस्थाएँ अवश्य ही हैं, जिनका विशेष विवरण बाद में दिया जायेगा। ये सब विलास साधक-देह में अत्यन्त दुर्लभ हैं, नहीं ही दिखाई देते यह भी कहा जा सकता है। किन्तु ये सिद्ध देह के स्वाभाविक धर्म हैं।

प्रेमभक्ति के उदय के सम्बन्ध में किसी-किसी आचार्य का अपना विशिष्ट मत है। तत्त्वविश्लेषण की दृष्टि से यह मत भी सर्वथा उपादेय है, अतः यहाँ उसका भी संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। इस मत के अनुसार जीव-मात्र ही शुद्ध प्रेमभक्ति का अधिकारी नहीं है। जो प्रेमभक्ति भगवान् के विशेष अनुग्रह के बिना किसी जीव को नहीं प्राप्त होती वह जीवमात्र की प्राप्य नहीं है जिस पर श्रीभगवान् की कृपा होती है, केवल वही उसका अधि-

कारी है, दूसरे नहीं। दैव जीवों में से जिसको भगवान् अपनी असाधारण कृपा का पात्र बनाना चाहते हैं, सबसे पहले वह सत्सङ्ग-लाभ करता है। इसके पश्चात् परिचर्या आदि के फलस्वरूप एवं सद्धार्मिक शास्त्र का सिद्धान्त-श्रवण, दैहिक सेवा एवं अन्यान्य भजन-प्रक्रिया के अनुष्ठान के फलस्वरूप कृपा-पथ (मार्ग) में रुचि उत्पन्न होती है। तब श्रवणादि के अनुष्ठित होने पर चित्त में भगवान् का आवेश होता है, जिसके फलस्वरूप चित्त निर्मल होकर उज्ज्वल रूप धारण करता है। श्रवणादि का अनुष्ठान तब भी पहले की भाँति चलता ही रहता है। इस प्रकार दीर्घकाल व्यतीत होने पर भगवान् में रुचि उत्पन्न होती है। कहना न होगा कि भगवद्दर्शन अभी भी नहीं हुआ है। सुतरां इस रुचि को परोक्ष रुचि कहा जा सकता है। अर्थात् जिस रुचि का विषय प्रत्यक्ष अनुभव के विषय-रूप में आविर्भूत नहीं हुआ है, वही परोक्ष रुचि है; अर्थात् प्रत्यक्ष न देख पाने पर भी अच्छा लगना। यह रुचि उत्पन्न होने के पश्चात् भी श्रवणादि रूप भजन चलता ही रहता है। तब बीजरूपी भाव या सूक्ष्म भक्ति का क्रमशः बढ़ना आरम्भ होता है। यह भाव क्या है? गौड़ीय आचार्यों ने इसे शुद्ध सत्त्व की वृत्ति नाम दिया है। सुतरां यह स्वरूपशक्ति का धर्म-विशेष है। जीव तटस्थशक्ति है। भगवदनुग्रह या भक्तानुग्रह के बिना जीव इसे नहीं पा सकते। कोई-कोई जीव साधन-भक्ति द्वारा (वह वैधी या रागानुगा कैसी भी हो) किस प्रकार भाव को प्राप्त कर सकता है इसका कारण निर्णीत नहीं किया जा सकता वल्लभीय

आचार्यगण इसका समाधान अन्य प्रकार से करते हैं। इनके मत से आदि सृष्टि के समय जीवत्व-सम्पादन के बाद ही किसी-किसी जीव में भगवान् सूक्ष्म रूप से बीजरूपिणी भक्ति या भाव की स्थापना कर देते हैं। यही बीजभाव है। जिस जीव में यह बीजभाव निहित रहता है वही बाद में भगवान् के विशेष अनुग्रह का पात्र बनता है।

पूर्ववर्णित परोक्ष रुचि के प्रभाव से एवं श्रवणादि सहकारी कारणों के कार्यरूप में इस भाव से जीव के चित्त में भगवत्-स्वरूप का स्फुरण होता है। चित्त में ऐसी स्फूर्ति का आविर्भाव होने पर जब अनुभूति गाढ़ अवस्था तक पहुँचती है तब यह परोक्ष रुचि अपरोक्ष रुचि के रूप में परिणत होती है। इस प्रकार यह बीजरूपी भाव श्रवणादि-साधना के द्वारा वृद्धि-प्राप्त होकर प्रेमरूप धारण करता है। यह प्रेम स्वरूपतः स्नेहात्मक है। इसका उदय होने पर चित्त से अन्य विषयों की इच्छा या स्पृहा तिरोहित हो जाती है। इसके पश्चात् सेवा एवं श्रवणादि साधनों की आवृत्ति के फलस्वरूप आसक्ति का उदय होता है। इस अवस्था का आविर्भाव होने पर जगत् के समस्त पदार्थ—जिनके साथ भगवत्सम्बन्ध नहीं है—बाधकरूप प्रतीत होते हैं। जब आसक्ति की और भी घनीभूत अवस्था का विकास होता है, तब जिस अवस्था का आविर्भाव होता है, भक्ति-शास्त्र में वही प्रेम की पराकाष्ठा के रूप में परिगणित होती है। इस अवस्था का नाम है वासना, इसी का दूसरा नाम है मानसी सेवा। तभी

आत्म कृतार्थ होता है। भक्ति के सम्बन्ध में वल्लभीय आचार्यों ने अत्यन्त सूक्ष्म विचार किया है; यहाँ उसका उल्लेख निष्प्रयोजन है।

पूर्वोक्त विवरण से समझा जा सकता है कि भगवद्-विषयक श्रद्धा उत्पन्न होने के पश्चात् श्रवणादि-साधना के अनुष्ठान के फलस्वरूप प्रेम-भक्ति का आविर्भाव होता है। इसकी प्रथम अवस्था आसक्ति है एवं परिपक्वावस्था वासना है। ये सब शब्द बहुधा समान ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

वासना-पर्यन्त प्रेम का विकास सम्पन्न होने पर सर्वत्र भगवत्स्फूर्ति होती है। इसी का नाम सर्वात्मभाव है। इस अवस्था में प्रत्येक वस्तु के प्रति ही उत्कट स्नेह का उदय होता है। इसके पश्चात् अन्तर एवं बाहर अभिन्न रूप में भगवान् का आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् नित्य-लीला में प्रवेश होता है जो पुष्टिमार्गी भक्तों का चरम लक्ष्य है।

भक्ति के आविर्भाव के सम्बन्ध में कुछ एक प्रश्न स्वभावतः उदित होते हैं। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर इन प्रश्नों के साथ और भी कतिपय अवान्तर प्रश्न मिले हुए देखने में आते हैं। इन सब प्रश्नों के समाधान की चेष्टा न करके प्रश्नों का ही, आलोचना की सुविधा के लिए, उल्लेख किया जाता है।

साधन भक्ति में वैधी व रागानुगा भक्ति के पार्थक्य की बात कही गयी है। विभिन्न प्रकार की भक्तियों के आविर्भाव के मूल में अधिकारगत पार्थक्य स्वीकार करना होगा। अर्थात् जिस प्रकार का अधिकार सम्पादित होने से वैधी भक्ति प्राप्त होगी

है; रागानुगा भक्ति की प्राप्ति के लिए अपेक्षित अधिकार उससे पृथक् है। इस अधिकार-गत भेद का मूल कारण प्रकृतिगत है, यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा। यह प्राकृतिक भेद जीव के प्रथम आविर्भाव के साथ ही उत्पन्न होता है या वर्तमान देह-प्राप्ति के समय उत्पन्न होता है, यह विचारणीय है। प्रकृतिगत यह भेद रहने पर भी देखा जाता है कि दोनों प्रकार के ही भक्त अनुशीलन के प्रभाव से साधना की परिपक्वावस्था में भाव के अधिकारी होते हैं। मूल प्रकृतिगत भेद भावावस्था तक उपनीत होने पर भी निवृत्त नहीं होता—यह बात भी पहले कही गई है। यहाँ प्रश्न यह है—साधक-हृदय में भाव का बीज पहले से निहित न रहने पर साधना के प्रभाव से भाव की अभिव्यक्ति किस प्रकार हो सकती है? यह भाव-बीज प्रत्येक साधक के हृदय में निहित है क्या? यदि है, तो वह कब निहित हुआ? इस बीज में भी स्वरूपगत पार्थक्य है क्या? नहीं तो भावभक्ति के विकास के समय वैधी-साधनभक्ति-जनित भावभक्ति एवं रागानुगा-भक्ति-साधनजनित भावभक्ति में पार्थक्य कहाँ से आता है? यदि प्रत्येक साधक में भावरूप-बीज निहित नहीं होता है तो कहना होगा कि किसी-किसी साधक में भाव-बीज निहित नहीं हुआ है। यदि इसे स्वीकार किया जाय तो यह कहना ही होगा कि ये साधक भक्तिसाधना करके भी भाव-लाभ नहीं कर सकेंगे। वह क्या सम्भव है? और भी एक बात है—साधक-मात्र में ही भाव-रूप बीज निहित रहता है, यह कहने का तात्पर्य क्या है? असाधक में वह नहीं रहता? कोई भक्ति-

[illegible] करता है, कोई नहीं करता इसमें क्या मूलतः प्रकृतिभेद यदि कहा हो तो साधक में भी भावबीज निहित रहता है तो क्या हानि है ? बीज रहने पर भी अभिव्यञ्जक सामग्री अभाव से वह अङ्कुरित नहीं हो सकता । प्रत्येक जीव में भाव-बीज का निहित रहना मानने से भी यह नहीं कहा जा सकता कि अभिव्यञ्जक कारण के सम्बन्ध के अभाव के कारण सभी जीव साधक नहीं होते, एवं जो साधक होते हैं, उनमें भी पूर्वोक्त कारण से सभी को भाव अभिव्यक्त नहीं होता, किसी-किसी को ही होता है । किन्तु, बाद में उद्दीपक कारण के उपस्थित होने पर इन्हें भाव अभिव्यक्त नहीं होगा, यह बात नहीं कही जा सकती ।

और भी एक बात है । जो जीव साधक नहीं हैं, उनमें भी प्रभु या भक्त के विशेष अनुग्रह से भाव-विशेष की अभिव्यक्ति देखा जाता है । ऐसे स्थलों में क्या भाव-बीज तभी निहित हुआ, ऐसा कहना होगा ? यदि हाँ तो स्वीकार करना पड़ेगा कि पहले इन जीवों में बीज निहित नहीं हुआ था । इससे कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं साधना करने पर भी भाव प्राप्त नहीं होता और कहीं साधना किये बिना भी भाव प्राप्त होता है । इसका तात्पर्य क्या है ? केवल यही नहीं, प्रेम के सम्बन्ध में भी ऐसा ही जटिल प्रश्न उठता है । भाव प्रेम का मूल है, यह सत्य है । भाव से ही प्रेम का विकास होता है यह सत्य है । भाव की ही परिपक्व अवस्था प्रेम है, इस में सन्देह नहीं । किन्तु भाव के बिना भी प्रेम का आविर्भाव हुआ

करता है। किसी-किसी विरल प्रसङ्ग में साक्षात् भगवान् अथवा भक्त के अनुग्रह से प्रेम का आविर्भाव होना देखा जाता है। इन सब स्थलों पर प्रेम की पूर्वावस्था में भाव का कोई भी परिचय नहीं मिलता, साधन तो दूर की बात है। इसका कारण क्या है ? अधिकार-भेद से प्रेम के स्वरूप में भी पार्थक्य रहना माना जा सकता है क्या ? जहाँ मूल में भाव नहीं है, ऐसे आधार में जो प्रेम उत्पन्न हो जाता है, एवं जो प्रेम भाव से अभिव्यक्त होकर आविर्भूत होता है—इन दोनों में पार्थक्य है क्या ? वैधी-साधना-जनित भाव से उत्थित प्रेम एवं रागानुग-साधनजनित भाव से उत्थित प्रेम—इन दोनों प्रेमों में पार्थक्य है क्या ? है, मानना ही होगा। क्योंकि एक में माहात्म्यज्ञान मिश्रित रहता है, दूसरे में वह नहीं रहता। साक्षात् भगवदनुग्रह अथवा भक्तानुग्रह से जो प्रेम फूट उठता है, उसमें भी फिर जातिगत भेद है क्या ? वह माहात्म्य-ज्ञानयुक्त प्रेम है अथवा शुद्ध प्रेम है, या दोनों से विलक्षण अन्य किसी प्रकार का प्रेम है ? प्रेमगत वैचित्र्य का नियामक क्या है ? यदि आधाररूपी उपाधिभेद ही इसका कारण हो तो आधारगत भेद का ही कारण क्या है ? विषयगत भेद क्या इसी पर निर्भर करता है, अथवा विषयगत भेद पर यह निर्भर करता है।

प्रेमरहस्य के सम्बन्ध में इन सब प्रश्नों की मीमांसा होना आवश्यक है। यहाँ मीमांसा की चेष्टा नहीं की जा रही है, केवल आलोचना के लिए प्रश्न उठाये गये हैं।

और भी एक बात है। रागानुगा भक्ति के अनुशीलन के

किसी भी प्रकार से हो, कोई विशिष्ट जीव स्वरूपशक्ति की किस धारा के अनुगत है, यह किसी-न-किसी प्रकार से निर्दिष्ट न होने पर रागात्मक भजन का अनुकरण करते हुए रागानुगा भक्ति का अनुशीलन सम्भव नहीं होता।

शुद्धाद्वैत शास्त्र में रागभक्ति व पुष्टिभक्ति का सूक्ष्म विश्लेषण देखने में आता है। पुष्टि शब्द का अर्थ है—भगवान् का विशेष अनुग्रह। सुतरां भगवान् के विशिष्ट अनुग्रह से जनित जो भक्ति है, वही पुष्टिभक्ति है। इस विशेष अनुग्रह से ही काल आदि समस्त प्रतिबन्धक दूर होते हैं। इससे लौकिक एवं अलौकिक सभी फल सिद्ध हो सकते हैं। किस जीव पर भगवदनुग्रह हुआ है, यह कार्य दिखाई देने पर अनुमान कर लिया जाता है। श्रीमद्भागवत के विभिन्न उपाख्यानों से भगवदनुग्रह-तत्त्व का अनेक प्रकार का परिचय मिलता है। इस अनुग्रह पर जीव का कोई विचार नहीं चलता। अधिकारिविशेष में साधन-सम्पत्ति न रहने पर भी केवल अनुग्रह से ही श्रेष्ठ फल उत्पन्न हो सकता है। कोई-कोई व्यक्ति निन्दित कर्म करके भी साङ्केतिक भगवद्-नाम के प्रभाव से अव्याहति प्राप्त करते हैं। यह भी भगवदनुग्रह का ही फल है। दृष्टान्त में अजामिल की बात कही जा सकती है। कहीं-कहीं पाप-कर्म के अनुष्ठाता एवं सर्वथा दण्डनीय पुरुष भी भगवदनुग्रह से दण्ड से बच जाते हैं। जैसे इन्द्र की, कर्मी विश्वरूप का, ज्ञानी दधीचि का, एवं भक्त वृत्र का वध करने पर भी, भगवदनुग्रह से ही रक्षा हुई थी। भगवान् का महा अनुग्रह अत्यद्भुत एवं अचिन्त्य-शक्तिमय है। प्रतिबन्धक कितना भी

प्रबल क्यों न हो, इसके प्रभाव से वह पूरी तरह कट जाता है एवं भगवत्-चरणों में स्थितिलाभ होता है। प्रतिकूल काल, कर्म एवं स्वभाव—ये सब प्रतिबन्धकों के अन्तर्गत हैं। भगवान् का विशेष अनुग्रह रहने पर ये कोई बाधा उत्पन्न नहीं कर सकते।

भगवदनुग्रह से ही जहाँ फल उत्पन्न होता है, वहाँ भी निमित्त या व्यापार-रूप से कोई लौकिक कारण अवश्य रह सकता है। अजामिल का आकस्मिक भगवद्-नाम लेना व्यापार मात्र था। कहीं-कहीं योग या अर्चना आदि का अनुष्ठान रहता है, वह भी व्यापार मात्र है। यह अनुग्रह साधारण अनुग्रह के नाम से परिचित है। भगवान् के विशेष अनुग्रह से एकमात्र भगवत्-स्वरूप की ही प्राप्ति हुआ करती है।

एकमात्र भगवदनुग्रह से प्राप्य भक्ति द्विविध है—मर्यादा व पुष्टि। भगवान् के सामान्य अनुग्रह से जो भक्ति उत्पन्न होती है वही मर्यादाभक्ति है, जिसे पहले अन्य प्रसङ्ग में वैधी भक्ति के नाम से वर्णित किया गया है। भगवान् के विशेष अनुग्रह से उत्पन्न होनेवाली भक्ति का दूसरा नाम है, रागभक्ति। मर्यादाभक्ति की चर्चा न करके संक्षेप से पुष्टिभक्ति के विषय में दो-चार बातें कही जा रही हैं। पुष्टिभक्ति चार प्रकार की है—१. पुष्टि-पुष्टिभक्ति, २—प्रवाह पुष्टिभक्ति, ३—मर्यादा पुष्टिभक्ति ४—शुद्ध पुष्टिभक्ति। जिस पुष्टिभक्ति के साथ पुनः पुष्टि जड़ित रहती है वही पुष्टि-पुष्टिभक्ति है। यह जिस द्वितीय पुष्टि या अनुग्रह की बात कही गई, इससे भजनोपयोगी ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। जो पुष्टि-पुष्टिभक्ति प्राप्त करते हैं उन्हें भगवत्-तत्त्व अर्थात्

भगवान् के स्वरूप, उनकी सर्वविध लीला, उनके समस्त परिकर एवं प्रपञ्च के विषय का समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वे सर्वज्ञ हैं। प्रवाह शब्द से अहन्ता एवं ममता अर्थ समझना चाहिये। यही संसार है। प्रवाह-पुष्टि-भक्ति में संसार-भाव का प्राधान्य रहने से केवल कर्म में रुचि विद्यमान रहती है, अथच पुष्टिभक्ति के कारण भगवद्-उपयोगी क्रिया में प्रवृत्ति होती है। सुतरां जो प्रवाहपुष्टि-भक्त हैं, वे निरन्तर भगवान् के इच्छानुरूप कर्म में प्रवृत्त रहते हैं। मर्यादा के प्रभाव से जीव की स्वारसिक विषयों में प्रवृत्ति दूर होती है, एवं संयम, निरोध आदि निवृत्ति-मार्गीय धर्मों की योजना होती है। अतएव जो मर्यादा पुष्टि-भक्त हैं, वे भगवत्-कथा-श्रवण आदि में विषयासक्ति का त्याग करके, प्रवृत्त होते हैं। जिनकी पुष्टिभक्ति में किसी प्रकार का मिश्रण नहीं अर्थात् पुष्टि व प्रवाह या मर्यादा का साङ्कर्य नहीं है, वे शुद्ध पुष्टिभक्त हैं। इनकी भक्ति में प्रेम का प्राधान्य रहता है। ये केवल स्नेह के कारण ही भगवान् की परिचर्या, गुणगान आदि किया करते हैं। इस जाति के भक्त अति दुर्लभ हैं। स्नेहोत्पत्ति के पश्चात् जो श्रवणादि का अनुष्ठान किया जाता है, वही उत्तम पुष्टिभक्त का लक्षण है।

इन चारों प्रकार की पुष्टिभक्ति में से जीव को पुष्टि-पुष्टि-भक्ति के लिए यत्न करना उचित है। भक्ति के प्रभाव से भगवद्भक्ति का उपयोगी ज्ञान सम्पन्न होता है, एवं उचित प्रकार से भगवान् का भजन संभव होता है। शुद्ध पुष्टिभक्ति साधना के परे है, उसे चेष्टा द्वारा कोई प्राप्त नहीं कर सकता। एकमात्र

भगवान् के नाम-रूप में ही मग्न बना हो सकती है । यही स्वतन्त्रा भक्ति है, जिसको अत्यन्त दुर्लभ कहा जाता है । शुद्ध पुष्टिभक्ति के प्रकाश से ही भक्त के गुण स्वातन्त्र्य का उदय होता है । भक्त का स्वातन्त्र्य उदित होने पर भगवान् भक्त के वशीभूत हो जाते हैं । अर्थात् भक्त की जैसी इच्छा आविर्भूत होती है, भगवान् की कृति तदनुरूप रहती है । अर्थात् जब भक्त जो चाहता है, भगवान् वही करते हैं । शुद्ध पुष्टि तो सर्वोच्च है; किन्तु अन्यान्य पुष्टि-भक्तियाँ भी मर्यादा भक्ति से श्रेष्ठ हैं । समस्त पुष्टि-भक्तों के लिए ही स्वर्गादि लोकैश्वर्य, योगसिद्धियाँ, यहाँ तक कि परम पुरुषार्थ मोक्ष तक आकांक्षा के विषय नहीं बनते ।

पुष्टि-भक्ति के चार प्रकार कहे गये हैं, किन्तु प्रकारगत भेद रहने पर भी चारों प्रकार की भक्ति पुष्टि-भक्ति के रूप में समभावापन्न है । इसका फल है नित्य-लीला में अन्तःप्रवेश । यह पहले ही कहा गया है । तथापि इसमें भी प्रकारगत वैचित्र्य वर्तमान है । क्योंकि नित्यलीला में भक्त-रूप से, गो, पशु आदि रूपों से एवं वृक्ष आदि रूप से विभिन्न प्रकार से प्रवेश सम्भव है। वस्तुतः यही तारतम्य है । सभी पुष्टि-भक्तों के नित्य-लीला में प्रविष्ट होने पर भी भक्तिगत तारतम्य के कारण लीला में तारतम्य होता है । नित्य-लीला में प्रवेश करना ही अलौकिक सामर्थ्य-लाभ है ।

पुष्टिमार्गी भक्त इस अलौकिक सामर्थ्य के रूप में ही फल-लाभ करते हैं, अर्थात् वे ही भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं । मर्यादाभक्त अपने-अपने अधिकार के

अनुसार कोई सायुज्य प्राप्त करते हैं एवं कोई वैकुण्ठ आदि भगवद्-धामों में भगवान् की सेवा के उपयोगी देह पाते हैं। सायुज्य शब्द का प्रयोग कभी-कभी पुष्टि भक्तों के फल के सम्बन्ध मे भी दिखाई देता है। यहाँ उसे मर्यादा-मार्गीय भक्तों के सायुज्य स पृथक् समझना चाहिए। यहाँ सायुज्य शब्द से अलौकिक सामर्थ्य का ही अर्थ लेना चाहिए। मर्यादा-भक्तों के जिन दो फलों की बात कही गई उनमें सेवक-देह-प्राप्ति को गौण फल एवं सायुज्य को मुख्य फल समझना चाहिए। यह सायुज्य मुक्ति सारूप्यादि समस्त मुक्तियों की परमावधि है। सालोक्य, सारूप्य व सामीप्य चरमावस्था में सायुज्य-रूप में परिणत होते हैं।

पुष्टिभक्त सायुज्य की आकाङ्क्षा नहीं करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट होने पर भक्ति का विलास सम्भव नहीं होता। सायुज्य ब्रह्मानन्द का ही नामान्तर है। भिन्न रूप में स्थिति के बिना अनुभव-रस स्फुरित नहीं होता, इस कारण पुष्टिभक्त सायुज्य नहीं चाहते। सायुज्य-प्राप्त भक्तों को भी परमानन्द का अनुभव होता ही है इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उन्हें यह अनुभव अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है, इन्द्रियवर्ग के भोग्य रूप में नहीं। दूसरी ओर नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त इस एक परमानन्द का अपने स्वरूप या आत्मस्वरूप में तो अनुभव करते ही हैं, इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा भी उन-उनके भोग्य रूप में अनुभव करते हैं। इसीलिए पुष्टि-भक्त स्वरूपान्तःपात-रूपी सायुज्य नहीं चाहते। उन्हें नित्यलीला में प्रवेश करना ही एकमात्र प्रार्थनीय जान पड़ता है।

[illegible] है। इसकी प्राप्ति के [illegible] आवश्यक है। मानसी [illegible] होगा। अपर [illegible] अभिहित होने [illegible] निवृत्त होता है। समस्त जगत् को [illegible] जाना जा सकता है। तब उसके फलस्वरूप अविद्या की निवृत्ति होने के साथ-साथ समस्त प्राकृत धर्म तिरोहित हो जाते हैं। तब शुद्ध पूर्णरूप से निष्पन्न होने पर भगवान् को प्राप्त करने की स्वरूप-योग्यता उत्पन्न होती है। किन्तु केवल मात्र स्वरूपयोग्यता से ही भगवत्-प्राप्ति नहीं हो जाती। उसके लिए सहकारी योग्यता भी आवश्यक है। यह सहकारी योग्यता जीवनिष्ठ भक्तिभाव है। किन्तु यह भक्तिभाव प्रत्येक जीव में नहीं रहता। जिन जीवों को भगवान् अपना लेते हैं, केवल उन्हीं में भक्तिभाव का विकास होता है, अन्यत्र नहीं। सुतरां स्वरूप-योग्यता एवं सहकारी योग्यता दोनों के प्रभाव से भगवत्-प्राप्ति होती है। प्रश्न हो सकता है, कि प्रतिबन्धक-रूपिणी अविद्या वर्तमान रहते भगवत्प्राप्ति किस प्रकार सम्भव है। इसका उत्तर यह है कि अविद्या मायाजनित होने से माया दूर होने पर अविद्या स्वयं नष्ट हो जाती है। भक्त को अर्थात् भगवान् पुरुषोत्तम को सर्वोत्कृष्ट जान कर उनके निकट जो शरणागत या प्रपन्न होता है, उसे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान एवं अन्यान्य समस्त ज्ञान सहज ही हो जाते हैं। इस कारण भक्त एकमात्र श्रीकृष्ण के प्रति शरणागति द्वारा ही अविद्या-सागर को पार होने में समर्थ होते हैं। इसके पश्चात् अविद्या-रहित शुद्ध जीव अक्षर ब्रह्म में लीन होते

है। यह अक्षर ब्रह्म भगवान् का परम धाम है जिसे प्राप्त होने पर फिर लौटना नहीं होता। भक्त भगवद्धाम के रूप से ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। भक्त व ज्ञानियों के स्वभावगत भेद के अनुसार ऐसा होता है। इस अक्षर-ब्रह्मरूपी धाम के जो अधिष्ठाता हैं, वे ही भगवान् पुरुषोत्तम हैं। परम पुरुष पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण क्षर व अक्षर दोनों के अतीत हैं। अर्थात् जीव व अन्तर्यामी दोनो के अतीत हैं। अक्षर ब्रह्म से भगवत्प्राप्ति जिस उपाय द्वारा सिद्ध होती है, वह अत्यन्त रहस्यमय है। क्योंकि भक्ति के बिना भगवत्प्राप्ति किसी के लिए भी सम्भव नहीं। जो भक्त अक्षर ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रणाली से लीन होते हैं अर्थात् जो सद्गुरु के आश्रित होकर भजनाभ्यास के प्रभाव से भक्तिलाभ करते है, एव भगवान् की लीला में प्रवेश करने का अधिकार पाते है, भगवान् विशिष्ट अनुग्रह-वशतः यत्न-पूर्वक उनका उद्धार करके उन्हें भजनानन्द में युक्त करते हैं। क्योंकि इन सब भक्तों को उन्होंने अपना बनाकर ग्रहण किया है। भगवान् के द्वारा किया गया उद्धार सम्पन्न न होने पर ये सब जीव ब्रह्म-सत्ता में अभिन्न रूप से अर्थात् ब्रह्म के साथ एकीभूत रूप से विद्यमान रहते है। भगवान् द्वारा किया जाने वाला उद्धार लीलारस के अनुभव के लिए है। ब्रह्म-सायुज्य अवस्था में जीव की स्थिति निराकार होती है। किन्तु प्रादुर्भाव अवस्था में साकार स्थिति स्वभाव-सिद्ध है। किन्तु यह साकार भाव नित्य है, इसका विकास नही होता। भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तों का ब्रह्मानन्द से उद्धार कर लेते हैं। इस समय जीव का विरहभाव आत्यन्तिक तीव्रता पाकर तीव्र अनल की भाँति उसे दग्ध करता रहता है। यह क्लेश देह

होते हैं। किन्तु इस ब्रह्म-समुद्र में जैसे ज्ञानी साधक प्रवेश करते हैं, वैसे ही भक्त साधक भी प्रविष्ट होते हैं, पर दोनों में पार्थक्य है। भक्त ब्रह्म में ज्ञानीवत् लीन होने पर भी भक्ति के प्रभाव से पुनः उससे उत्थित होते हैं। भक्त के लिए ब्रह्म में चिर-स्थिति सम्भव नहीं है। भक्त भगवान् के विशेष अनुग्रह के पात्र हैं। इस कारण उनका उद्धार करने का भार स्वयं भगवान् पर ही न्यस्त रहता है। इससे प्रतीत होता है कि जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य-लाभ कर लेने पर भी भगवान् की शक्ति द्वारा पृथक् किया जा सकता है। किन्तु यह पृथक् करना वास्तव में पृथक् करना नहीं है, लीलारस के आस्वादन के लिए अपने-अपने स्वभाव का विकास-मात्र है। प्रत्येक जीव की आकृति, प्रकृति, भाव, गुण, क्रिया पृथक्-पृथक् हैं। ये सभी नित्य एवं मायातीत हैं। परम-पुरुष पुरुषोत्तम का स्वभाव जैसे नित्य व अचिन्त्य है, प्रत्येक जीव का स्वभाव भी ठीक वैसा ही है। इन दोनों स्वभावों के खेल से ही अनन्त भगवत्-लीला में अपरिसीम माधुर्य है। किन्तु ब्रह्मा-वस्था में यह स्वभाव आच्छन्न रहता है। स्वभाव का उन्मेष न होने तक लीला में प्रवेश सम्भव नहीं होता। किन्तु यह उन्मेष तभी सम्भव है जब जीव अव्यक्त ब्रह्म-रूपा महासत्ता से उत्थित हुआ हो। यह उद्धार-व्यापार जीव की अपनी कृति द्वारा साध्य नहीं है, अर्थात् यह उसकी अपनी चेष्टा के अतीत है। वस्तुतः चेष्टा तो दूर की बात है, इस अवस्था में जीव की इच्छा का व ज्ञान का विकास भी नहीं रहता। इस कारण भगवान् पुरुषोत्तम स्वतः प्रेरित होकर ही इन जीवों का उद्धार करते हैं, किन्तु ज्ञानी

का स्पर्श नहीं करती। उन्हीं के साथ उनका नित्यानन्द का सम्भोग सम्भव नहीं होता। [illegible] में स्वरूपांश ब्रह्म-स्वरूप के [illegible] परिपूर्ण नहीं हैं [illegible] अतः इनका वे [illegible] करते हैं। [illegible] जिसकी बात पहले कही गयी है। वस्तुतः यह भी स्वभाव की ही क्रीड़ा है।

मायाशक्ति बहिरङ्गा है। वह स्वरूपशक्ति की विरोधी है। स्वरूपशक्ति व मायाशक्ति के बीच में शुद्ध जीव का स्थान है। बहिरङ्गा शक्ति का वैभव अनन्त वैचित्र्य-सम्पन्न है। शुद्ध जीव निराकार चिन्मात्र व अणुपरिमाण है, यह जीव बहिरङ्गा शक्ति द्वारा आकृष्ट होकर मायिक जगत् के वैचित्र्य का आस्वादन करता है। इस अनुभूति में सुख-दुःख दोनों रहने पर भी मूल में यह दुःख की ही अनुभूति है। इस अनुभूति द्वारा जीव की सत्ता विकसित होती है। इसके पश्चात् जीव, स्वरूप शक्ति के राज्य में प्रविष्ट होने पर, वहाँ के वैचित्र्य का पूर्णरूप से आस्वादन कर पाता है। वहाँ भी सुख-दुःख दोनों हैं, किन्तु मूल में दोनों ही आनन्द या रस की ही क्रीड़ा है। जीव यदि साक्षात् रूप से अपने तटस्थ स्वरूप से स्वरूपशक्ति में प्रविष्ट हो सकता तो उसे आनन्द का आस्वादन प्राप्त न हो सकता, केवल एक विराट् चैतन्य में स्थितिलाभ करता। किन्तु वहाँ से पुनः उसका निर्गम होता ही। आणव अवस्था से माया में प्रविष्ट होकर अज्ञानमूलक कर्तृत्वाभिमान के फलस्वरूप कर्मदेह पाकर जीव कर्म करते-करते फलभोग के लिए सुख-दुःखमय संसार में एक लोक से अन्य लोकों में जन्म-मृत्यु के आवर्तन में सञ्चरण

करता रहता है। यहाँ से लौटने के मार्ग में कर्तृत्वाभिमान दूर होता है व मायाराज्य अतिक्रान्त होता है उसके पश्चात् दो प्रकार की गति सम्भव है।

आणवभाव न छोड़ते हुए स्वरूप-शक्ति में प्रविष्ट होने पर प्रकृति के अनुसार आनन्द का आस्वादन पाया जाता है। यही कमल के दल में स्थिति है। दूसरी ओर यदि आणवभाव कट जाता है, तब जीव ऐश्वरिक सत्ता प्राप्त करके कमल की कर्णिका या बिन्दु के बीच अवस्थित होता है। प्रथम गति का फल कैङ्कर्य या दास्य है। द्वितीय गति का फल ऐश्वर्य या प्रभुत्व है।

जीव को बहिरङ्गा शक्ति का सम्बन्ध ही स्वरूपशक्ति-रूप महिमा व माधुर्य का परिचय करा देता है। मायाराज्य में जिस-जिस प्रकार से उसने अभाव का अनुभव किया है, स्वरूप-राज्य में वह ठीक उसी के अनुरूप आनन्द का आस्वादन पाकर तृप्त होता है।

पहले प्रवाह, मर्यादा एवं पुष्टि इन तीनों मार्गों की बात कही गई है। भगवान् का साक्षात् दर्शन एकमात्र भक्तिमार्ग में ही सम्भव है, किन्तु मनःकल्पित रूप में भगवद्दर्शन व सेवा भक्तियुक्त ज्ञान-मार्ग में भी सम्भव है। भक्तिमार्ग का यथार्थ स्वरूप समझना हो तो इस मौलिक त्रिविध अवस्था की बात स्मरण रखनी होगी। जीव, जीव का देह एवं जीव की कृति मार्ग-भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है। जो जीव प्रवाह-मार्ग में चलते हैं वे आसुरिक जीव हैं। दैव जीवों से ये जीव स्वरूपतः भिन्न हैं। प्रवाही जीवों का देह भगवान् के भजन के

वास्तव में ये तीनों सृष्टियाँ स्वतन्त्र हैं। यद्यपि सभी जीव परमपुरुष से ही आविर्भूत हुए हैं यह सत्य है, तथापि सृष्टि के प्रणालीगत भेदानुसार सृष्टि में भिन्नता उत्पन्न हुई है। प्रवाह-जीव भगवान् के मन से, मर्यादा-जीव उनके वाक्य से एवं पुष्टि-मार्गीय जीव उनके काय से उत्पन्न हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि प्रवाहसृष्टि का मूल मन है एवं मर्यादा-सृष्टि का मूल वाक्य अर्थात् वेदरूपिणी वाणी है। किन्तु पुष्टि-सृष्टि का मूल सम्पूर्ण काय या देह है, जो चिदानन्दघन है। प्रवाह-मार्ग ही लौकिक पथ है। इस मार्ग में जो विचरण करते हैं, वे अन्धतमस् रूप फल प्राप्त करते हैं, अर्थात् पुनः पुनः संसार में लौटते रहते हैं। इसका मूल भगवदिच्छा है, जिसके प्रभाव से ये जीव आसुरभावापन्न हुए हैं। वैदिक पथ कर्म व ज्ञान उभयात्मक होने से मर्यादामार्ग दो प्रकार का है। इनमें से ज्ञान-मार्ग का फल अक्षर-प्राप्ति या निर्गुण ब्रह्म-लाभ है। कर्म-मार्ग में सकाम कर्म का फल स्वर्ग-प्राप्ति है। निष्काम कर्म का फल विशुद्ध आत्म-सुख है। किन्तु ये जीव भी यदि कभी भगवान् के अनुग्रह से भक्त का सङ्ग प्राप्त कर लेते हैं तो मर्यादामार्गीय भक्तों को मुक्ति-रूप पुरुषोत्तमप्राप्ति हो जाती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति का फल सभी इन्द्रियों के आस्वाद्य पुरुषोत्तम के स्वरूपभूत आनन्द की प्राप्ति है। पहले कहा गया है कि मर्यादामार्गीय भक्त भी पुरुषोत्तम को प्राप्त होते हैं। अब कहा गया कि पुष्टिमार्गीय भक्त भी भगवान् को प्राप्त होते हैं। इन दोनों प्राप्तियों में पार्थक्य है। मर्यादाभक्त जो पुरुषोत्तम को प्राप्त होते हैं वह मुक्ति का ही नामान्तर है। किन्तु पुष्टि-भक्तों को पुरुषोत्तम की प्राप्ति साक्षात् स्वरूप-सम्बन्ध की अनुभव-

कृपा है। कहना न होगा, दोनों ही जगह भगवान् की इच्छा ही मुख्य है।

इस त्रिविध सृष्टि का प्रयोजन भी पृथक् पृथक् है। पुष्टिभक्तों की सृष्टि का मुख्य उद्देश्य भगवान् के स्वरूप की सेवा है। इस सेवा के प्रकार-भेद अनेक हैं। स्वरूप अर्थात् लीलोपयोगी देह, अवतार अर्थात् प्राकट्य, लिङ्ग अर्थात् भजनदेह के चिह्न, आयु आदि एवं गुण अर्थात् सौन्दर्य एवं रसोद्बोधक चातुर्य आदि—इन सब उपायों से सेवा का वैलक्षण्य लक्षित होता है।

पूर्वोक्त विवरण से जाना जा सकता है कि भगवान् की अन्तरङ्ग लीला में स्वरूपतः से सभी जीवों को प्रवेश का अधिकार नहीं है। आसुरिक जीवों को तो नहीं ही है, मर्यादा जीवों को भी नहीं, क्योंकि वे मर्यादा या विधि मार्ग के अधीन होकर चलते हैं, वे अधिकतर या निर्गुण ब्रह्म में अथवा आत्मानन्द में मग्न हो जाते हैं। भावलीला में प्रवेश उनके लिए सम्भव नहीं है। एकमात्र पुष्टिमार्ग के जीव ही अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भजनदेह का अवलम्बन करके भगवान् की लीला में प्रविष्ट हो सकते हैं। इसका मूल है सृष्टि के आरम्भ में भगवान् द्वारा किया गया वरण।

अतएव जाना जा सकता है कि जीव को तटस्थ शक्ति से प्रसूत अणु-रूप समझने पर भी जिन जीवों में भगवान् की अन्तरङ्गभूता ह्लादिनी शक्ति का प्रतिबिम्ब अथवा आभास निहित है, वे ही उस समय विपर्यय-वशात् मायागर्भ में प्रविष्ट होने पर भी

कालान्तर में माया से उत्थित होकर केवल तटस्थ-स्वरूप मे विश्रान्त रहने के बदले ह्लादिनी शक्ति के रङ्गमहल में प्रेमिक भक्त के रूप में भगवान् के साथ आनन्द-क्रीड़ा करने के लिए, प्रवेश करने में समर्थ होते हैं।

जीवतत्त्व व भगवत्तत्त्व के आनुषङ्गिक सिद्धान्त के सम्बन्ध मे माध्वमत में किसी-किसी अंश में वैशिष्ट्य है। उनके सिद्धान्त के अनुसार जीवों का मुक्त अवस्था में भी साम्यभाव स्वीकृत नही है। जीव का प्रकृतिगत वैलक्षण्य सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यद्यपि जीवमात्र ही भगवान् के आश्रित हैं एवं अणु-चैतन्य-स्वरूप हैं, तथापि उन सब की प्रकृति एक-समान नही है। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक भेदों में बद्ध जीवों का श्रेणी-विभाग है। बद्ध जीव एवं मुक्त जीवों में भी पार्थक्य स्पष्ट प्रतीत होता है। ब्रह्मा आदि देवगण, ऋषिगण, पितृगण, गन्धर्व आदि सात्त्विक जीव हैं। श्रेष्ठ मनुष्य भी सात्त्विक जीवो के अन्तर्गत हैं। किन्तु निकृष्ट प्रकृति के मनुष्य राजसिक जीवो के अन्तर्गत हैं क्योंकि वे काम्य कर्मों में रत रहते हैं। इसके अतिरिक्त कलि, कालनेमि आदि एवं राक्षस व दानवगण तामसिक जीव हैं। सात्त्विक जीव मुक्ति के योग्य हैं—राजसिक जीव नित्य संसारी हैं एवं तामसिक जीव नरकादि अधोगति के योग्य हैं।

भगवान् के उदर में मुक्त एवं बद्ध सभी प्रकार के जीव विद्यमान हैं। प्रत्येक जीव का ही अपने स्वरूप के अनुरूप स्वरूप-देह है। यह स्वरूपदेह सभी का एक जैसा नहीं है। सात्त्विक जीवों का स्वरूपदेह ज्ञानानन्दमय है। किन्तु राजसिक जीवों के स्वरूप-

आकार के अनुरूप ही है, ऐसे भ्रम में कोई न पड़ें। क्योंकि स्वरूपदेह में जो नर-रूप है, वह स्थूल देह में पशु-पक्षी भी हो सकता है, एवं मनुष्य का स्वरूपदेह भी मनुष्याकार न होकर पशु-पक्षी-रूप हो सकता है। स्वरूपदेह नित्य है एवं कर्मजन्य नहीं है। किन्तु भौतिकदेह कर्मजन्य है। स्वरूपदेह साकार न होने पर लिंग व भौतिक देह में भी आकार नहीं हो सकता।

अतएव जीवमात्र ही भगवान् को प्राप्त होंगे या हो सकते हैं, ऐसी बात नहीं है। सात्त्विक जीवों में से उच्चतम अधिकार-विशिष्ट जीवों से अतिरिक्त अन्य जीवों के लिए भगवत्प्राप्ति असम्भव है।

भगवान् के स्वरूपांश व विभिन्नांश नाम से दो प्रकार के अंश माने जाते हैं। उनमें से पूर्ववर्णित जीवों का स्वरूपदेह उनके विभिन्नांश के अन्तर्गत है, स्वरूपांश से अवतार आदि को समझना चाहिए। इनका देह श्रीभगवान् के स्वरूप से अभिन्न है।

माध्व-मत में मुक्त-जनों की भी आनन्दानुभूति में तारतम्य है। उसी प्रकार देवताओं में भी तारतम्य है। असुरों की दुःखानुभूति में भी तारतम्य है। मुक्तावस्था में ब्रह्मा का आनन्द दूसरों के आनन्द की अपेक्षा सर्वांश में अधिक है। एकमात्र ब्रह्मा को छोड़कर और किसी को सायुज्य-मुक्ति नहीं होती। सायुज्य मुक्ति के समय जीव अपने बिम्बरूप भगवत्-स्वरूप में प्रविष्ट होता है। वास्तव में यह जीव का स्वेच्छा से आत्मबिम्ब में प्रवेश मात्र है, और कुछ नहीं। इच्छा के अनुसार अपने बिम्ब से पृथक् रू

में अवस्थान अवश्य होता है। अन्यान्य मुक्त पुरुषों में अधिकार के अनुसार कोई सालोक्य, कोई सामीप्य प्राप्त करते हैं। अवश्य ही, यह स्मरण रखना होगा कि मुक्तमात्र को ही सारूप्य-लाभ अवश्यम्भावी है, क्योंकि प्रत्येक मुक्त पुरुष अपने अपने अधिकार के अनुसार कोई भी अवस्था क्यों न प्राप्त करें, भगवत्-स्वरूपभूत अपने विग्रह के अनुरूप आकार अवश्य प्राप्त करते हैं। सारूप्य शब्द का यह अर्थ नहीं है कि सभी चतुर्भुज विष्णु अथवा द्विभुज कृष्ण का आकार धारण करेंगे। और भी एक बात है—जो सब जीव मुक्त हो जाते हैं, उनकी स्थिति के सम्बन्ध में भी परस्पर वैचित्र्य दिखाई देता है, क्योंकि सृष्टि के समय में सब मुक्त पुरुष अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों में विचरण करते हैं। सभी विभिन्न प्रकार के आस्वादन लिए लीला व आनन्द का अनुभव करते हैं, एवं भगवत्-सेवा व ध्यान में तत्पर रहते हैं। किन्तु सभी वैकुण्ठ में ही अवस्थान करेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है; स्वर्ग से लेकर सत्यलोक पर्यन्त के किसी भी लोक में एवं अनन्तासन, श्वेतद्वीप, वैकुण्ठ आदि किसी भी स्थान में वे विहार कर सकते हैं। अवश्य ही, यह सृष्टि-अवस्था की बात है। जब सृष्टि का उपसंहार होता है, तब इन सब जीवों के अवगुण्ठित हो जाने से सभी वैकुण्ठ में अवस्थान करते हैं।

जो नित्य संसारी हैं, वे तीन लोकों में संचरण करते रहते हैं। उनको जन्म व मृत्यु का भोग नहीं करना पड़ता। जो तामसिक हैं, वे अपने तामस स्वरूप की अभिव्यक्ति होने पर अन्धतम अवस्था में सुषुप्तवत् रहते हैं। इस अवस्था में उनकी पुनरावृत्ति

नही होती। कल्प का अवसान होने पर भी ऐसा ही होता है। एक कल्प के जीव दूसरे कल्प में प्रवेश नहीं कर सकते।

भगवद्दर्शन किस प्रकार होता है, इस सम्बन्ध में भक्तों के अपनी अपनी सांप्रदायिक दृष्टि के अनुसार किसी-किसी अंश में पृथक् मत रखने पर भी भक्ति के कारण के सम्बन्ध में उनमें कोई मतभेद नहीं है। मध्वाचार्य कहते हैं कि भक्ति विभिन्न प्रकार की है एवं विभिन्न भक्तियों के फल भी विभिन्न प्रकार के हैं। सर्वप्रथम भक्तिमार्ग में प्रवृत्त होने के मूल में जो श्रद्धारूपा वृत्ति हृदय में उत्पन्न होती है, वही भक्ति का प्राथमिक रूप है। इस के द्वारा शास्त्र एवं महात्माओं के मुख से भगवान् के महात्म्य के श्रवण-पूर्वक तद्विषयक ज्ञान लाभ होता है। इस माहात्म्य-ज्ञान से पुनः द्वितीय भक्ति का उदय होता है, जिसे साधनभक्ति कहते हैं। इस भक्ति का क्रमिक उत्कर्ष सिद्ध होने पर भगवद्विषयक अपरोक्ष ज्ञान लब्ध होता है। इस अपरोक्ष ज्ञान के पश्चात् तृतीय भक्ति का उदय होता है; इस का नाम परमा भक्ति है। परमा भक्ति उदित न होने तक मुक्ति-लाभ संभव नहीं होता। भगवान् के श्रीचरणों की प्राप्ति ही मुक्ति का स्वरूप है। मुक्ति होने के पश्चात् चतुर्थ भक्ति का उदय होता है, जिस का नाम स्वरूप-भक्ति है। यही जीवमात्र का अन्तिम लक्ष्य है, यह स्वयं साध्यरूपा एवं परम आनन्दस्वरूपा है।

यह जिस मुक्ति की बात कही गई, इस की अभिव्यक्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक लिङ्गदेह का विनाश नहीं होता। पहले ही कहा गया है कि स्वरूपदेह का आवरण भौतिक देह

श्रीकृष्ण सन्दर्भ . ९८

है। लिङ्ग-देह-रूप आवरण के निवृत्त हुए बिना स्वरूप देह का आविर्भाव नहीं होता। स्वरूप के आविर्भाव का ही नामान्तर है मुक्ति। ऐसा स्वरूपदेह में प्रतिष्ठित हो कर भगवान् का भजन करते हैं। यह भजन उन का स्वभावसिद्ध है। इसी का नाम स्वरूप-प्राप्ति है जिस को परमपुरुषार्थ कहा जा सकता है। लिङ्गदेह-रूप आवरण की निवृत्ति का उपाय भक्ति-साधना है, यह कहना न होगा। मुक्ति जीव के अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति है, यह सर्वविदित है। किन्तु इस स्वरूप पर दो प्रकार के आवरण हैं, जिन के प्रभाव से यह अभिव्यक्त नहीं हो पा रहा है। इन दोनों आवरणों में से एक जीव का आवरण है, दूसरा परावरण। जो अविद्या जीवाश्रित है एवं जीव के स्वरूप को ढंके हुए है, वही जीवावरण है; और जो आवरण परतत्त्व या ईश्वर को आश्रय बना कर अवस्थित है, वह अर्थात् ईश्वर की मायाशक्ति परावरण है। भगवान् की प्रसन्नता-वशात: पूर्व-वर्णित भक्ति-साधना के प्रभाव से ये दोनों प्रकार के आवरण कट जाने पर लिङ्गदेह की निवृत्ति होती है एवं स्वरूपदेह का आविर्भाव होता है। भक्ति-साधना से भगवान् प्रसन्न होते हैं। तब वे जीवावरण का विनाश करते हैं एवं परावरण को दूर करते हैं। तब जीव अपने हृदय-स्थित परम-पुरुष को चिन्मय चक्षु द्वारा देखने में समर्थ होता है। साध्य-मत में जीव-स्वरूप में तारतम्य होने से स्वरूपसिद्ध ज्ञान व आनन्द में भी तारतम्य रहता है।

उपरिलिखित विवरण से निम्नलिखित तथ्यों को स्पष्ट समझा जा सकता है: सात्त्विक जीवों का नित्य स्वरूप भक्तिमय

मन निष्कलुष होकर भगवान् में भक्ति करने में समर्थ होता है। निष्काम कर्मानुष्ठान से कलुषमुक्त चित्त में प्रेम का आविर्भाव होता है अथवा भक्ति होती है। कर्म ही निरोध या प्रतिबन्धक दूर कर साधन का निर्माण है। यह आराधना क्रियात्मक होने से उपासना कहलाता है और मुक्ति एवं सम्पूर्ण रूप में होने पर उसका फल होता है परा मुक्ति।

श्रीरामानुज के आचार्यों ने भक्तितत्त्व का जितना विश्लेषण किया है, उससे प्रतीत होता है कि उनके मत में भी भक्ति की चरम अवस्था में ही अर्थात् ऐकान्तिक व आत्यन्तिक अवस्था में ही भगवद्दर्शन होता है। इस भक्ति को परमा भक्ति कहते हैं। वे कहते हैं कि एकमात्र भक्ति द्वारा ही भगवान् की उपलब्धि संभव है। कर्म एवं ज्ञान भक्ति के सहायक अंग रूप में आवश्यक होते हैं। विशुद्ध भक्ति के अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस कारण साधारण अधिकारी के लिए कर्म व ज्ञान की सहायता लेकर भक्तिमार्ग में अग्रसर होना सम्भव है। ज्ञान भक्ति का अन्तरंग साधन है, एवं कर्म बहिरंग साधन। निषिद्ध व काम्य कर्मों का त्याग करके निष्काम भाव से नित्य व नैमित्तिक कर्म करना अर्थात् निष्काम कर्मानुष्ठान ही कर्मयोग है। इस योग का यथा-विधि अनुष्ठान कर पाने से जीव का चित्त कलुष से मुक्त होता है। तब जीव अपेक्षाकृत सरलता से ज्ञानयोग का आश्रय ले सकता है। आत्मा व परमात्मा में अंशाङ्गि-सम्बन्ध है। सुतरां आत्मा को अर्थात् प्रकृति-सम्बन्धहीन अपने आत्मा को परमात्मा के अंग या शेष रूप में समझना ही ज्ञानयोग का उद्देश्य है। इस

प्रकार कर्म व ज्ञान दोनों के द्वारा अनुगृहीत भक्तियोग ही भगवत्प्राप्ति की प्रधान साधना है। भक्ति से आचार्यगणों का तात्पर्य ज्ञानविशेष ही रहता है। वे कहते हैं कि उपासना, वेदन, ध्यान व स्मृति मूल में एक ही वस्तु हैं। पुनः पुनः उसका अभ्यास कर पाने पर भगवद्विषयक स्मृति अविच्छिन्न एवं प्रीतियुक्त होकर प्रकाशित होती है। इस अवस्था में उसको भक्ति नाम दिया जाता है। भक्ति के उत्कर्ष के फलस्वरूप परा भक्ति का उदय होता है। पराभक्ति क्रमशः परमज्ञान में परिणत होकर उसके बाद चरमावस्था में परमा भक्ति के रूप में आविर्भूत होती है। परमा भक्ति के पश्चात् भगवान् का साक्षात्कार निश्चित है।

पूर्वोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्रकृत प्रस्ताव में आचार्य-मत के अनुसार कर्म, ज्ञान व भक्ति यही स्वाभाविक क्रम है।

रामानुजीय आचार्यगण भी भगवान् की नित्यलीला स्वीकार करते हैं एवं परमधाम में भगवान् की सत्ता एवं नित्य व मुक्त भक्तों की सत्ता मानते हैं। उनके मत से भगवान् नित्य साकार हैं, उनमें अनन्त शुभ गुण विराजमान हैं। सौन्दर्य, औदार्य, माधुर्य, लावण्य, सौशील्य, करुणा, वात्सल्य आदि अनन्त मंगलमय गुण भगवान् में अर्थात् भगवद्विग्रह में नित्य विराजमान हैं। जीव मुक्तावस्था में वैकुण्ठधाम में जाकर चिदानन्द पार्षद-देह को प्राप्त होता है एवं भगवान् के साथ साक्षात् रूप से लीला मे योगदान करता है। जीव स्वरूपतः अणु होने पर भी मुक्तावस्था में वह स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीनों देहों से अव्याहति

नहीं होता। विशेष प्रकार के कर्मफलरूप भगवान् के अपने स्वरूपा-वरण की निवृत्ति होती है। यही परमा भक्ति है। यह लिंगदेह में रहते ही होती है। किन्तु कर्मों के फलस्वरूप लिंगदेह भी निवृत्त होता है। वस्तुतः यह परमा भक्ति मुक्ति का अव्यवहित हेतु है। परमा भक्ति का हेतु भगवत्-साक्षात्कार है। भगवत्-साक्षात्कार के साथ ही साथ लिंगदेह की निवृत्ति नहीं होती—यह कहना अनावश्यक है। पहले ही कहा गया है कि भगवद्दर्शन होने पर भी लिंगदेह रहता है, एवं इस देह में अवस्थित रहते हुए परमा भक्ति का अनुशीलन होता है। क्रमशः दोनों आवरण एवं लिंग निवृत्त हो जाते हैं। भगवद्दर्शन की कारणभूता भक्ति साधन-भक्ति है। यह भौतिक देह में ही उपलब्ध होती है। श्रद्धा से आरम्भ कर के साधनभक्ति का अनुभव होने तक भौतिक देह का अभिमान रहता है। परमा भक्ति का अनुभव भौतिक देहाभिमान रहते नहीं होता। यह केवल लिंगदेह में होता है। स्वरूप भक्ति का अनुभव भौतिक देह में भी नहीं होता, लिंगदेह में भी नहीं होता - मुक्त पुरुष के स्वरूपदेह में होता है।

अतएव नित्यलीलादि भक्तिविज्ञान की अनुभूति सब मुक्ता-वस्थाओं के पश्चात् स्वरूप देह में होती है, यही सिद्धान्त है।

अपरोक्ष ज्ञान उदित न होने तक परमा भक्ति का आविर्भाव नहीं होता, यह बात पहले कही गयी है। अपरोक्ष ज्ञान के मूल में साधनभक्ति है; यह भी कहा गया है। वस्तुतः यह साधन-भक्ति ही श्रवण, मनन व निदिध्यासनरूप परोक्ष ज्ञान है। अप-रोक्ष ज्ञान का करण मन है। किन्तु जब तक मन मायारूप यन्त्र-

निका द्वारा आच्छन्न रहता है, तब तक वह ठीक-ठीक कार्य नहीं कर सकता। यह यवनिका प्रतिबन्धकस्वरूप है। इस के द्वारा मन निरुद्ध रहता है, इस कारण दर्शन करने में समर्थ नहीं होता। किन्तु जब श्रवणादि द्वारा यह प्रतिबन्धक दूर हो जाता है तब मन भगवद्दर्शन के प्रधान अङ्ग के रूप में कार्य करता है। 'श्रवण' का क्या तात्पर्य है—उपनिषद् के जिन वाक्यों में भगवान् की महिमा का कीर्त्तन हुआ है, इन सब वाक्यों का अर्थ गुरु-मुख से सुनना होता है। इस के लिए उपक्रमादि लिंगों की आवश्यकता है। वेदान्त-दर्शन में इस की प्रक्रिया प्रदर्शित हुई है। मनन का तात्पर्य है—प्रबल युक्ति द्वारा पुनः पुनः पूर्वोक्त अर्थ का स्वयं अथवा शास्त्राभ्यास द्वारा अथवा अन्य किसी उपाय से प्रतिक्षण चिन्तन करना। निदिध्यासन शब्द का अर्थ यह है—जो भगवद्गुण श्रवण व मनन द्वारा निर्णीत हुए हैं उन का निरन्तर ध्यान ही निदि-ध्यासन है। यह तैलधारावत् अविच्छिन्न मनोवृत्ति द्वारा सम्पन्न करना होता है। जो विषय भगवत्स्वरूप से भिन्न हैं, उनको असार समझते हुए उन से निवृत्ति आवश्यक है। उस के अतिरिक्त एकमात्र भगवत्तत्त्व में स्नेह व प्रेम के साथ अनुवृत्ति आवश्यक है। पुनः पुनः श्रवण कर पाने से मननशक्ति आविर्भूत होती है एवं मनन करते-करते ही ध्यानशक्ति जगती है। ध्यान के पुनः पुन अभ्यास का फल ही अपरोक्ष ज्ञान है।

श्रवण, मनन व निदिध्यासन ये तीन परोक्ष ज्ञान के स्वरू हैं। ये सभी मन के सहकारी हैं; मन अंगी है, ये सब उसके अं स्वरूप हैं। इन सब सहकारियों के द्वारा क्रमशः अन्य विषयो

भक्त निरन्तर होकर भगवान् में भक्ति करने में समर्थ होता है। निरन्तर [illegible] के [illegible] प्रेम का आविर्भाव होता है [illegible] भगवान् प्रसन्न होते हैं। तब वे निर्गुण या [illegible] [illegible] का [illegible] हैं। यह अवस्था [illegible] होने से [illegible] होता है [illegible] पूर्ण रूप में होने पर उसका फल होता है परा भक्ति।

श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों ने भक्तितत्त्व का जितना विश्लेषण किया है उससे प्रतीत होता है कि उनके मत में भी भक्ति की चरम अवस्था में ही अर्थात् ऐकान्तिक व आत्यन्तिक अवस्था में ही भगवद्दर्शन होता है। इस भक्ति को परा भक्ति कहते हैं। वे कहते हैं कि एकमात्र भक्ति द्वारा ही भगवान् की उपलब्धि संभव है। कर्म एवं ज्ञान भक्ति के सहायक अंग रूप से आवश्यक होते हैं। विशुद्ध भक्ति के अधिकारी अत्यन्त दुर्लभ हैं। इस कारण साधारण अधिकारी के लिए कर्म व ज्ञान की सहायता लेकर भक्तिमार्ग में प्रविष्ट होना सम्भव है। ज्ञान भक्ति का अन्तरंग साधन है, एवं कर्म बहिरंग साधन। निषिद्ध व काम्य कर्मों का त्याग करके निष्काम भाव से नित्य व नैमित्तिक कर्म करना अर्थात् निष्काम कर्मानुष्ठान ही कर्मयोग है। इस योग का यथाविधि अनुष्ठान करने से जीव का चित्त कलुष से मुक्त होता है। तब जीव अपेक्षाकृत सरलता से ज्ञानयोग का आश्रय ले सकता है। आत्मा व परमात्मा में अंगाङ्गि-सम्बन्ध है। सुतरां आत्मा को अर्थात् प्रकृति-सम्बन्धहीन अपने आत्मा को परमात्मा के अंग या शेष रूप से समझना ही ज्ञानयोग का उद्देश्य है। इस

प्रकार कर्म व ज्ञान दोनों के द्वारा अनुगृहीत भक्तियोग ही भगवत्प्राप्ति की प्रधान साधना है। भक्ति से आचार्यगणों का तात्पर्य ज्ञानविशेष ही रहता है। वे कहते हैं कि उपासना, वेदन, ध्यान व स्मृति मूल में एक ही वस्तु हैं। पुनः पुनः उसका अभ्यास कर पाने पर भगवद्विषयक स्मृति अविच्छिन्न एवं प्रीतियुक्त होकर प्रकाशित होती है। इस अवस्था में उसको भक्ति नाम दिया जाता है। भक्ति के उत्कर्ष के फलस्वरूप परा भक्ति का उदय होता है। पराभक्ति क्रमशः परमज्ञान में परिणत होकर उसके बाद चरमावस्था में परमा भक्ति के रूप में आविर्भूत होती है। परमा भक्ति के पश्चात् भगवान् का साक्षात्कार निश्चित है।

पूर्वोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि प्रकृत प्रस्ताव में आचार्य-मत के अनुसार कर्म, ज्ञान व भक्ति यही स्वाभाविक क्रम है।

रामानुजीय आचार्यगण भी भगवान् की नित्यलीला स्वीकार करते हैं एवं परमधाम में भगवान् की सत्ता एवं नित्य व मुक्त भक्तों की सत्ता मानते हैं। उनके मत से भगवान् नित्य साकार है, उनमें अनन्त शुभ गुण विराजमान हैं। सौन्दर्य, औदार्य, माधुर्य, लावण्य, सौशील्य, करुणा, वात्सल्य आदि अनन्त मंगलमय गुण भगवान् में अर्थात् भगवद्विग्रह मे नित्य विराजमान हैं। जीव मुक्तावस्था में वैकुण्ठधाम में जाकर चिदानन्द पार्षद देह को प्राप्त होता है एवं भगवान् के साथ साक्षात् रूप से लीला मे योगदान करता है। जीव स्वरूपतः अणु होने पर भी मुक्तावस्था में वह स्थूल, सूक्ष्म व कारण इन तीनों देहों से अव्याहति

धारण कि यह सत्त्वमय नित्य व निर्मल देह प्राप्त करता है। इस देह में भगवान् के गुण क्रीड़ा किया करते हैं। चतुर्भुज नारायण-मूर्ति ही भगवान् का स्वरूप है, द्विभुज श्रीकृष्ण-मूर्ति उनका अवतार मात्र है। कहना न होगा कि अवतार व अवतारी स्वरूपतः अभिन्न हैं। भगवान् के व्यूह, अर्चा आदि भेदों का विवरण प्रसंगतः कहा गया है।

भक्ति एवं प्रपत्ति इन दो सद्गुणों के कारण भगवान् जीव के प्रति प्रसन्न हो कर उस को मोक्षफल देते हैं। यथार्थ मोक्ष भगवच्चरणों का आश्रय पाना व कैङ्कर्य-लाभ है। यह भक्ति के बिना नहीं हो सकता। शुष्क ज्ञान अर्थात् प्रकृति से रहित आत्म-स्वरूप-ज्ञान-मात्र से जो मुक्ति लब्ध होती है वह कैवल्य का दूसरा नाम है। इस प्रकार मुक्ति में भगवान् के आनन्द का आस्वादन नहीं मिलता। यथार्थ भक्ति अथवा शुद्धा भक्ति सात प्रकार की साधना के अनुशीलन से उत्पन्न होती है। इन सात साधनाओं के नाम हैं विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद व अनुद्धर्ष। इन में से विवेक शब्द से जाति, आश्रय व निमित्त इन त्रिविध दोषों से रहित अन्न द्वारा देह की पुष्टि व शुद्धि को लक्षित किया जाता है। भोग्य अन्न के तीन प्रकार के दोषों का आचार्यगण उल्लेख करते हैं। उनमें से कोई-कोई भोग्य पदार्थ जातिदोष से दुष्ट हैं; जैसे प्याज, लहसुन, आदि। आश्रय दोष का दृष्टान्त उच्छिष्ट अथवा अपर जाति द्वारा स्पृष्ट अन्न ग्रहण है। इस से प्रतीत होता है कि जो अन्न इन त्रिविध दोषों से दुष्ट नहीं है वही देहशुद्धि या विवेक का साधन है।

'विमोक' शब्द का अर्थ है कामशून्यता। शुभ आश्रय के पुनः पुनः अनुशीलन को 'अभ्यास कहते हैं। यथाशक्ति पञ्च महायज्ञों आदि अनुष्ठान को 'क्रिया' कहते हैं। सत्य, सरलता, अहिंसा, दया, दान आदि सद्गुणों को 'कल्याण' कहते हैं। दैन्य का अभाव ही अनवसाद है। अर्थात् कभी भी अवसन्न या उत्साहहीन नहीं होना, यही उद्देश्य है। सन्तोष अर्थात् तुष्टि के अभाव को अनुद्धर्ष कहते हैं। इस प्रकार सात साधनाओं द्वारा भक्ति का यथाविधि परिशीलन होने पर वह यथासमय दर्शन-समानाकार अर्थात् अपरोक्ष रूप धारण करती है। इस भक्ति की चरम अवधि अन्तिम प्रत्यय है, जो चाहे वर्तमान शरीर के अवसान के समय ही हो अथवा प्रारब्ध समाप्त न होने के कारण शरीरान्तर के अवसान के समय हो, अवश्य ही आविर्भूत होता है। प्रपत्ति अथवा शरणागति भक्ति के ही अंगस्वरूप हैं। आचार्यों के मतानुसार साधनभक्ति व फलभक्ति के भेद से दो प्रकार की भक्ति का वर्णन पाया जाता है। साधनजन्य भक्ति साधनभक्ति है, किन्तु जो भक्ति साक्षात् भगवान् की कृपा से जनित है वही फलभक्ति है। पराङ्कुश आदि भक्तों की भक्ति का फलभक्ति के दृष्टान्त रूप से ग्रहण किया जाता है।

भगवान् की प्रसन्नता के दो उपाय हैं—भक्ति व प्रपत्ति, यह बात पहले कही गयी है। उनमें से भक्ति के सम्बन्ध में कुछ-कुछ कहा गया है। प्रपत्ति के सम्बन्ध में संक्षेप में दो-एक बातें कहना आवश्यक जान पड़ता है।

प्रपत्ति शब्द का अर्थ शरणागति है अर्थात् भगवान् की प्राप्ति

[illegible]

कि जितने प्रकार के उपाय शास्त्र में वर्णित हैं उनमें से किसी को भी [illegible] अत्यन्तगति होता है, एवं उसको पाने में अपने [illegible] को सर्वथा असमर्थ समझता है तब उसको पाने के लिए उन्हीं को एकमात्र उपाय मान लेता है। इसी का नाम प्रपत्ति है। इसमें महाविश्वास पूर्वक अवलम्बन करना होता है। जिस विश्वास में निम्नलिखित तीन प्रकार के दोष नहीं रहते, वही महाविश्वास है। इन सब दोषों के कारण विश्वास का बल कम हो जाता है। तीन दोष ये हैं—

(१) उद्देश्य को दुर्लभ समझना। इस अवस्था में चित्त में निरुत्साह का भाव आता है, क्योंकि हृदय में ऐसी धारणा होती है कि अपने में तो साधन-सामर्थ्य कुछ भी नहीं है, अतएव भगवत्प्राप्ति किस प्रकार सम्भव होगी? (२) सभी उपायों में फल्गुभाव अर्थात् कर्म एवं ज्ञान साधनरूप भी इन को तुच्छ समझ कर छोड़ कर केवल भगवान् की शरण ग्रहण करने से ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है—ऐसा समझना। (३) सर्वदा अपने दोषों का अनुसन्धान अर्थात् निरन्तर अपने दोषों का स्मरण करते हुए, आशा, भरोसा छोड़ बैठना। 'मेरे जैसा पापी कैसे प्रभु को पा सकता है'—ऐसा समझना दोष है। जब भगवान् पर पूर्ण विश्वास होता है—जिसे महाविश्वास कहते हैं, तब उसमें ये तीन दोष नहीं रहते।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के किसी-किसी ग्रन्थ में प्रपत्ति के जिन ६ अङ्गों की बात उल्लिखित हुई है उनके नाम ये हैं—(१) आनुकूल्य का सङ्कल्प अर्थात् भगवान् सर्वव्यापक हैं, वे चेतन व

अचेतन सभी पदार्थों में ओतप्रोत रूप से अनुस्यूत हैं, इस तत्त्व को विशेष रूप से बोधगम्य करके जीवमात्र के प्रति अनुकूलभाव रखना ही शरणागति का प्रथम अंग है। (२) प्रातिकूल्य का त्याग। अर्थात् किसी भी जीव के प्रति शरीर, मन व वाणी से हिंसाभाव न रखना। अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा, यही द्वितीय अंग है। (३) वे मेरी रक्षा अवश्य ही करेंगे ऐसा विश्वास। भगवान् सर्वशक्तिमान् एवं दयामय हैं। जीव उनका सेवक व आश्रित है। यही अनादिसिद्ध सम्बन्ध है। सुतरां आश्रित वत्सलता के कारण वे आश्रित की रक्षा अवश्य ही करेंगे। ऐसा दृढ़ विश्वास रहने से सभी दुष्कृतियों से जीव अव्याहति पा सकता है। यह विश्वास ही तृतीय अंग है। (४) भगवान् को जीव के रक्षक-पद पर वरण करना। अर्थात् यद्यपि भगवान् में दया एवं सर्व सामर्थ्य है, एवं यद्यपि वे सभी के प्रभु हैं, तथापि किसी के प्रार्थना न करने से वे उसकी रक्षा नहीं करते। इस कारण संसार-बन्धन छोड़कर उसे अपने रक्षक-पद पर वरण करना होता है, अर्थात् अपनी रक्षा के लिए निरन्तर उनसे प्रार्थना करना होता है,—यही चतुर्थ अंग है। (५) आत्मनिक्षेप या आत्मसमर्पण। निष्काम भगवत्सेवा को छोड़ कर भोग अथवा मोक्षरूप कोई फल प्रपन्न नहीं चाहता। जो वस्तुतः शरणागत है, वह उपाय एवं फल दोनों के प्रति अपना प्रयत्न करने से निवृत्त होता है एवं समझता है कि सब कुछ ही भगवान् के अधीन है। इसी का नाम आत्मनिक्षेप है। यही मुख्य शरणागति है। आत्मसमर्पण को अङ्ग न कह कर अङ्गी कहने में भी कोई हानि नहीं।

भाव एवं उपायान्तर-निरपेक्षता होने से ही प्रपन्न हुआ जा सकता है।

प्रपत्ति दो प्रकार की है—आर्त्त व दृप्त। आर्त्त प्रपत्ति में सभी अङ्गों का सान्निध्य एक साथ ही होता है। किन्तु दृप्त प्रपत्ति में एक निर्दिष्ट क्रम लक्षित होता है। आर्त्त व दृप्त प्रपत्ति का परस्पर पार्थक्य इस प्रकार का है—इस देह द्वारा समस्त प्रारब्ध भोग करके और देहान्तर ग्रहण न करना पड़े, इस विश्वास से जो भगवान् के शरणागत होता है उसे दृप्त प्रपन्न कहते हैं : किन्तु जो व्यक्ति संसार-ताप बिल्कुल ही नहीं सहन कर सकते, जिन को क्षण भर भी संसार में रहना लम्बा प्रतीत होता है, जो दावाग्नि की ज्वाला में पतित पशु-पक्षी की भाँति छटपटाते हैं एवं अव्याहति पाने के लिए इतस्ततः दौड़ते हैं, ऐसे लोग बिना किसी विलम्ब के सर्वदुःखशमन भगवान् की प्राप्ति के लिए जिस तीव्र उत्कण्ठा का अनुभव करते हैं, उसी का नाम आर्त्त प्रपत्ति है।

प्रपन्न का मुख्य गुण है चातक की भाँति दृढ़ निष्ठा। शरण्य का मुख्यगुण है प्रपन्न की रक्षा करने के लिए सर्वस्वदान तक का सङ्कल्प इत्यादि।

पौराणिक साहित्य व प्राचीन इतिवृत्त का अनुसन्धान करने से सभी श्रेणियों के जीवों में ही प्रपन्न का दृष्टान्त पाया जाता है। देवताओं में ब्रह्मा, रुद्र आदि, मनुष्यों में युधिष्ठिर एवं द्रौपदी आदि एवं राम-लक्ष्मण आदि, जीवों में गजेन्द्र, कालियनाग आदि, राक्षसों मे विभीषण—प्रपन्न के उदाहरण हैं। इन्द्रपुत्र जयन्त व रामानुज आदि सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक भक्त—सभी ने प्रपत्ति की महिमा की घोषणा की है।

प्रपत्ति के अधिकारी दो श्रेणियों में विभक्त हैं। इन में से कोई ज्ञानाधिक्य [illegible] एवं कोई [illegible] हैं, जैसे लक्ष्मण, जटायु, [illegible] आदि।

प्रपत्ति व शरणागति समानार्थक हैं। इसी को प्राचीन ऋषियों ने न्यासविद्या कहा है। वस्तुतः यही गीता का भी रहस्य है। श्रीवैष्णवीय धर्मों के साहित्य में इस का निक्षेप-तत्त्व के नाम से भी वर्णन किया गया है। प्रपत्ति का वैशिष्ट्य यही है कि इस का एक बार ही आश्रय लेना होता है, अन्यान्य साधनाओं की भाँति पुनः पुनः अभ्यास नहीं करना होता। यद्यपि प्रपत्ति कोई साधन नहीं है, सुतरां कर्मयोग, ज्ञानयोग व भक्तियोग से इस का पार्थक्य स्पष्ट है, तथापि लौकिक दृष्टि से प्रपत्ति में भी एक प्रकार से तीनों योगों का समावेश वर्तमान है। भगवदाज्ञा-पालन या भगवत्कैंकर्य यही प्रपन्न का कर्मयोग है, स्वस्वरूपज्ञान से युक्त रहना ही प्रपन्न का ज्ञानयोग है, युगलस्वरूप के साक्षात्कार के पश्चात् उनके प्रति प्रीतियुक्त रहना ही प्रपन्न का भक्तियोग है। शिष्टाचार के नाम से इन त्रिविध योग का ही प्रपन्नगण एक प्रकार से पालन किया करते हैं। प्रारब्ध का भोग द्वारा समाप्त होने पर भगवान् के चरणों में नित्यसेवा रूप महाफल के लिए प्रतीक्षा करना यही प्रपन्न का ज्ञानगोचर एकमात्र उद्देश्य है।

प्रपत्ति निक्षेप या आत्मसमर्पण का नामान्तर है, यह पहले ही कहा गया है। यह समर्पण फलसमर्पण, भारसमर्पण व स्वरूप-समर्पण भेद से तीन प्रकार का है। जो साधक ऐश्वर्य व कैवल्य का प्रार्थी है, वह यथाक्रम से स्वर्गादि उच्च-पद-लाभ-जनित सुख एवं आत्मदर्शनजनित आनन्द की आकांक्षा करता है किन्तु जो व्यक्ति

भगवच्चरणों में प्रपन्न है वह इन दोनों प्रकार के आनन्दों में से कुछ भी नहीं चाहता। वह जानता है कि वह स्वयं शेष या अङ्ग है, भगवान् शेषी या अङ्गी हैं। अङ्ग अंगी के आश्रित है, एवं अंगी की तृप्ति करना ही अंग के जीवन की सार्थकता है। इसीलिए भगवान् का तृप्ति-साधन ही प्रपन्न जीव का एकमात्र लक्ष्य है, आत्मतृप्ति नहीं। इसलिए प्रपन्न अपनी सुखाकांक्षा को सर्वतो-भाव से छोड़ देता है एवं साथ ही साथ कर्तृत्व, ममत्व एवं स्वार्थ-लिप्सा भी त्याग देता है—यही फलसमर्पण है। भार-समर्पण का अर्थ यह है—आत्मरक्षा का दायित्व मुझ पर नहीं, उसी पर है। वे ही साध्य हैं, वे ही साधन हैं। प्रपन्न जानता है कि वह अपनी चेष्टा से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उस की इच्छा पर उस की रक्षा निर्भर नहीं करती। इस कारण वह आत्मरक्षा का भार भगवच्चरणों में ही समर्पित कर देता है—इस का नाम भार-समर्पण है। स्वरूप-समर्पण और भी उच्चतर व्यापार है। केवल अहङ्कार का त्याग करने से ही स्वरूपसमर्पण नहीं होता। प्रपन्न जब समझ पाता है कि भगवान् ही वस्तुतः आत्मा के स्वामी हैं, यद्यपि व्यवहार-क्षेत्र में कहा जाता है कि जीव की भी तो सत्ता है, तथापि यह सत्य है कि भगवान् की सत्ता ही जीव की सत्ता है। उसकी सत्ता को छोड़ कर जीव की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। जिस को अहं समझा जाता है, वह वस्तुतः भगवान् ही हैं। अतएव इस अहं का भी त्याग करने का नाम स्वरूप-समर्पण है।

आत्मा में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व व भोक्तृत्व ये तीन धर्म हैं, किन्तु जीव क्योंकि परमात्मा का शरीर है, अतः ज्ञान, क्रिया व भोग—इन तीनों को शरीरी या परमात्मा के जीवन में ही सिद्ध करता

करने के लिए भगवान् की ओर से एक व्याजमात्र है। इस मत से प्रपत्ति उपायस्वरूप है।

टेङ्कलई कहते हैं—भगवान् स्वयं जीव को पकड़ कर उठा लेते हैं। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को स्वयं पकड़ कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है। ये मार्जार-शिशु का अनुसरण करते हैं। किन्तु वड्गलई कहते हैं कि जीव भगवान् को पकड़ता है, तब भगवान् उसे उठा ले जाते हैं; जीव को पकड़ना भगवान् का कार्य नहीं है, उस का उद्धार करना भगवान् का कार्य है। भगवान् को पकड़ना जीव का ही कर्तव्य है। जो जीव उन का आश्रय लेते हैं, उन को वे फेंक नहीं देते। बन्दर का बच्चा जैसे अपनी माँ को पकड़ कर रखता है, एवं उस की माँ बच्चे को पीठ पर रखे हुए एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती है, यह भी ठीक वैसा ही है। वड्गलई-गण बन्दर के बच्चे के तरीके का अनुसरण करते हैं। संक्षिप्त रूप से इसे ही दोनों मार्गों का पार्थक्य-निर्देश समझना होगा।

प्राचीन भक्ति-सम्प्रदायों में निम्बार्क-सम्प्रदाय भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस संप्रदाय के भक्तगण भी सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीकृष्ण-रूपी परमपुरुष के उपासक हैं। इनके मत में भक्त साधकों के लिए जिन पाँच पदार्थों का निरन्तर अनुसन्धान आवश्यक है—उन में उपास्यरूपी भगवत्स्वरूप ही प्रधान है। भगवान् श्रीकृष्ण अप्राकृत-चिदानन्दमय-विग्रहविशिष्ट हैं। यह विग्रह व्रजधाम व अन्यान्य नित्य भूमियों पर भक्तों को दिखाई देता है। विग्रह एक होने पर भी धामभेद से उस के प्रकाशगत भेद दिखाई देते हैं

व्रज में जो नित्य द्विभुज व गोपवेश हैं, द्वारिका में वही चतुर्भुज एवं सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सौहार्द, कारुणिकत्व, भक्तवात्सल्य आदि गुणों का आधार हैं। ये सब शास्त्र और साहित्य में 'परब्रह्म' '[illegible]' आदि नामों से कहे जाते हैं। पञ्चपदार्थों में द्वितीय पदार्थ जीव है, जिसे भगवान् का नित्य उपासक कहा जाता है। नित्य विज्ञान व आनन्द ही जीव का स्वरूप है। जीव स्वरूपतः अणु एवं नित्य है, उस के नित्य ज्ञान आदि गुण स्वभाव-सिद्ध हैं। जीव भगवान् का नित्य किङ्कर या दास है, एवं स्थूल व सूक्ष्म दोनों देहों से विलक्षण है। पाँच पदार्थों में तृतीय पदार्थ का नाम है कृपाफल। भगवत्प्राप्ति-लाभ ही कृपा का फल है। इस प्राप्ति के छः अङ्ग हैं, वहीं श्रीवैष्णवों की भाँति ही ये भी मानते हैं। प्राप्ति के लिए भगवान् के दास्य के सिवा अन्य सभी कर्म परित्याज्य हैं। दास्य का अवलम्बन करते हुए आत्मनिवेदन ही प्राप्ति का यथार्थ स्वरूप है। चतुर्थ पदार्थ भक्तिरस है। वे कहते हैं कि श्रवणादि साधनभक्ति का पुनः पुनः अनुशीलन करने पर वह क्रमशः हृदय में रतिरूप धारण करती है। यह रति परमावस्था में विभिन्न प्रकार के रसों में परिणत होती है। यह उपासक के भावनागत वैचित्र्य-वशात् शान्त दास्य आदि भावों के आकार में आकारित हो कर विभावादि कारण-कलाप के प्रभाव से रस-रूप में परिणत होती है। यह रस ही भक्तिरस है। शान्त भक्तिरस के दृष्टान्त वामदेव हैं, दास्य के दृष्टान्त रक्तक, पत्रक, उद्धव इत्यादि हैं, सख्य के दृष्टान्त श्रीदाम, सुदाम, अर्जुन इत्यादि हैं, वात्सल्य के नन्द-यशोमती, वसुदेव-देवकी व तदनुसार भावविशिष्ट भक्तगण हैं। माधुर्य के दृष्टान्त राधा, रुक्मिणी आदि हैं।

पदार्थ-पञ्चक के अन्तर्गत पञ्चम पदार्थ कृष्ण-प्राप्ति का विरोधी है। भक्तों ने विरोधी वर्ग की एक नामावली बनाई है, उसमें देखने में आता है कि साधुनिन्दा आदि दस नामापराध एवं ३२ सेवापराध आदि दोषों को भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक माना गया है।

भक्त कहते हैं कि जीव अनादि काल से भगवद्विमुख होने के कारण स्थूल व सूक्ष्मदेह रूप में परिणत अनादि माया द्वारा आच्छन्न है। सत्प्रसंग एवं तज्जन्य भगवत्प्रसंग से जीव के हृदय में भक्ति का उदय होता है। भक्ति का फल मोक्ष है, यह भक्ति-सिद्धान्त का चरम सत्य है। वैष्णवी माया के प्रभाव से जीव देहयुक्त होता है। यह प्राकृतिक देहयुक्त अवस्था ही जीव का संसार है। पहले जिस भगवद्विमुखता की बात कही गयी, वह अज्ञानात्मक है।

सद्योमुक्ति व क्रममुक्ति के भेद से मुक्ति दो प्रकार की है। जो भक्त श्रवणादि भक्ति के प्रभाव से बन्धन से मुक्त होते हैं वे अविलम्ब भगवत्पद प्राप्त करते हैं। यही सद्योमुक्ति है। दूसरी ओर जो भगवदर्चनारूप निष्काम कर्म द्वारा क्रमशः स्वर्गादि ऊर्ध्व लोकों का सुख भोगते हुए सत्यलोक में स्थिति पाते हैं एवं मुक्ति का अधिकार प्राप्त करते हैं, ये क्रममुक्त हैं। क्योंकि ये प्रलयकाल में सत्यलोक के अधिष्ठाता ब्रह्मा के साथ मुक्ति पाते हैं। उपनिषद्-सिद्धान्त तो ऐसा ही है, किन्तु भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कहा गया है कि जो कर्म द्वारा विशुद्ध होते हैं एवं योग-युक्त भक्ति द्वारा जिनका लिंगशरीर दग्ध होता है, वे भी सद्योमुक्ति पाते हैं अर्थात् अविलम्ब भगवत्स्वरूप में प्रवेश करते

प्रचलित सहज सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक कहा जा सकता है। कहा जाता है कि इन्हीं के चार शिष्य सहज धर्म की चार शाखाओं के प्रवर्त्तक हैं। इन चारों के नाम हैं—(१) नृसिंहानन्द (२) राधारमण (३) गोकुलबाउल एवं (४) मथुरानाथ। सिद्ध मुकुन्ददेव राजकुमार थे ऐसी प्रसिद्धि है। वैराग्य-बल से उन्होंने कृष्णदास का आश्रय लिया था। कविराज गोस्वामी ने अपना चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ इनके द्वारा ही लिखवाया था। वे बोलते जाते थे एवं ये लिखते थे ऐसी प्रसिद्धि है। सिद्ध मुकुन्ददेव के शिष्य थे मुकुन्दरामदास जो 'भृंगरत्नावली', 'आद्यसरस्वती-कारिका' आदि ग्रन्थ लिखने से प्रसिद्ध हुए। मुकुन्ददेव के अन्य शिष्य सुन्दरानन्द भी सम्प्रदाय के इतिहास में प्रसिद्ध स्थान रखते है। इनके अनेक ग्रन्थ हैं, जिनका सन्धान शिक्षित समाज ने अभी नहीं पाया है।

इनके मत में परमार्थ तत्त्व का नाम सहज अथवा सहज मनुष्य है। स्वतःसिद्ध मनुष्य या नित्य मनुष्य के नाम से भी इस परम वस्तु का निर्देश किया जाता है। कहना न होगा—यह परम वस्तु ज्योतिः मात्र नहीं है। यह अप्राकृत नराकार है। यह अद्वैत परम तत्त्व नित्य-युगल-स्वरूप में विराजमान है अर्थात् वे (नित्य) कृष्ण व राधा यह दो युगलभाव ग्रहण करके अव-स्थित हैं। बाह्य दृष्टि से प्रतीत होता है कि कृष्ण पुरुष हैं, एवं राधा प्रकृति हैं, किन्तु भीतर से देखने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि लीला-रस का आस्वादन करने के लिए बाह्यतः दो देह ग्रहण किए गए हैं, तथापि वास्तव में दोनों नित्य मिलित हैं, यहाँ तक कि एक ही आत्मा के स्वरूप हैं। अर्थात् दो तनु एवं एक

धारणा है। कृष्ण व राधिका नित्य किशोर व किशोरी के रूप में नित्य धाम में रत्नसिंहासन पर विराजमान हैं। यह नित्य-धाम नित्य वृन्दावन, गुप्त चन्द्रपुर, सहजपुर, सदानन्दधाम आदि नामों से सहजिया-साहित्य में वर्णित होता है। श्री कृष्ण कामस्वरूप हैं, वे कन्दर्प हैं एवं राधा मदन-स्वरूप हैं। दोनों में अच्छेद्य सम्बन्ध है। क्योंकि एक के न रहने से दूसरा नहीं रह सकता। यह नित्य वृन्दा-वन विरजा नदी के पार अवस्थित है। विरजा सूर्य की मानसी कन्या यमुना का ही दूसरा नाम है।

सहजिया लोग वैधी भक्ति की साधना नहीं करते; वे रागानुग मार्ग का समर्थन करते हैं। उन का सिद्धान्त यह है कि रागमयी भक्ति के बिना अर्थात् जिस भक्ति में गाढ़ तृष्णा एवं आवेशभाव विद्यमान है, वैसे भक्तिमार्ग में भजन न कर पाने से व्रजभाव का उदय नहीं होता एवं राधा-कृष्ण युगल स्वरूप या परम वस्तु की उपलब्धि भी नहीं होती।

पहले ही कहा गया है कि परमवस्तु ज्योति नहीं है, देवता नहीं है, ईश्वर नहीं है बल्कि मनुष्य है। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि ब्रह्मतत्त्व या ईश्वरतत्त्व के दुर्गम होने पर भी इन की धारणा की जा सकती है, किन्तु मनुष्य का तत्त्व समझना अत्यन्त कठिन है। इसी कारण उन लोगों का कहना है कि मनुष्य का तत्त्व अत्यन्त अद्भुत है; उसे कौन कह सकता है और कौन जान सकता है? एक दृष्टि से देखें तो योनि-सम्भव, अयोनि-सम्भव एवं स्वतःसिद्ध इन तीन प्रकार के मनुष्यों का सन्धान मिलता है। इन में से स्वतःसिद्ध मनुष्य नित्यवृन्दावन में विराजमान हैं। अयोनि-

सम्भव मनुष्य गोलोक में वास करते हैं, एवं योनिसम्भव मनुष्य सर्वत्र वर्तमान हैं। यह वर्तमान मनुष्य ही 'सहज मनुष्य' है, जिसमें गूढ़ रूप की अर्थात् अवर्तमान रूप की स्थिति है। वर्तमान मनुष्य ही भावना का विषयीभूत है।

"जेरूप नेत्रे देखे सेरूप हृदये थाके,
वर्तमान हृदये रय दुइ जे बोझ किया हय ॥"

(अर्थात् जिस रूप को नेत्रों से देखा जाता है, वही रूप हृदय में रहता है। दोनों रूप वर्तमान हृदय में रहते हैं, इसलिए बोझ किस प्रकार हो सकता है?)

चण्डीदास ने अपनी पदावली में मनुष्य का अन्य प्रकार से तीन भागों में विभाजन किया है। उन के मत से सहज मनुष्य, अयोनिज मनुष्य एवं सामान्य मनुष्य—ऐसा मनुष्यों का विभाग है। सहज मनुष्य गोलोक के भी ऊपर दिव्य वृन्दावन में अवस्थित हैं। अयोनिज मनुष्य गोलोक में अवस्थित हैं। ये सर्वदा नित्य स्थान में रहते हैं। इन्हीं का प्रकाश वैकुण्ठ के अधिष्ठाता लीलामय नारायण हैं। सामान्य मनुष्य संस्कार मात्र हैं। इन का धाम क्षीरोद-सागर में है। ये ब्रह्माण्ड में जीवन व मरण में यातायात कर रहे हैं। वास्तव में सहज मनुष्य कहीं भी नहीं है। वह अयोनिज भी नहीं है एवं सामान्य भी नहीं है। कहा गया है कि उस का स्थान नित्य वृन्दावन है। किन्तु दिव्य वृन्दावन कहाँ पर है? वह सृष्टि के अन्तर्गत नहीं है। इस की सृष्टि होती है राग से या रागानुग भजन से। शव अर्थात् मृत शरीर जैसा न हो पाने पर प्रेमवायु नहीं लगता एवं सहज मनुष्य का आविर्भाव भी नहीं

वन अथवा व्रजपुर में नित्य विहार करते हैं। वे किशोरवयस्क हैं। चराचर की सृष्टि ज्योतिर्ब्रह्म से होती है-- पूर्णब्रह्म से नहीं। ज्योतिर्ब्रह्म पूर्णब्रह्म की ही अंगच्छटा है, यह पहले ही कहा गया है।

सहजिया लोग कहते हैं कि वैष्णव साधना दो प्रकार की है। उनमें से एक साधना वैदिक सम्प्रदाय के अनुगत है, यही साम्प्रदायिक साधना है। द्वितीय साधन-प्रणाली तान्त्रिक साधना के अन्तर्गत है। उन वैष्णवों को साम्प्रदायिक वैष्णवों से पृथक् कर के सामान्य नाम दिया जाता है। रसतत्त्व की साधना वेद में स्पष्टरूप से निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु तन्त्र में है। इस रससाधना का ही नामान्तर सहज साधना है। यह अत्यन्त गुह्य विषय है। यह साधारण लोगों के लिए उपयोगी नहीं। क्योंकि सहजियों द्वारा समर्थित रससाधना में इन्द्रिय-जय पूरी तरह सिद्ध न होने तक अधिकार नहीं मिलता। यह साधना रामानुज, निम्बार्क आदि साम्प्रदायिक वैष्णवों में प्रचलित नहीं है, है भी तो गुप्त रूप से है।

रस-साधना या सहजसाधना में प्रवृत्त होना हो तो प्रकृति का साहाय्य आवश्यक है। किसी भी प्रकार की प्रकृति में रस-साधना नहीं होती। असामान्य समर्था प्रकृति आवश्यक होती है। जो जितेन्द्रिय नहीं हैं एवं रससाधना के उपयोगी आधार प्राप्त करने में समर्थ नहीं हुए हैं एवं जो शास्त्रोक्त लक्षणानुसार प्रकृति का साहाय्य नहीं पा सके हैं, उनके लिए रससाधना में प्रवृत्त होना सर्वथा अनुचित है। "उज्ज्वल नीलमणि" में प्रदर्शित श्रेणीविभाग मान कर ये लोग भी कहते हैं कि नायिका-रति समर्था, समञ्जसा एवं साधारणी भेद से तीन प्रकार की है। कुब्जा आदि की साधारणी

रति में श्रीकृष्णदर्शन-जन्य निज-सुखाकांक्षा ही प्रधान है। रुक्मिणी आदि की समञ्जसा रति में धर्म का प्राधान्य रहने पर भी अपना सुख वर्तमान है। किन्तु राधा प्रभृति गोपी-जन की समर्था रति में केवल श्रीकृष्ण का सुख ही लक्ष्य है, अपना सुख नहीं। समर्था रति में जो व्रज में स्थित होती है, नित्य वृन्दावन में वास होता है। रससाधना के लिए यही सर्वथा अनुकूल है। साधारण तान्त्रिक साधना में जैसे पशुभाव दूर न कर पाने से वीरभाव का उदय नहीं होता, रस-साधना में भी ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा न होने पर भावराज्य में प्रवेश का अधिकार नहीं होता। साम्प्रदायिक वैष्णवों ने रससाधना की चर्चा न करके अच्छा ही किया है। क्योंकि यह साधना व्यापक रूप से प्रचारित होने का विषय नहीं है। इसके साधक व उपदेष्टा बहुत ही दुर्लभ हैं।

रस-साधना में पाँच आश्रय व तीन अवस्था हैं। प्रथम अवस्था प्रवर्तक है। यह दास की अवस्था है। इस अवस्था में नाम व मन्त्र, ये दो आश्रय हैं। द्वितीय अवस्था साधक व मञ्जरी की अवस्था है। इस अवस्था का आश्रय भाव है। तृतीय अवस्था सिद्ध या सखी की है। इसके दो आश्रय हैं—एक प्रेम, दूसरा रस। इन्द्रिय-संयम, शौच, तीर्थ में वास आदि प्रवर्तक अवस्था के लक्षण हैं। श्रीगुरुचरणों का आश्रय करके इस अवस्था में मन्त्र-प्राप्ति के लिए व्याकुलभाव से प्रतीक्षा करनी होती है। मन्त्र-प्राप्ति के पहले तक नाम का अवलम्बन करके नाम व नामी को अभिन्न समझते हुए अपराध-शून्य होकर नाम-ग्रहण होता है। इसके पश्चात् कलुषनाश, देहशुद्धि व सात्त्विक विकार का उदय होता

है। गुरु या ईश्वर के प्रसन्न होने पर मन्त्र-प्राप्ति होती है। नाम में रुचि न होने पर मन्त्र-लाभ नहीं होता। मन्त्रसिद्ध न होने तक प्रवर्त्तक अवस्था ही चलती रहती है। यही दासभाव है। मन्त्र-सिद्धि के पश्चात् साधकभाव आरम्भ होता है। साधक के लिए भाव ही आश्रय है। इसका आश्रय-ग्रहण करने के पहले वैराग्य का अवलम्बन करके कामजय करना आवश्यक है। जब तक वैराग्य रहे तब तक प्रकृति-दर्शन या प्रकृति का संग सर्वथा निषिद्ध है। साधक अवस्था में प्रकृति या नारी आवश्यक होती है। क्योंकि प्रकृति के बिना पुरुष अकेले साधन नहीं कर सकता। किन्तु उससे पहले काम को वशीभूत कर लेना नितान्त आवश्यक है। प्रवर्त्तक हुए बिना साधक होने की चेष्टा करने से सिद्धि-लाभ असम्भव है एवं पतन अवश्यम्भावी है। रति को स्थिर करना, अविचलित व अकम्प रखना, यही साधना का उद्देश्य है। यह प्रकृति की सहकारिता से कुलाचार द्वारा सम्पन्न होता है। किन्तु जब तक कामदमन नहीं होता, तब तक प्रकृति-संग तो दूर की बात है, प्रकृति का दर्शन व प्रकृति-चिन्ता भी अवश्यम्भावी नरक का द्वार है। मन्त्रसिद्धि होने के साथ-साथ माया व भ्रम की निवृत्ति होती है, इसके पश्चात् साधना द्वारा रति स्थायी होती है। इसके पश्चात् सिद्धदेह की प्राप्ति होती है। रति बिन्दु का ही नामान्तर है। सुतरां समझना होगा कि बिन्दु को अटल न रख पाने से सहज साधना में सिद्धि-लाभ नहीं हो सकता।

रस-साधना का मुख्य उद्देश्य रसिक होना है। यह रसिकत्व कितनी ऊँची अवस्था है, इसे साधारण लोग नहीं समझ सकते। यह अवस्था जीवभाव व ईश्वरभाव दोनों के अतीत है। बिन्

नहीं आता। ठीक उसी प्रकार चतुर्दल से बिन्दु का क्षरण होने पर वह किसी भी प्रकार सहस्रार में नहीं जा सकता। सिद्ध के आश्रय प्रेम व रस अर्थात् श्रीराधा के चरणयुगल हैं। सहज-मत में सिद्ध का राग अनुराग है, एवं निवृत्त होने पर वह प्रेम-राग है।

पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी व हस्तिनी इन चार प्रकार की नायिकाओं में से रससाधना के लिए पद्मिनी नायिका श्रेष्ठ है। पद्मिनी का दृष्टान्त श्रीराधा हैं। चित्रिणी, रुक्मिणी, शङ्खिनी, का दृष्टान्त चन्द्रावली आदि एवं हस्तिनी का दृष्टान्त कुब्जा है। नायिकाओं के अनुरूप नायकों के भी भेद हैं। किन्तु उसका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं प्रतीत होता। केवल इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि नायक व नायिका का समान-गण होना आवश्यक है। क्योंकि समान-गण में मिलन न होने से प्रेम जागरित नहीं होता। भिन्न-गण होने से व्यभिचार होता है एवं नाना प्रकार के दुःख का उदय होता है। ठीक-ठीक गुण-सम्पन्न नायिका दुर्लभ होने से ही रागमार्ग की साधना साधारण के लिए विहित नहीं है। सिद्धिलाभ विधिमार्ग में ही होता है, जो तन्त्रमत में पशुभाव के अन्तर्गत है। वर्तमान युग में वीरभाव व देवभाव अत्यन्त दुर्लभ है।

रागसाधना में नायिका का विचार अपरिहार्य है। साधारणी नायिका के साथ साधना नहीं चलती। क्योंकि साधारणी व्यभिचारिणी है। उसके लिए मल्लाह बनकर उद्धार करना सम्भव नहीं है। उसका संस्पर्श तक रति का नाशक है। क्योंकि

पर रागरति का आविर्भाव नहीं हो सकता एवं प्रेम-साधना भी नहीं चल सकती। प्रवर्त्तक अवस्था में गुरु व शास्त्रवाक्य का अनुसरण करते हुए कर्मानुष्ठान का विधान था। किन्तु साधक अवस्था में किसी विधान की आवश्यकता नहीं। 'अमृतरत्नावली' में लिखा है—

"साधि तत्त्वदेहे हइ साधक प्रकृति।
स्वभाव-प्रकृति हले तबे रागरति॥
प्रकृति पुरुष हय देहान्तर हले।
रसाश्रय प्रेमाश्रय साधन करिले॥"

(अर्थात्—साधक प्रकृति होकर तत्त्वदेह में साधन करके जब स्वभाव-प्रकृति को प्राप्त हो जाता है, तब रागरति होती है। देहान्तर होने पर प्रकृति ही पुरुष हो जाती है। 'रसाश्रय' और 'प्रेमाश्रय' का साधन करने पर ही यह होता है।)

इससे जान पड़ता है कि पहले प्रकृतिभाव में साधन करना होता है, उसके पश्चात् सिद्धावस्था में रसाश्रय व प्रेमाश्रय साधन करने पर पुरुषभाव की अभिव्यक्ति होती है।

पहले चार सरोवरों की बात कही गयी है। उनमें से अक्षय-सरोवर मस्तक में अवस्थित है, जिसके मध्य में सहस्रदल कमल शोभायमान है। उदर में मानसरोवर है। मानसरोवर के ऊपर ही क्षीरोद-सरोवर है। मानसरोवर से कमल ऊर्ध्वमुख होकर सहस्रदल की ओर उठता है। उसके भीतर मूलवस्तु सर्वदा निहित रहती है। अक्षय-सरोवर का रसाल जल इसमें से बहकर मानसरोवर में उपस्थित होता है। पद्म के मृणाल का आश्रय लेकर ऊर्ध्व-गति

स्वरूप प्रेम भी नित्य है। भक्ति जब तक साधन कोटि में रहती है, तब तक वह अनित्य ही मानी जाती है। यह साधन विधि-मार्ग का हो या रागमार्ग का हो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार साधन-भक्ति-सम्पन्न भक्त कभी भी नित्यधाम में भक्तरूप से प्रवेश का अधिकार नहीं पा सकता। नित्यधाम में साधक व सिद्ध दोनों प्रकार के भक्तों के लिए ही स्थान निर्दिष्ट है। किन्तु ये साधक भक्त पूर्ववर्णित साधन भक्ति का अनुशीलन करने वाले साधक भक्तों से भिन्न हैं। क्योंकि कर्तृत्वाभिमान-विशिष्ट जीव का साधन एवं अभिमानशून्य मुक्तपुरुष का साधन एक प्रकार का हो ही नहीं सकता। मुक्तपुरुष से अतिरिक्त कोई नित्यधाम में प्रवेश ही नहीं कर सकता, यह कहना न होगा। अभिमान का त्याग न होने तक जो भक्ति-साधना की जाती है वह कृत्रिम साधना है। वह अनित्य जगत् में ही सम्भव है। क्योंकि उसके मूल में मिथ्याज्ञान का ही खेल वर्तमान है। किन्तु भावभक्ति की साधना अकृत्रिम साधना है—उसमें अभिमान का स्पर्श नहीं रहता। वह जिस अवस्था में अनुष्ठित होती है, उस अवस्था में जीव अभिमानहीन द्रष्टा पुरुष-रूप में अवस्थित रहता है, एवं स्वभाव के खेल के रूप में भावभक्ति का क्रमविकास चलता रहता है। इस अवस्था में वास्तविक अभिमान न रहने पर भी भक्ति के आस्वादन के लिए एक आरोपित अभिमान रह भी सकता है। इससे भाव की अकृत्रिमता की क्षति नहीं होती। इस प्रकार भावभक्ति के साधक नित्यधाम के बहिरङ्ग प्रदेश में विराजते हैं। ये सभी साधक हैं—सभी अपने-अपने भाव के अनुसार साधन-पथ में अग्रसर हो रहे हैं। इनमें उत्कर्ष-अपकर्ष

नहीं। इस शब्दब्रह्म को आश्रय बनाकर ही परब्रह्म रूपी भगवान् का साक्षात्कार सम्पन्न होता है। श्रीवृन्दावन में यह शब्द सुमधुर वंशीध्वनि के रूप में सुना जाता है। अन्यान्य भगवद्धामों में धामानुरूप पृथक्-पृथक् शब्द हैं, यह जानना चाहिए।

सुतरां श्रीवृन्दावन में भाव व भक्ति के अधिकारी जो बहिरङ्ग भक्त वास करते हैं, वे सभी वंशीध्वनि सुन पाते हैं।

साधनभक्ति से भावभक्ति निष्पन्न होती है, यह बात पहले ही कही गयी है। किन्तु यह भक्ति की उत्पत्ति नहीं है, अभि-व्यक्ति मात्र है। क्योंकि भावभक्ति नित्य वस्तु होने से उत्पन्न नहीं हो सकती। साधना द्वारा नित्यसिद्ध भक्ति का आवरण अपसारित होने पर भगवान् की कृपा से भाव का उदय होता है। वस्तुतः साधना में ऐसी कोई सामर्थ्य है या नहीं, जिसके प्रभाव से भाव का आवरण अपसारित हो सकता हो—यह सन्देह का विषय है। कोई-कोई इसे स्वीकार करते भी हैं पर सभी इसे युक्तियुक्त नहीं समझते। हाँ, यह सत्य है कि साधन करते-करते अहङ्कार-ग्रन्थि शिथिल हो जाती है; अपनी दुर्बलता एवं असामर्थ्य का क्रमशः अनुभव होता है। तब दैन्य का उदय होने पर भगवत्कृपा क्रिया-शील हो कर भाव का आवरण हटा कर भाव को विकसित कर देती है। किन्तु किसी-किसी स्थल में साधना की अपेक्षा न करके भी साक्षात् रूप से ही भगवत्-कृपा भाव का विकास कर देती है। इन स्थानों में वर्तमान साधना न रहने पर भी कहीं-कहीं पूर्वजन्मार्जित साधन-सम्पत्ति रह सकती है। किन्तु कहीं-कहीं पूर्वकालीन साधना का अभाव होने पर भी स्वातन्त्र्यमयी सर्वसमर्था

में परिणत होती है। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण-विषयिणी रति ही भक्तिरस का स्थायीभाव है। भक्तिरस मुख्य व गौण भेद से बारह प्रकार का एवं गौण भक्तिरस सात प्रकार का है। विशेष विवरण अनावश्यक है। विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव ये ही भाव को रस में परिणत करते हैं। विभाव आलम्बन एवं उद्दीपन भेद से दो प्रकार का है। आलम्बन भी आश्रय व विषय भेद से दो प्रकार का है। भगवद्रति का जो आश्रय है, उसका नाम भक्त है, एवं जो विषय है, वह भगवत्स्वरूप है। अर्थात् अन्यान्य वृत्तियों की भाँति भक्ति का एक subject है, वही भक्त है, एवं एक object है, वही भगवान् है। भगवत्तत्त्व का यहाँ श्रीकृष्ण से अभिन्न रूप से ग्रहण किया गया है अतः श्रीकृष्ण ही भगवद्भक्ति के विषय हैं। भक्ति के आश्रय व विषय दोनों साकार हैं, यह स्मरण रखना होगा। किन्तु यह आकार प्राकृत नहीं, अप्राकृत है। श्रीकृष्ण का जो नित्य अर्थात् स्वयंसिद्ध रूप है, वही उनका स्वरूप है; उससे अतिरिक्त उनके सभी रूप अन्य रूप के अन्तर्गत हैं। यह स्वरूप भी सर्वदा प्रकट रहता हो ऐसा नहीं, कभी-कभी यह आवृत भी रहता है। सुतरां समझना होगा कि प्रकट स्वरूप, आवृत स्वरूप, एवं अन्य रूप सभी भगवद्भक्ति के विषयभूत हैं। भक्ति के आश्रय भक्त, साधक एवं सिद्ध भेद से दो प्रकार के हैं। साधक भक्त वस्तुतः भावभक्ति का ही आश्रय है—साधनभक्ति का नहीं, क्योंकि साधनभक्ति के भावभक्ति रूप से परिणत न होने तक अप्राकृत भावदेह की अभिव्यक्ति नहीं होती। सुतरां प्राकृत देह सम्पन्न लौकिक साधक भक्तिरस की बीजरूपा कृष्णरति के आश्रय नहीं हो सकते। स्मरण रखना होगा कि रति ही भाव है—साधन

अनन्तब्रह्माण्डों में श्रीकृष्ण के इन साठ गुणों के अतिरिक्त भी असाधारण चार गुण परिलक्षित होते हैं। श्रीकृष्ण के माधुर्यमय होने से (१) वेणुनाद का माधुर्य, (२) रूप का माधुर्य, (३) प्रेम द्वारा प्रिय भक्त का आकर्षण एवं (४) अद्भुत लीला—इन चार गुणों की तुलना अन्यत्र नहीं है। उनकी वंशीध्वनि ऐसी मधुर है कि त्रिभुवन में जिस किसी प्राणी के कर्णकुहर में यह ध्वनि के प्रविष्ट होने पर उसका मन तत्क्षण आकृष्ट होकर भगवान् के चरणों में धावमान होता है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य व लावण्य को अपरिसीम कहने से भी अत्युक्ति नहीं होती। उनके समान रूप जगत् में या जगत् के बाहर कहीं भी नहीं है, अधिक रूप होना तो दूर की बात है। स्थावर व जङ्गम सम्पूर्ण जगत् उनका रूप दर्शन करके स्तम्भित हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रेम अथवा प्रीति—श्रीकृष्ण की भाँति अन्यत्र इतनी नहीं दिखाई देती। वे जिस प्रकार भक्त का प्रेम ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार भक्त को प्रेम देते भी हैं। उनके अहैतुक प्रेम के वशीभूत होकर अनन्त भक्त अनादि काल से उनको घेर कर वर्तमान हैं। इतने प्रियजनों का सम्मिलन भगवान् के अन्य किसी स्वरूप में नहीं दिखाई देता। यह सब है, इसीलिए उनकी लीला भी इतनी मधुर है। श्रीकृष्णलीला ही भगवद्-लीला का अनन्त माधुर्यमय प्रकाश है। इस प्रकार समझा जा सकता है कि श्रीकृष्ण अनन्त गुणों का निधि होने पर भी मुख्य रूप से चौंसठ गुणों के आधार हैं। भक्तगण जब उनका भजन करते हैं, तब ये चौंसठ गुण विशेष रूप से प्रकाशित होते हैं।

उपसंहार

श्रीकृष्ण-प्रसङ्ग की वर्तमान आलोचना यहाँ समाप्त हुई, वस्तुतः यहाँ स्वाभाविक परिणति-क्रम में समाप्ति न होने पर भी, यहाँ ही उसका उपसंहार किया जा रहा है। आलोचना का आरम्भ जैसा आकस्मिक है, अवसान भी प्रायः वैसा ही है। श्रीकृष्णतत्त्व की जिस भी प्रकार से आलोचना क्यों न हो, उसका स्वाभाविक पर्यवसान है रासलीला के गूढ़ माधुर्य के आस्वादन में। इच्छा थी कि एकबार योगमाया के अन्तराल में स्थित चरम व परम भगवती लीला के आभास की धारणा के लिए यत्न करेंगे, किन्तु आपाततः वह हुआ नहीं। हाँ, इतना विश्वास है कि जो इस आलोचना का धारावाहिक रूप से मनन करने का यत्न करेंगे, भगवदनुग्रह से वे महारास का क्षीण आभास दूर से ही पा सकने में अवश्य समर्थ होंगे।

विशिष्टशब्दानुक्रमणी

अ

आ

द